॥ श्रीहरिः ॥

अहमर्थ और परमार्थसार

श्री स्वामी हरिहरानन्द सरस्वती (करपात्री जी)

॥ श्रीहरिः ॥

अहमर्थ और परमार्थसार

स्मर्तव्यः सततं विष्णुर्विस्मर्तव्यो न जातुचित्

श्री स्वामी हरिहरानन्द सरस्वती (करपात्री जी)

प्रकाशक
ठा० राधामोहन सिंह
स्वर्गाश्रम धाम
तिलकराय का हाता
पो०—बड़का राजपुर
जि०—आरा

प्रथम संस्करण, २०१६ वि०
मूल्य—६)

मुद्रक
शंभुनाथ वाजपेयी
राष्ट्रभाषा मुद्रण
नागरीप्रचारिणी सभा, काशी

प्रकाशकीय वक्तव्य

जन्मान्तरीय प्रशस्त कर्मानुष्ठान का प्रतिफल भगवत्चरणारविन्द का चिन्तन उनकी असम्भावित एवं आकस्मिक कृपा है।

जीवन का प्रतिक्षण नाटक के पात्रों की तरह अपना रङ्ग बदलकर, रङ्गमंच पर नाट्यकला का प्रदर्शन करता है। जीवन के पूर्वकाल में मैं अपने कर्तव्य से धूमिल दिशा की ओर जा रहा था। अकस्मात् भगवत्कृपा ने मेरी दिशा बदल दी। पश्चिम से पूर्व की ओर मुड़ा, संसार असार और परमार्थ ही सार प्रतीत होने लगा, इस दिशा में क्रमशः मेरी श्रद्धा बढ़ने लगी और अप्रत्याशित साधन उपलब्ध होने लगे।

इन्हीं दिनों परम विरक्त तत्त्वदर्शी महात्मा पूज्यपाद श्री १०८ श्री ईश्वरानन्द तीर्थ जी महाराज का दुर्लभ दर्शन हुआ। बहुत कुछ आर्तभाव से प्रार्थना करने के बाद उन्होंने मुझे दीक्षा दी। उनके उपदेश और सम्पर्क ने मुझे 'तमसो मा ज्योतिर्गमय, असतो मा सद्गमय, मृत्योर्माऽमृतं गमय' की ओर प्रेरित किया। मेरा भाग्य सूर्य चमका और परम मङ्गलमय पवित्र कार्य में उनके द्वारा मुझे बड़ी सहायता मिली। मैं सतत इस ओर लगन के साथ बढ़ने लगा। महात्माओं एवं विद्वानों की सत्संगति में उत्तरोत्तर मेरा मन लगने लगा।

संयोगवश पूज्यपाद श्री १०८ श्री करपात्री जी महाराज का सान्निध्य प्राप्त हुआ। उनके परम पवित्र जाज्वल्यमान व्यक्तित्व से मैं अत्यन्त प्रभावित हुआ, उनमें मेरी उत्कट श्रद्धा हो गयी। भाग्यवश एक दिन बाल ब्रह्मचारी स्वामी श्री राजराजेश्वरानन्द जी तीर्थ के साथ मैं स्वामीजी के दर्शनार्थ गया। वहाँ स्वामी जी के प्रवचन के अवसर पर "अहमर्थ और परमार्थसार" ग्रंथ की चर्चा चल पड़ी। मेरे मन में अभिलाषा हुई कि इस ग्रंथ के प्रकाशन में मैं भी कुछ सहयोगकर कृतार्थ होऊँ, पर संकोचवश कुछ कह न सका। प्रसङ्गतः पुनः एक दिन स्वामी जी महाराज के मुख से निकल पड़ा कि ग्रंथ प्रायः समाप्त हो चला है, अब प्रकाशनार्थ अर्थ की व्यवस्था हो जाय तो अच्छा हो। मैंने सोचा कि अच्छा अवसर है, मैं अपनी अभिलाषा की पूर्ति कर लूँ। मैंने स्वामी जी महाराज से निवेदन किया कि मैं इस पुण्य कार्य में सहयोग करना चाहता हूँ, जब श्री स्वामी जी की स्वीकृति मिल गयी, मैंने अपने को कृतार्थ समझा।

यद्यपि संस्कृत भाषा में दर्शन के अनेक ग्रंथ ऋषियों तथा प्राचीन मनीषियों के द्वारा लिखे गये हैं, परन्तु वे विषय इतने दुरवगाह हैं कि केवल हिंदी के विद्वान् उन्हें कथमपि अवगत नहीं कर सकते, तथा उन ग्रंथों से हिन्दी-जगत् के लोग किञ्चित् भी लाभान्वित नहीं हो सकते। इस कमी की पूर्ति के निमित्त ही पूज्यपाद श्री १०८ श्री करपात्री जी महाराज ने "अहमर्थ और परमार्थसार" नामक ग्रंथ लिखकर अध्यात्म विद्याभिलाषियों का महान् उपकार किया है।

यह भौतिक युग है, संसार भौतिकता की तरफ बड़ी तेजी के साथ बढ़ रहा है। विभिन्न देशों में परस्पर एक दूसरे से आगे बढ़ने के लिए सतत प्रयत्न हो रहे हैं, यही उन्नति की पराकाष्ठा समझी जा रही है, परन्तु अन्त में परिणाम क्या होगा, यह निश्चय करना यद्यपि कठिन है, फिर भी इस प्रश्न का उत्तर इतिहास स्पष्ट बतला रहा है। जब जब भौतिकता की तरफ संसार बढ़ा है, विनाश ही हुआ है। संसार के विवेकशील मनीषी लोग विनाशोन्मुख मानवीय प्रवृत्ति को रोकने के लिये ही अध्यात्म की अत्यन्त आवश्यकता समझकर, अध्यात्म विद्या को सर्वसुलभ बनाने का प्रयत्न कर रहे हैं। इसकी आवश्यकता केवल प्राचीन परम्परा के विद्वान् ही नहीं प्रत्युत नये विचार के लोग भी स्वीकार कर रहे हैं।

देश की सार्वभौम उन्नति केवल भौतिकता के विकास से नहीं हो सकती, साथ साथ अध्यात्म की तरफ भी लोगों की अभिरुचि बढ़ायी जाय तभी वास्तविक लोक कल्याण एवं मंगल हो सकता है। इन्हीं बातों को हृदयङ्गम कर श्री करपात्री जी महाराज ने दुरवगाह दार्शनिक विषयों को हिन्दी में लिखकर सर्वसुलभ बनाने का भगीरथ प्रयत्न किया है। इस प्रकार के ग्रंथों से देश का महान् कल्याण होगा, यह मेरा विश्वास है।

"अहञ्च तं यामि परं परायणम्"।

'स्वर्गाश्रम धाम',
तिलकराय का हाता
बड़का राजपुर, आरा।

ठा० राधामोहन सिंह



आमुख

॥ ॐ तत्सत् परब्रह्मणे नमः ॥

अनन्त श्री विभूषित, श्रीमत परमहंस परिव्राजकाचार्य, वर्य
श्री काशीपीठाधीश्वर शंकराचार्य
स्वामी श्री महेश्वरानंद सरस्वती

सदाशिवसमारम्भां शंकराचार्यमध्यमाम् ।
अस्मदाचार्यपर्यन्तां वन्दे गुरुपरम्पराम् ॥

श्रीमदाचार्यचरण की कृति 'अहमर्थ और परमार्थसार' मुद्रितप्राय है। इसमें वेदान्त, पुराण, संहिता, तर्क, युक्ति आदि के द्वारा 'अहं' पदार्थ का विवेचन प्रकट हुआ है। संधाय भाषा यहां प्रयुक्त है, वाद कथा की दृष्टि अपनायी गयी है। अनेक ग्रन्थों के महत्त्वशाली उद्धरण मनीषियों के मनन योग्य हैं। आश्चर्यकारिणी प्रतिभा का प्रकाश इस ग्रन्थ को आमूलचूल जाज्वल्यमान कर रहा है। भजनानन्दी भावुक भक्तगण इसमें आनन्द की उपलब्धि पैनी दृष्टि से प्राप्त कर सकते हैं। 'बुद्धेः फलमनाग्रहः', 'अज्ञानबोधः साधीयान्' बुद्धि की वास्तविकता का फल आग्रहत्याग है, अपने अज्ञान का समझना बहुत बड़ी योग्यता है।

'मात्रावीव प्रकर्त्तव्यं दोषदृष्टिपरं मनः ।
दोषोह्यविद्यमानोऽपि तच्चित्तानां प्रकाशते' ॥

किसी भी महामहिम विचारगौरव को कलङ्कपङ्क की कालिमा से मलिन करने का संरम्भ अत्यन्त शोचनीय तथा गर्हणीय है, क्योंकि उसमें कलङ्क की अणुमात्र की भी रेखा भले न हो पर अभिनिविष्ट को सर्वत्र मलिनता ही दीखती है।

तथाकथित दार्शनिकों को अन्तस्तल में प्रविष्ट होकर प्रकाशमान रत्नों को चयन करने के लिये प्रस्तुत महनीय रचना की गयी है। यथावद् वस्तु परिज्ञान इसका चरम परम फल है। वस्तुतः आत्मा स्वप्रकाश, अखण्ड, नित्य, सर्वाधिष्ठान, सर्वव्यापक, सर्वद्वैतविवर्जित, सर्वश्रुति, स्मृति, पुराण, आगम-

प्रसिद्ध, चैतन्य, वाणी, मन से अत्यन्त विदूर 'अहं' पद का लक्ष्य है। वाचकता अभिधा मुख्य शक्ति की गति 'व्यक्त्याकृति जातयः' के सिद्धान्त के अनुसार उपाधिग्रस्त पदार्थों तक ही सीमित है। वह वराकी निरुपाधि 'अहं' पद लक्ष्य तत्त्व का स्पर्श कैसे कर सकती है। इसका गूढ़ काष्ठापर्यन्त विचार इस अनुपम ग्रन्थरत्न में किया गया है। वास्तव में यह ग्रन्थ इन रत्नों का रत्नाकर है। इसके द्वारा परमार्थ तत्त्व का श्रवण, मनन और निदिध्यासनपथ प्रशस्त किया गया है। इसको अपनाकर निर्भीक मुमुक्षु साधक 'अहं' पद लक्ष्य तत्त्व की उपलब्धि प्राप्तकर कैवल्य पद की स्थिति में अवस्थित होकर कृतकृत्य हो सकते हैं।

संशयालुओं को सर्वत्र संशय, भय का झंझावात चम्भ्रम्यमाण करता रहता है। वह भी संशयरहित होकर अभ्रान्त निर्भय सुदृढ़ समीचीन कल्याण मार्ग पर आरूढ़ हों और अपने अपेक्षित चरम लक्ष्य की सिद्धि में सार्थक-प्रयत्न हों इस दृष्टि से श्री आचार्यचरण ने इसमें 'परमार्थसार' को प्राञ्जल हिन्दी भाषा व्याख्यान से सुसज्जितकर संग्रथित कर दिया है। 'परमार्थसार' श्रीमहर्षि पतञ्जलि साक्षात् शेष भगवान् का विरचित दार्शनिक ग्रन्थ है। जिनके अवतारों में पूज्यपाद आचार्यप्रवर श्रीश्रीरामानुजाचार्य महाराज की गणना श्लाघनीय है। विद्वान् उस ग्रन्थ को तल्लीन होकर विमर्श करें और सिद्धान्त को सुस्थिर करें। वह ग्रन्थ परम माननीय है। उसका प्रामाण्य वैयाकरण, दार्शनिकशिरोमणि नागेशभट्ट के द्वारा तथा अन्यान्य धुरन्धर विद्वानों के द्वारा उद्घोषित है। नागेशभट्ट ने व्याकरण के महत्त्वपूर्ण 'लघुमञ्जूषा' नामक ग्रन्थ में असकृत् उद्धरणों के द्वारा उसकी मान्यता भेरीनिनाद से प्रकट की है। वह ग्रन्थ अच्युत ग्रन्थमाला काशी में मुद्रित हुआ है। उसकी दो व्याख्या उसमें उट्टङ्कित हैं। एक राघवानन्द यति की, दूसरी न्याय व्याकरणाचार्य, काशिक राजकीय संस्कृत पाठशाला 'संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी' के न्यायशास्त्र प्रधानाध्यापक श्रीसूर्यनारायण शुक्ल की।

पर्यवसान में श्रीमदाचार्यचरणों में श्रद्धाञ्जलि समर्पणकर यह वक्तव्य परिपूर्ण करता हूँ जिनके असीम अनुग्रह से यह अद्भुत ग्रन्थ निर्मित हुआ और अहमर्थ का स्वरूप प्रकट होकर तत्संबन्धी निविड़ अन्धकार निरस्त हुआ। ओं तत्सत्।

विषयसूची

अहमर्थ और परमार्थसार

खंड : १

॥ श्री हरिः ॥

उपोद्घात

'मार्क्सवाद और रामराज्य' पुस्तक में चार्वाक मतप्राय मार्क्स के मत का खण्डन करने के लिये आत्मस्वरूप पर विचार किया गया है। ज्ञान भौतिक है या अभौतिक? इस सम्बन्ध में मार्क्स और उसके अनुयायियों ने बहुत विचार किया है। अतः ज्ञान को अभौतिक सिद्ध करके अद्वैत वेदान्त के अनुसार उसे ही आत्मा सिद्ध करने का प्रयत्न किया गया है। उसी प्रसङ्ग से अहमर्थ के अनात्मत्व का वर्णन आ गया है। वस्तुतः मार्क्स अभिमत आत्मा के निराकरण में तो सभी आस्तिक एकमत हैं। नैयायिक, वैशेषिक, पूर्व मीमांसक, सांख्य, योग, उत्तर मीमांसक, द्वैती, अद्वैती, विशिष्टाद्वैती, द्वैताद्वैती सभी देहात्मवाद के खण्डन में एकमत हैं। यहाँ तक कि बौद्ध, जैन भी देहात्मवाद का निराकरण करते हैं। वेद, पुराणेतिहास, तन्त्र, आगमादि का प्रामाण्य माननेवाले सभी आस्तिक कार्यकारण संघात से भिन्न आत्मा मानते ही हैं। अनेक सम्मान्य ज्ञानी एवं भगवद्भक्त आचार्यों ने ज्ञाता अहमर्थ को ही आत्मा माना है और इस सिद्धान्त के अनुसार भी अपरिगणित महापुरुष स्वाभिमत अभ्युदय निःश्रेयस् के भागी हुए हैं अतः 'मार्क्सवाद और रामराज्य' पुस्तक का आपसी खण्डन-मण्डन में सर्वथा अभिप्राय नहीं है। फिर भी कुछ लोगों ने अहमर्थ के अनात्मत्व सम्बन्ध में शङ्कायें उठायी हैं, उसी के लिये यहाँ पृथक् रूप से आत्मस्वरूप पर कुछ विचार किया जायगा। वस्तुतः अद्वैती भी ज्ञाता अहमर्थ को आत्मा मानते हैं। सम्पूर्ण लौकिक वैदिक व्यवहार उसी से चलता है। हाँ, यह भेद अवश्य है कि अद्वैती सोपाधिक ज्ञाता आत्मा को अहं का वाच्यार्थ मानते हैं एवं शुद्ध, नित्य, निरतिशय ज्ञान के अर्थ को लक्ष्यार्थ मानते हैं किन्तु

अहमर्थ आत्मा उन्हें भी मानना है ही। सोपाधिक ज्ञाता अहं का वाच्यार्थ है और व्यवहार दशा में वही आत्मा है। व्यवहारातीत परमार्थ दशा में उससे भी सूक्ष्म, कूटस्थ, निर्विकार, असङ्ग, अनन्त, चित्स्वरूप आत्मा है यह भी उन्हें मान्य है। ये सभी विचार विभिन्न महापुरुषों परमाचार्यों के हैं। अतः उनको समझने विचारने का प्रयत्न करना बुरा नहीं, परन्तु इसमें आपसी रागद्वेष या गालीगलौज का प्रयोग नहीं होना चाहिए। सभी दार्शनिक आपसी विचार-विनिमय जिस प्रणाली से करते हैं अथवा लोकसभाई (पार्लियामेंट के सदस्य) जिस तरह विचार करते हैं वैसे ही इधर भी विचार आवश्यक है।

☆

संविद् या आत्मा

कहा जाता है "संवित् या आत्मा नहीं है क्योंकि उसमें अहं बुद्धि नहीं होती, जहाँ पुरुष को अहं बुद्धि होती है वहीं प्रत्यक् आत्मा होता है, वह अहमर्थ है। जिसमें अहं बुद्धि नहीं होती वह घटादितुल्य पराक् और अनात्मा है", परन्तु यह ठीक नहीं। जहाँ पुरुष को अहं बुद्धि होती है, वह आत्मा है ऐसा नियम नहीं बन सकता क्योंकि 'अहं मनुष्यः, अहं काणः', इत्यादि रूप से देहादि में भी अहं बुद्धि होती है, फिर क्या देहादि को आत्मा माना जायगा? यदि कहा जाय कि विद्वान् की जहाँ अहं बुद्धि होती है वह आत्मा है तो यह भी पक्ष ठीक नहीं। देहादि को आत्मा माननेवाले बौद्धादि भी तो विद्वान् ही हैं और उन विद्वानों की आत्मबुद्धि देहादि में ही है। यदि कहा जाय कि वेदान्त-शास्त्रज्ञों की जहाँ आत्मबुद्धि हो वही प्रत्यगात्मा है तो यह भी ठीक नहीं, क्योंकि वेदान्त सम्प्रदायविदों की तो निर्विकार नित्य संविद् में ही अहं बुद्धि होती है, फिर तो संविद् को ही प्रत्यागात्मा मानना उचित है। जो लोग कहते हैं कि हम लोग वेदान्तविद् हैं परन्तु संविद् में आत्मबुद्धि नहीं है तो यही कहना होगा कि सम्प्रदायप्राप्त वेदान्तार्थबोध की शून्यता ही इसका कारण है।

कहा जाता है वेदान्त में संविद् को आत्मा कहीं नहीं कहा गया है पर यह कहना ठीक नहीं। 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इत्यादि वचन स्पष्ट ही सत्य ज्ञान को ब्रह्म या आत्मा कहते हैं। ज्ञान और संविद् एक ही वस्तु है 'मनोमयोऽयं भारूपः तेजोमयोऽमृतमयः' यहाँ सर्वतेज भा आदि संविद् के ही बोधक शब्द हैं। तेज आदि शब्द लौकिक प्रकाश के वाचक नहीं हैं क्योंकि उसे श्रुतियों में अशब्द, अस्पर्श, अरूप आदि कहा गया है। पराक् अर्थ से प्रत्यक् अर्थ भिन्न है यह तो इष्ट ही है। परन्तु 'अहं गच्छामि, अहं जानामि, शोचामि' इत्यादि स्थलों में जो अहमर्थ है वह पराक् ही है प्रत्यक् नहीं क्योंकि प्रत्यगात्मा में गन्तृत्व, मन्तृत्व आदि नहीं बन सकता। गमन, ज्ञान आदि इन्द्रिय, मन आदि के ही धर्म हैं। निर्धर्मक परमानन्द बोधरूप ही प्रत्यक्, तद्भिन्न सब पराक् ही है। घट पटादि ही पराक् अर्थ हैं ऐसा नहीं, देहेन्द्रिय अन्तःकरणादि भी पराक् ही है। जैसे गमनादि क्रिया का आश्रय प्रत्यगात्मा नहीं है वैसे ही ज्ञान क्रिया का भी आश्रय प्रत्यगात्मा नहीं है। कहा जाता है

"गमन क्रिया भी आत्मा का ही धर्म है क्योंकि वही परलोकगामी होता है" परन्तु यह ठीक नहीं क्योंकि लिङ्गशरीर ही वहाँ भी परलोकगमन क्रिया का आश्रय होता है। परिपूर्ण अव्यय आत्मा का स्वतः गमनादि नहीं बन सकता। "निष्कलं निष्क्रियं शान्तं" इत्यादि के अनुसार कहा जा सकता है कि यदि आत्मा निष्क्रिय है, तद्भिन्न जड़ है तो श्रवणादि में किसकी प्रवृत्ति होगी परन्तु साधिष्ठान चिदाभास ही परलोकगमनादि का अधिकारी होता है। कहा जाता है कि चिदाभास अहमर्थ व्यावहारिक है, मुक्ति में उसका बाध या विनाश ही होगा, इस स्थिति में अहमर्थविनाश ही मोक्ष है, यह समझकर तो प्राणी मोक्ष की ओर कभी प्रवृत्त ही न हो सकेगा। परन्तु यह भी ठीक नहीं क्योंकि लोक में देखा जाता है कि पतिव्रता नारी स्वर्गसुख के लिये पति के संग स्वविनाश की इच्छा करती हुई वह्नि में आत्मसमर्पण करती है। जन्मान्तर में राजा होने की कामना से प्रयागमरण की इच्छा भी लोग करते हैं। कुष्ठादि रोगों से अभिभूत प्राणी दुःखविनाश के लिये कूपादिपतन के द्वारा आत्मनाश सम्पादित करते हैं। इसी तरह साक्षिरूप से अवशिष्ट रहने के लिये अहमर्थ भी आत्मनाश की कामना कर ही सकता है।

यदि कहा जाय कि देहातिरिक्त आत्मा का ज्ञान पतिव्रता आदि को है इसलिये देहादिभिन्न आत्मा के स्वर्गादिसौख्य लाभार्थ स्वदेह का विनाश चाहते हैं। तब तो इधर भी चिदाभास संसारी अहमर्थ जीव नहीं है किन्तु असंसारी साक्षी ही प्रत्यगात्मस्वरूप है। उसके स्वरूप सुख की अभिव्यक्ति के लिये चिदाभास का विनाश इष्ट हो सकता है। कहा जाता है चिदाभास साक्षी कैसे हो सकेगा? क्योंकि साक्षी चेतन होता है परन्तु यह ठीक नहीं। चेतन ही उपाधिवशात् चिदाभास बनता है। जैसे वास्तविक सुख ही उपाधिवशात् प्रतिबिम्बित लौकिक सुख बनता है, वैसे ही प्रकृत में भी समझना चाहिये। कुछ लोग कहते हैं कि चित् का आभास अप्रामाणिक है परन्तु यह भी ठीक नहीं। 'मायाऽभासेन जीवेशौ करोति' माया आभास के द्वारा जीवेश का प्रादुर्भाव करती है। अथवा अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य ही प्रमाता है। वही अहमर्थ है। वही वैसे ही स्वानच्छेक अन्तःकरण नाश के लिये प्रवृत्त होता है जैसे कुष्ठादि रोगाभिभूत रोगी कुष्ठदेह के विनाश के लिये मरणार्थ प्रयत्नशील होता है। श्रवणादि में न केवल आत्मा की प्रवृत्ति हो सकती है न केवल अनात्मा की ही किन्तु दोनों के अन्योन्याध्यास से ही प्रवृत्ति होती है। सर्वथाऽपि उपहित आत्मा स्वोपाधिविनाश के लिये श्रवणादि में प्रवृत्त होता है। स्वोपाधिनाश मोक्षस्व-

नाश नहीं कहा जा सकता। फिर भी कहा जाता है "मेरे नष्ट होने पर कोई मुझसे भिन्न ज्ञप्ति अवस्थिति रहेगी तो उसकी प्राप्ति के लिये किसी का भी प्रयत्न न हो सकेगा।"

> अहमर्थं विनाशश्चेन्मोक्ष इत्यध्यवस्यति।
> अपसर्पेदसौ मोक्षकथा प्रस्ताव गन्धतः॥
> मयि नष्टेऽपि मत्तोऽन्या काचिद् ज्ञप्तिरवस्थिता।
> इति तत्प्राप्तये यत्नः कस्यापि न भविष्यति॥

परन्तु यह सब कथन ठीक नहीं क्योंकि यदि वह ज्ञप्ति आत्मा से भिन्न है तब तो अवश्य उक्त कथन सत्य है परन्तु वह ज्ञप्ति ही तो आत्मा है। तब तो स्वरूपभूत परमानन्दरूप ज्ञप्ति के अवशेषार्थ प्रत्येक कुशल प्राणी प्रयत्नशील होगा ही। फिर भी कुछ लोग कहते हैं—

> स्वसम्बन्धितया ह्यस्याः सत्ताविज्ञप्तितादि च।
> स्वसम्बन्ध वियोगे तु ज्ञप्तिरेव न सिद्ध्यति॥
> छेत्तुश्छेद्यस्य चाभावे छेदनादेरसिद्धिवत्।
> अतोऽहमर्थो ज्ञातैव तत्प्रत्यगात्मेति निश्चितम्॥

अर्थात् जैसे छेत्ता एवं छेद्य के रहने पर ही छेदन सिद्ध होता है उसी तरह ज्ञाता अहमर्थ एवं ज्ञेय के रहने पर ही ज्ञान सिद्ध होता है; वह ज्ञाता अहमर्थ ही प्रत्यगात्मा है ऐसा मानना चाहिये। परन्तु यह कहना असंगत है क्योंकि वृत्तिरूप ज्ञान के सम्बन्ध में यद्यपि ऐसा कहा जा सकता है तथापि आत्मस्वरूप अखण्ड संविद् की सत्तादि तो स्वतःसिद्ध ही है, उसको अन्य किस आत्मा की अपेक्षा होगी, क्या आत्मा की सत्तादि अन्य सम्बन्ध से होती है? यदि नहीं तो फिर संविद् की सिद्धि अन्याधीन क्यों होगी। अन्ततोगत्वा प्रतिवाद भी तो ज्ञानस्वरूप ही आत्मा को मानता है। यदि आत्मा का स्वरूप क्रिया हो तब तो अवश्य ज्ञाता के अभाव में उसकी असिद्धि का प्रसङ्ग हो सकता है। अन्य अहमर्थ प्रत्यगात्मा नहीं हैं किन्तु संविद् ही प्रत्यगात्मा है। वही अहमर्थ का निरुपाधिक वास्तविक स्वरूप है, अहमर्थ सोपाधिक आत्मा ही है। ज्ञानक्रियाकर्तृत्वरूप ज्ञातृत्व आदि अन्तःकरण तादात्म्याध्यास से ही होता है। एतावता ज्ञाता अहमर्थ हो सकता है परन्तु प्रत्यगात्मा तो शुद्ध संविद्स्वरूप ही है, कूटस्थ संविद् में वास्तविक ज्ञातृत्वादि संभव नहीं।

अहं शब्द रूढि से ज्ञाता का, लक्षणा से संविद्स्वरूप प्रत्यगात्मा का बोधक होता है।

कुछ लोग कहते हैं "श्रुति, स्मृति, सूत्र आत्मा को ज्ञाता ही कहते हैं ज्ञप्तिरूप नहीं कहते" परन्तु यह ठीक नहीं। विचार यह करना चाहिये कि क्या श्रुत्यादि व्यवहार दशा में आत्मा को ज्ञाता कहते हैं या परमार्थ दशा में। व्यवहार दशा में तो आत्मा का ज्ञातृत्व इष्ट ही है। अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य प्रमाता व्यवहारपर्यन्त रहता ही है। परमार्थ दशा में ज्ञेयप्रपञ्च का अस्तित्व ही नहीं रहता फिर ज्ञातृत्व भी कैसे ठहर सकेगा। जो कहते हैं उस समय भी द्वैत रहता है उनके मत में अद्वैत प्रतिपादक श्रुतियों का विरोध स्पष्ट है। द्वैत प्रतिपादक श्रुतियों का व्यवहार दशा में समन्वय हो ही जाता है। 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' इत्यादि श्रुतियों के अनुसार विज्ञप्ति रूप ही आत्मा है यह स्पष्ट है। यदि कहा जाय ब्रह्म भले ज्ञप्ति मात्र हो परन्तु आत्मा वैसा नहीं है, पर उन्हें यह जानना चाहिये कि आत्मा ही ब्रह्म है।

आत्मा और अहम्

कुछ लोग कहते हैं "अहं प्रत्यय सिद्ध अस्मदर्थ एवं युष्मत् प्रत्यय विषय युष्मदर्थ होता है, अतः 'अहं जानामि' इससे सिद्ध ज्ञाता को युष्मदर्थ कहना वैसा ही असंगत है जैसे अपनी माता को वन्ध्या कहना" परन्तु यह भी ठीक नहीं, कारण 'युष्मदस्मत् प्रत्ययगोचरयोः' इत्यादि स्थलों में अस्मद् शब्द लक्षणा से शुद्ध प्रत्यक्तत्व में और युष्मद् शब्द केवल पराक् अनात्मा इदमर्थ में ही प्रयुक्त है। अहं बुद्धि विषय वस्तु से इदं बुद्धि विषय भिन्न होता है यह सभी जानते हैं। परन्तु अहं बुद्धि विषय क्या है? इदं बुद्धि विषय क्या है? इस विषय में विप्रतिपत्ति होती है। यहाँ यह विचार करना चाहिये कि देह इदं बुद्धि का विषय है या अहं बुद्धि का? यदि पहला पक्ष मानें तो 'स्थूलोऽहं' ऐसी प्रतीति न होनी चाहिये। यदि दूसरा पक्ष कहें तो 'ममायं देहः स्थूलः' मेरा यह स्थूल देह है ऐसी प्रतीति न होनी चाहिये। दोनों बुद्धियों का विषय माना जाय यह भी ठीक नहीं क्योंकि दोनों बुद्धियाँ परस्पर विरुद्ध हैं। अतः देह को दो में किसी एक बुद्धि का विषय कहना पड़ेगा। इसलिये स्थूलोऽहं इत्यादि प्रतीति को भ्रम ही मानना उचित है। इसी तरह इन्द्रिय, प्राण, मन, बुद्धि भी इदं प्रत्यय के ही विषय हैं। इनमें 'अहं काणः पश्यामि, जानामि' इत्यादि प्रतीतियाँ भ्रान्तिभूत ही हैं। इस तरह 'कृशोऽहं गच्छामि, पश्यामि' इत्यादि अहं प्रत्ययसिद्ध कृश, गन्ता, द्रष्टा आदि पदार्थ क्या अस्मद् शब्दार्थ है या युष्मद् शब्दार्थ? पहले पक्ष में स्पष्ट ही देहात्मवाद का प्रसङ्ग होगा। यदि दूसरा पक्ष मान्य होगा तब भी व्याघात ही होगा क्योंकि अहं प्रतीति होने पर भी युष्मदर्थ कहना विरुद्ध ही है। तस्मात् कहना यही ठीक है कि जैसे रज्जु को सर्प एवं सर्प को रज्जु भ्रान्ति से समझा जाता है वैसे ही अस्मदर्थ को युष्मत् प्रत्यय विषयत्वेन और युष्मदर्थ को अस्मद् प्रत्यय विषयत्वेन भ्रान्ति से ग्रहण किया जाता है। अतः जैसे अहं कृशः यह भ्रान्ति है वैसे ही अहं, ज्ञाता यह भी भ्रान्ति ही है। जैसे देह तादात्म्याध्यास से आत्मा में कृशत्व की भ्रान्ति होती है वैसे ही अन्तःकरण तादात्म्याध्यास से ज्ञातृत्व की भी भ्रान्ति होती है। कहा जाता है कि आत्मा का ज्ञातृत्व श्रुत्यादिसिद्ध है अतः प्रमाणभूत है। परन्तु श्रुत्यादि तो व्यावहारिक ज्ञातृत्व का अनुवाद ही करते हैं अतः स्पष्ट रूप से

श्रुत्यादि आत्मा को ज्ञानस्वरूप ही कहते हैं। आत्मा ज्ञानस्वरूप है यह अर्थ ज्ञाता माननेवाले भी स्वीकृत करते हैं। अतः 'अहं कृशः' के तुल्य ही 'अहं जानामि' यहाँ भी अहं शब्दार्थ अनात्मा ही है। युष्मदर्थ में भी भ्रांति से अहं प्रत्ययविषयता होती है यह कहा भी जा चुका।

कुछ लोग कहते हैं "अहमर्थ ज्ञाता आत्मा का चैतन्य स्वभाव है। वही उसकी स्वप्रकाशता है। चेतना ज्ञान है। उसका भाव ही ज्ञानत्व है। वही चैतन्य है। चैतन्यगुणक आत्मा है।" परन्तु यह ठीक नहीं, घट के घटत्व के तुल्य ज्ञान का ज्ञानत्व गुण है। ज्ञानत्वगुणक आत्मा ज्ञान ही हुआ। इससे ज्ञातृत्वसिद्धि कैसे होगी? क्योंकि चैतन्य में चैतन्यान्तर नहीं हो सकता है। कहा जाता है ज्ञान में ज्ञानत्व रहता है। वही स्वप्रकाशत्व है, पर यह ठीक नहीं। स्वयंप्रकाश ज्ञान इस कथन में ज्ञान विशेष्य है एवं स्वयंप्रकाश विशेषण। फिर स्वयंप्रकाशत्व ज्ञानत्व कैसे हो सकता है? 'नीलमुत्पलं' इस स्थिति में उत्पलत्व नीलत्व कैसे हो सकता है? कहा जाता है "नीलोत्पल से भिन्न नीलरत्नादि पदार्थान्तर होते हैं। अतः वहाँ नीलत्व उत्पलत्व न हो परन्तु प्रकृत में तो स्वयंप्रकाश ज्ञान से अतिरिक्त स्वप्रकाश कोई पदार्थ है ही नहीं अतः स्वयंप्रकाशत्व ज्ञानत्व हो सकता है।"

इस पर कहना यह है कि जब ज्ञान से अतिरिक्त स्वयंप्रकाश कोई पदार्थ नहीं है तब ज्ञाता आत्मा भी कैसे स्वप्रकाश होगा? यदि कहा जाय कि ज्ञान में ज्ञानत्व स्वप्रकाशत्व है परन्तु ज्ञाता में ज्ञातृत्व तो ज्ञानगुणकत्वरूप ही है। तब फिर उभयानुगत कोई स्वप्रकाशत्व नहीं सिद्ध होता।

कहा जाता है "जैसे दीप और संविद् में एक प्रकार का अनुगत स्वप्रकाशत्व नहीं है वैसे ही दीप, संविद् एवं ज्ञाता में अनुगत स्वप्रकाशत्व न रहने पर भी कोई हानि नहीं है, परन्तु यह भी ठीक नहीं, क्योंकि अद्वैत मत में संविद् से भिन्न स्वप्रकाश कोई भी तत्त्व इष्ट नहीं है। अतएव 'तमेव भान्तमनुभातिसर्वं' यह श्रुति आत्मप्रकाश से ही सर्वप्रकाश बतलाती है।

कहा जाता है "फिर भी इस श्रुति में 'तस्यभासा' (उसके प्रकाश से) आत्मा और उसके प्रकाश (संविद्) का भेद ही सिद्ध होता है" पर यह ठीक नहीं है क्योंकि 'राहोः शिरः' के समान यह भेद औपचारिक ही है। यदि चैतन्यस्वभावता शब्द का ज्ञानगुणक अर्थ किया जाय तो भी प्रश्न होगा कि चैतन्य स्वभाव का आत्मा कि रूप है? यदि कहा जाय चैतन्य रूप तो यह

ठीक चैतन्य तो नहीं क्योंकि आत्मा का स्वभाव हुआ वह आत्मा का रूप नहीं। यदि जड़ रूप कहें तो घटादि तुल्यतापत्ति होगी, श्रुतिविरोध भी होगा।

सूत संहिता में भी अहं शब्द का अर्थ आत्मा माना गया है। परन्तु वह उपलक्षित ही है वाच्य नहीं।

अस्ति तावदहं शब्द प्रत्ययालम्बनं परम्।
सर्वेषां नः परं ज्ञानं स एवात्मा न संशयः॥
सोऽयं स्वाविद्यया साक्षाच्छिवः सन्नपि वस्तुतः।
स्वशिवत्वमविज्ञाय संसारीवावभासते॥ यज्ञ वै १२।

अहं प्रत्यय का विषय आत्मा सभी को विदित है। वह परज्ञान रूप है। वह साक्षात् शिव है। अपनी अविद्या शक्ति से वह अपने शिवत्व को न जानकर संसारी सा प्रतीत होता है। परन्तु इससे विशिष्टाद्वैतियों का कर्ता, भोक्ता आत्मा अहमर्थ है, यह नहीं सिद्ध होता है। क्योंकि वहाँ आगे स्पष्ट कहा है कि प्रत्यक् ब्रह्म की एकता को प्राप्त या जान करके अहं शब्दोपलक्षित आत्मरूप एक अद्वन्द्व शिव को प्राप्त हो जाता है। ये सब बातें विशिष्टाद्वैत में नहीं मान्य हैं।

प्रत्यग्ब्रह्मैकताज्ञानं लब्ध्वा याति शिवं परम्।
प्रत्यगात्मानमद्वन्द्वमहं शब्दोपलक्षितम्॥

यज्ञ वै सूत गीतायां ५६—

रुद्र विष्णु प्रजानाथ प्रमुखाः सर्व चेतना।
स्वर सेनाहमित्याहुरिदिमित्यपि च स्वतः॥
इदं बुद्धिश्च बाह्यार्थे त्वहं बुद्धिस्तथात्मनि।
प्रसिद्धा सर्वजन्तूनां विवादोऽत्र न कश्चन॥
इदमर्थे घटाद्यर्थेऽनात्मत्वं सर्वदेहिनाम्।
अहमर्थे तथात्मत्वमपि सिद्धं स्वभावतः॥
यत्र यत्रेदमित्येषा बुद्धिर्दृष्टा स्वभावतः।
तत्र तत्र त्वनात्मत्वं विज्ञातव्यं विचक्षणैः॥
यत्र यत्राहमित्येषा बुद्धिर्दृष्टा स्वभावतः।
तत्र तत्र तथात्मत्वं विज्ञातव्यं मनीषिभिः॥

शरीरालम्बना बुद्धिरिदमित्यास्तिकोत्तमाः ।
चिदात्मालम्बना साक्षादहं बुद्धिर्न संशयः ॥
इदमर्थे शरीरे तु याहमित्युदितामतिः ।
सा महाभ्रान्तिरेव स्यादतस्मिंस्तद् ग्रहत्वतः ॥
अचित्वादिन्द्रियाणाञ्च प्राणस्य मनसस्तथा ।
आलम्बनत्वं नास्त्येव बुद्धेश्चाहं मतिं प्रति ॥

उक्त प्रवचन में कहा गया है कि इदं पदार्थ घटादि अनात्मा है। अहं पदार्थ शुद्ध आत्मा है। सभी प्रमुख चेतन आत्मा में ही अहं शब्द का प्रयोग करते हैं। देहादि में अहं शब्द का प्रयोग भ्रान्ति ही है। अचित् होने से अहंकार भी अहं शब्द का वास्तविक अर्थ नहीं है। यहाँ लक्ष्यार्थ को ही मुख्यार्थ कहा गया है जैसे तत्वमसि का ऐक्य लक्ष्यार्थ होने पर भी वही मुख्यार्थ माना जाता है।

बुद्धेरचित्वं संग्राह्यं दृष्टत्वाज्जन्मनाशयोः ।
अचिद्रूपस्य कुड्यादेः खलु जन्मविनाशनम् ॥
अहङ्कारस्य चाचित्वाच्चित्तस्य च तथैव च ।
आलम्बनत्वं नास्त्येव सदाहं प्रत्ययं प्रति ॥
सर्वं प्रत्यय रूपेण सदाहङ्कार एव हि ।
विवर्ततेऽतोऽहङ्कारस्त्वनात्मैव शरीरवत् ॥
तस्माच्चिद्रूप एवात्मा अहं बुद्धेरर्थ आस्तिकाः ।
अचिद्रूपमिदं बुद्धेरनात्मैवार्थ ईरितः ॥
सत्यपि प्रत्ययार्थत्वे प्रत्यगात्मा स्वयंप्रभः ।
वृत्त्यधीनतया नैव विभाति घट कुड्यवत् ॥
स्वच्छ वृत्तिमनुप्राप्य वृत्तेः साक्षितया स्थितः ।
वृत्त्या निवर्त्यमज्ञानं ग्रसते तेन तेजसा ॥
अहं वृत्तिः स्वतःसिद्ध चैतन्ये ह्यवभासते ।
तत्सम्बन्धादहङ्कारः प्रत्यस्यीव प्रकाशते ॥
आत्माहं प्रत्ययाकार सम्बन्ध मात्रतः स्वयम् ।
कर्ता भोक्ता सुखी दुःखी ज्ञातेति प्रतिभासते ॥
वस्तुतस्तस्य नास्त्येव चिन्मात्रादपरं वपुः ।
चिद्रूपमेव स्वाज्ञानादन्यथा प्रतिभासते ॥

सर्वदेहेष्वहंरूपः प्रत्ययो यः प्रकाशते ।
तस्य चिद्रूप एवात्मा साक्षादर्थो न चापरः ॥
गौरिति प्रत्ययस्यार्थो यथा गोत्वं तु केवलम् ।
तथाहं प्रत्ययस्यार्थश्चिद्रूपात्मैव केवलम् ॥
व्यक्ति सम्बन्धरूपेण गोत्वं भिन्नं प्रतीयते ।
चिदहंकारसम्बन्धाद्भेदेन प्रतिभाति च ॥
यथैवैकोऽपि गो शब्दो भिन्नार्थो व्यक्तिभेदतः ।
यथा प्रतीत्या गो व्यक्तिर्गो शब्दार्थो न तत्वतः ॥
तत्वतो गोत्वमेवार्थः साक्षाद्वेदविदांवरा ।
तथा प्रतीत्याहङ्कारोऽहं शब्दार्थो न तत्वतः ॥
तत्वतः प्रत्यगात्मैव स एवाखिलसाधकः ।
एकत्वेऽपि पृथक्त्वेऽपि न व्यपदेशोऽवियुज्यते ॥
अन्तःकरण भेदेन साक्षिणः प्रत्यगात्मनः ।
सुपुप्तोऽस्मीति सर्वोऽयं सुपुप्तादुत्थितो जनः ॥
सुपुप्तिकालीनस्वात्मन्यहं शब्दं द्विजोत्तमाः ।
प्रयुङ्क्ते तत्र देहादि विशेषाकार भासनम् ॥
नहि केवल चैतन्यम् सुपुप्तेः साधकं स्वतः ।
प्रतिभाति ततस्तस्मिंश्चिन्मात्रे प्रत्यगात्मनि ॥
अहं शब्द प्रवृत्तिः स्यान्नतु सोपाधिकात्मनि ।
यथायो दहतीत्युक्ते वह्निर्दहति केवलम् ॥
नायो तद्वदहं शब्दश्चैतन्यस्यैव वाचकः ।
प्रतीत्या वह्निसम्बन्धाद्यथायो दाहकं भवेत् ॥
तथा चित्सम्बन्धादहंकारोऽहं शब्दार्थः प्रकीर्तितः ।
चैतन्येद्धादहमः स्पर्शाद्देहादौ भ्रान्तचेतसाम् ॥
अहं शब्द प्रयोगः स्यात्तथाहं प्रत्ययोऽपि च ।
रुद्र विष्णु प्रजानाथप्रमुखाः सर्व चेतनाः ॥
अहमेव परं ब्रह्मेत्याहुरात्मानमेव हि ।
ते तु चिन्मात्रमद्वैतमहमर्थतया भृशम् ॥
अङ्गीकृत्याहमद्वैतं ब्रह्मेत्याहुर्न देहतः ।
चिन्मात्रं सर्व गन्तव्यं सम्पूर्णं सुखमद्वयम् ॥
साक्षाद्ब्रह्मैव नान्यदिति तत्वविदां स्थितिः ।

अचिद्रूप होने से ही मन, बुद्धि, प्राण, इन्द्रिय, अहङ्कार ये कोई अहं प्रत्यय के आलम्बन नहीं हैं। ये सब अचिद्रूप होने से ही घट कुड्यादि के समान जन्म मरणवाले हैं। अहङ्कार भी अहं प्रत्यय का विषय नहीं हो सकता क्योंकि वह भी अचित् है। अहं सुखी, अहं दुःखी इत्यादि अनेक रूप से अहङ्कार का परिणाम होता रहता है। इसीलिये शरीर के समान अहङ्कार भी अनात्मा है। अतः अहं का आलम्बन नहीं होता। चिद्रूप आत्मा ही अहं का अर्थ है। अचिद्रूप सब इदं बुद्धि का विषय है। देहेन्द्रियादि सभी चिद्भास्य होने से अचित् हैं। वह इदं प्रत्यय का गोचर है। चिद्रूप आत्मा अहं प्रत्यय का गोचर होने पर भी आत्मा स्वयंप्रभ है। घट कुड्यादि के समान उसका वृत्तिपरतन्त्र प्रकाश नहीं होता है किन्तु स्वच्छ वृत्ति का विषय होकर भी वृत्ति के साक्षिरूप से स्थित हो वृत्ति के द्वारा निवर्त्य अज्ञान को अपने तेज से ग्रस्त कर लेता है। वृत्तिप्रतिफलित चैतन्य के सम्बन्ध द्वारा वृत्ति भी घटादि जड़ पदार्थों को प्रकाशते हैं। आत्मा तो वृत्तिव्याप्ति का विषय होने पर भी वृत्तिप्रतिफलित चैतन्य के द्वारा प्रकाशित न होने से आत्मा अहं प्रत्यय का विषय होने पर घटादि तुल्य अनात्मा नहीं होता। किन्तु स्वयंप्रकाश रूप से वह आत्मा ही है। जिसके सम्बन्ध से अहं वृत्ति भी प्रत्यय रूप से प्रकाशित होती है वह स्वप्रकाश वृत्यधीन कैसे प्रकाशित होगा। अहं वृत्ति भी स्वतःसिद्ध चैतन्य से दीप्त होकर अवभासित होती है। उसी के सम्बन्ध से अहङ्कार ज्ञानवान् या ज्ञाता कहा जाता है। वस्तुतः जड़ अहङ्कार ज्ञाता नहीं हो सकता। वस्तुतः ज्ञानस्वरूप आत्मा ही ज्ञाता है। वह भी कर्तृत्वादि धर्मवान् अहङ्कार के साथ तादात्म्य होने से ही आत्मा में कर्तृत्व, सुखित्व, ज्ञातृत्व की प्रतीति होती है। परमार्थतः चिन्मात्र से अन्य आत्मा का दूसरा रूप नहीं। अहंकार एवं चैतन्य के परस्पर सम्बन्ध से आत्म धर्मप्रत्ययित्व अहंकार में अध्यस्त होता है। अहंकार धर्म कर्तृत्वादि आत्मा में भासित होता है, विवेक से चिन्मात्र ही आत्मस्वरूप अवशिष्ट रहेगा।

कहा जाता है कि फिर भी सुप्ति में अहंकार सहित चैतन्य में ही अहं शब्द का प्रयोग करते हैं। चिदात्मा के समान ही अहङ्कार में भी अहं शब्द का प्रयोग होता है। परन्तु यह कहना ठीक नहीं क्योंकि सुप्ति में देहादि विशेषाकार का भान नहीं होता। उस समय अहंकार भी नहीं होता किन्तु वह स्वकारण अविद्या में लीन होता है। सुप्ति में समस्त विशेषों का प्रतिभानामात्र रहता है। यदि विशेष प्रतिभान हो तो सुप्ति ही नहीं रह सकती है।

अतः सुप्ति में अहंकारादि रहित आत्मा में ही अहं शब्द का प्रयोग होता है। अतः सर्वत्र आत्मा ही अहं शब्द का अर्थ है। सुप्ति का द्रष्टा केवल चैतन्य ही स्वतः भासमान होता है। उस चिन्मात्र में अहं शब्द की प्रवृत्ति होती है सोपाधिक आत्मा में नहीं, यथा 'अयो दहति' ऐसा कहने पर वह्नि में ही दाहकत्व निश्चित होता है लौह में नहीं। वैसे अहं शब्द भी आत्मा में ही मुख्य है अनात्मा में नहीं। जैसे प्रतीतिवशात् वह्नि सम्बन्ध से ही लौह में दाहकत्व होता है वैसे चित्सम्बन्ध से ही अहंकार अहं शब्दार्थ होता है। वस्तुतः नहीं। चैतन्येद्ध अहं के स्पर्श से देहादि में भी भ्रान्तों का अहं पद प्रयोग होता है। इस तरह विवेक से देह, प्राण, अन्तःकरण आदि को स्वात्मा से पृथक् विभक्त करके सर्वसाक्षी स्वयंज्योति सत्य अद्वैत आनन्दस्वरूप आत्मा का चिन्तन करना चाहिए। रुद्रादि प्रमुख चेतन आत्मा को 'अहमेव परं ब्रह्म' में ही पर-ब्रह्म रूप हूँ ऐसा कहते हैं। वे लोग अद्वैत चिन्मात्र को ही अहमर्थ रूप से अंगीकार करके 'अहं अद्वैतं ब्रह्मेत्याहुः' मैं अद्वैत ब्रह्म हूँ ऐसा कहते हैं।

इस प्रसंग में भी सर्वथा अहं शब्द का प्रयोग आत्मा में लक्षणा से ही बतलाया गया है। अतएव अहङ्कारोपलक्षितं कहा गया है। वैसे आत्म ब्रह्म आदि शब्दों की भी शुद्ध ब्रह्म या आत्मा में लक्षणा से ही प्रवृत्ति होती है। इस तरह यदि अहं शब्द आत्मवाची माना जाय तो भी अहं शब्द का वाच्य आत्मा नहीं हो सकता है। पूर्व के भी सभी कथनों का भी यही सार था कि शुद्ध आत्मा अहं शब्दवाच्य अर्थ नहीं है। अहं का लक्ष्यार्थ रूप अहमर्थ आत्मा तो हो ही सकता है। परन्तु इससे भी प्रतिवादि पक्ष नहीं सिद्ध होता है। इसमें जीव ब्रह्म की एकता एवं आत्मा का चिन्मात्र रूप अकर्ता अभोक्ता नित्य ब्रह्मस्वरूप है। वस्तु स्वरूप में कोई अन्तर नहीं, नाम मात्र में विवाद का कुछ अर्थ नहीं होता है। यदि कोई शून्य आदि शब्दों से भी नित्य, शुद्ध, बुद्ध, अद्वैत, अखंडबोध आत्मा को स्वीकार करे तो सिद्धात में कोई हानि नहीं होती है।

आत्मा का स्वप्रकाशत्व

यदि कहा जाय कि "चैतन्य आत्मा का स्वरूप भी है और स्वभाव भी" तो यह भी ठीक नहीं क्योंकि एक ही चैतन्य में स्वरूपत्व, स्वभावत्व दोनों ही नहीं बन सकता। यदि कहा जाय कि आत्मा के स्वरूपभूत चैतन्य से स्वभावभूत चैतन्य भिन्न ही है तो यह भी ठीक नहीं क्योंकि दो प्रकार के चैतन्य की कल्पना गौरव भी है और अप्रामाणिक भी। जब एक ही चैतन्य से निर्वाह हो जाता तो चैतन्यान्तर कल्पना व्यर्थ भी है। यह भी प्रश्न होगा कि क्या स्वरूपभूत चैतन्य स्वप्रकाश है? या स्वभावभूत चैतन्य? यदि पहला पक्ष है तब तो अस्वयंप्रकाश ज्ञान स्वभाव ही आत्मा हुआ, पर यह अभीष्ट नहीं। यदि स्वभावभूत चैतन्य को स्वप्रकाश कहा जाय तो यह भी ठीक नहीं क्योंकि स्वभावभूत चैतन्य की स्वप्रकाशता यदि ज्ञानस्वभावत्व रूप ही है तब तो स्वभावभूत ज्ञान में स्वभावभूत ज्ञानान्तर मानना होगा तथा च अनवस्था होगी। आत्मा के स्वरूपभूत चैतन्य की स्वप्रकाशता भी चैतन्यस्वभावता नहीं है।

कहा जाता है "यदि एक संविद् ही स्वप्रकाश है तब तो दीपादि की स्वप्रकाशत्व प्रसिद्धि क्यों है?" परन्तु इसका समाधान यही है कि जैसे कोई घट देखने के लिये दीपक की अपेक्षा करता है वैसे दीपक को जानने के लिये अन्य दीप की अपेक्षा नहीं करता। इसीलिये दीप को स्वप्रकाश कह दिया जाता है। फिर भी जैसे घर देखने के लिये दीप की अपेक्षा होती है वैसे ही दीप को देखने के लिये चक्षु की अपेक्षा होती है। अतः दीप वस्तुतः स्वप्रकाश नहीं है। जिसको जानने के लिये अन्य किसी की भी अपेक्षा न हो वही स्वप्रकाश होता है, ऐसी वस्तु संविद्स्वरूप आत्मा ही है।

कहा जाता है कि "इस तरह तो आत्मा को भी जानने के लिये मन एवं शास्त्र की अपेक्षा होती है" परन्तु यह ठीक नहीं क्योंकि जो मन या शास्त्र से आत्मा (अपने) को देखना चाहता है वह द्रष्टा व्यापार से पहले ही सिद्ध है। इस तरह आत्मदर्शन स्वतःसिद्ध ही है। ज्ञेय देखने के लिये ही कारण की अपेक्षा हुआ करती है, ज्ञान देखने के लिये नहीं, इसीलिये ज्ञान स्वप्रकाश ही है। वही आत्मा है। ज्ञान ही ज्ञाता आत्मा का वास्तविक रूप है।

संविद् का स्वरूपभूत प्रकाश अनन्याधीन ही है, अतः वह स्वप्रकाश है। आत्मा, संविद्, प्रकाश आदि शब्द एक ही अर्थ के बोधक हैं।

जैसे कालादि की आपेक्षिक नित्यता होती है वैसे ही घटादि की अपेक्षा दीपादि की आपेक्षिक स्वप्रकाशता भी कही जाती है। दीपादि अपनी प्रभा के बल से भासित होते हैं, यह कहना ठीक नहीं क्योंकि प्रभापुंज ही तो दीप है। जो कहा जाता है कि गृह के भीतर सर्वभागव्यापि प्रकाशप्रभा है और उसका उद्गम स्थान ज्वालाविशेष दीप है, यह ठीक नहीं क्योंकि दीपज्वाला भी प्रभा ही है। कहा जाता है "दीपज्वाला ही प्रभा है परन्तु ज्वालावान् दीप अन्य है" किन्तु यह ठीक नहीं क्योंकि ज्वाला से भिन्न दीप कोई वस्तु नही है। कहा जाता है "वर्ति के अग्रवर्ती दीप होता है। उसके ऊपर दो या तीन अंगुल ऊँची ज्वाला है" पर यह भी ठीक नहीं क्योंकि वर्ति के अग्रभागवाला दीप भी रक्तवर्ण प्रभा से भिन्न नहीं है। प्रभा कान्ति ही है। तेज से भिन्न दीप का कोई रूप नहीं ठहरता है। अग्नि ही दीप है। अग्नि तेज ही है। वह भी भूत-विशेष ही है। तेजोवान् द्रव्य भूत है यह पक्ष ठीक नहीं। यदि तेजोवान् अग्नि हो तब तो तेजोवान् काष्ठादि उल्मुक भी अग्नि कहा जायगा। यदि काष्ठ आदि भी अग्नि है तब तो तेजोवती वर्तिका भी अग्नि ही होगी परन्तु यह सब ठीक नहीं है। अतः प्रभा से निर्भासित घटादि के तुल्य दीप कोई पदार्थान्तर नहीं है। यदि हो तो उसे प्रभा से पृथक् उपलब्ध होना चाहिये। यदि दीप अपनी प्रभा से भासित होता हो तो भासन के प्रथम दीप किस प्रकार का होता है यह भी बताना चाहिये। पूर्व में अभासित वस्तु पश्चात् भासित कहा जाता है। वह अभासित दीप क्या है ? जिसका भासन होता है। इसलिये दीप भासता ही है। स्वेन (अपने से) भासित होता है ऐसी बात नहीं क्योंकि ऐसा मानने पर कर्मकर्तृ विरोध अनिवार्य हो जायगा, हाँ वह अन्य घटादि प्रकाशन करता है। इसी तरह संविद्रूप आत्मा भी स्वयं भासमान होता हुआ अन्य का भासन करता है। प्रभा से भिन्न प्रभावान् कोई द्रव्य नहीं है। अतएव एक ही तेजोद्रव्य प्रभा एवं प्रभावान् रूप में व्यवस्थित होता है, यह कहना भी ठीक नहीं है। कहा जाता है मणि आदि पदार्थ प्रभावान् हैं पर यह भी ठीक नहीं। मणि आदि तेजोद्रव्य हैं ही नहीं क्योंकि उष्णस्पर्शवान् होना ही तेज का लक्षण है, दीप उष्णस्पर्शवान् है अतः तेज ही है। मणि आदि में उष्णस्पर्श नहीं होता अतः वह तेज नहीं। जो मणि आदि में कान्ति होती है वह मणिगत तेज का ही अंश है। मणि घटादि के समान केवल मृण्मय नहीं है, दीप के

समान तेजोमय भी नहीं है, किन्तु वह उभयमय है। इसी तरह चन्द्र भी जल तेजोमय है, सूर्य तेजोमय है। इसी प्रकार अग्नि भी तेज ही है। मणि में तेज की सत्ता होने से वह तेजोवान् द्रव्य है परन्तु दीप तो तेज ही है। तेजोवान् द्रव्य नहीं।

कहा जाता है कि "प्रभा प्रभावान् का भेद प्रत्यक्ष सिद्ध है। दीपस्पर्श से वस्त्रादि प्रज्वलित हो जाते हैं परन्तु प्रभा से नहीं प्रज्वलित होते। दीपादि के अदर्शन में भी उनकी प्रभा आदि का दर्शन होता है।" पर यह भी कथन ठीक नहीं क्योंकि दीप से पृथक् प्रभा का दर्शन होने पर भी प्रभा से भिन्न दीप नहीं उपलब्ध होता। संहतावयवद्व्यङ्गुलादिपरिमाण ज्वालामय, प्रभामय दीप होता है, उसी का सर्वगृहव्यापी विरलावयव प्रकाश प्रभा कही जाती है। इस तरह एक ही तेजो द्रव्य अपने अवयवों की विरलता एवं घनिष्ठता से प्रभा, प्रभावान् इन दो शब्दों से व्यवहृत होता है। घनिष्ठ अवयव योग से ही वस्त्रादि का प्रज्वलन एवं अधिक उष्णतादि प्रतीति होती है। विरलावयव योग से उष्णतादि की अल्पता और अप्रज्वलनादि की उपपत्ति होती है।

कहा जाता है कि "फिर तो इसी दृष्टान्त के अनुसार एक ही ज्ञान द्रव्य ज्ञान एवं ज्ञानवान् आत्मा के रूप में व्यवस्थित होता है।" परन्तु ऐसा मानने पर आत्मा में सावयव अनित्यत्व आदि दोष भी लागू होंगे अतः निरवयव आत्मा में उक्त व्यवस्था लागू नहीं हो सकती। आत्मा निरवयव रूप से सभी आस्तिकों को मान्य है। ज्ञान भी निरवयव ही है वही आत्मा का स्वरूप है।

जैसे दीप प्रभारूप एवं प्रभागुणवाला है वैसे ही आत्मा भी चिद्रूप एवं चैतन्य स्वभाव है यह नहीं कहा जा सकता। क्योंकि निरवयत्व सावयत्व रूप से दोनों में अत्यन्त वैषम्य है। फिर भी कहा जाता है कि यदि आत्मा ज्ञान-स्वरूप ही है ज्ञानधर्मक नहीं तो आत्मा का स्वयंप्रकाशत्व नहीं बनेगा क्योंकि ज्ञानधर्मकत्व ही स्वप्रकाशत्व है, परन्तु यह ठीक नहीं; ज्ञानस्वरूपत्व ही स्वप्रकाशत्व है उसके लिये ज्ञानधर्मक होने की आवश्यकता नहीं।

कहा जाता है जैसे दीप स्वधर्मभूत प्रभानिरपेक्ष प्रकाशवान् होने से स्वप्रकाश है, उसी प्रकार आत्मा भी स्वधर्मभूत ज्ञाननिरपेक्ष प्रकाशवान् होने से स्वप्रकाश है, परन्तु यह भी ठीक नहीं क्योंकि दीप की भी स्वरूपभूत प्रकाश से भिन्न धर्मभूत प्रभा अमान्य ही है। सर्वगृहवर्तिनी प्रभा भी दीप का स्वरूप ही है। तमोनिवर्तकत्व ही दीप का धर्म है फिर भी राहोः शिरः के तुल्य ही दीप की प्रभा इस प्रकार भेद व्यवहार होता है।

कहा जाता है "स्वरूपभूता द्व्यङ्गुलादिपरिमिता प्रभा ज्वाला ही है" पर यह ठीक नहीं, क्योंकि दीप की स्वरूपभूता प्रभा का ही जो संहतावयवांश है वही ज्वाला है एवं जो विसृमर विरलावयवांश है वही प्रभा है। यदि दीप का उष्णता के समान ही प्रभा भी धर्म हो तब तो जहाँ दीप हो वहीं प्रभा होनी चाहिये। परन्तु दीप वर्ति के अग्रभाग पर ही होता है किन्तु प्रभा गृहव्यापिनी होती है। धर्म धर्मी को छोड़कर अन्यत्र नहीं रह सकता।

यदि कहा जाय कि "प्रभा दीप है तो दीप के तुल्य ही प्रभा में भी औष्ण्य क्यों नहीं उपलब्ध होता?" परन्तु इसका उत्तर यह है कि प्रभा में जितनी अवयवों की सान्द्रता होती है उतनी ही उष्णता का उपलम्भ होता है। जहाँ प्रभा में विरलता की अधिकता होती है वहां उष्णता अति सूक्ष्म होने से उपलब्ध नहीं होती, यह नहीं कि उसमें उष्णता है ही नहीं; परन्तु इस तरह एक ही प्रभा जैसे दीप का स्वरूप एवं स्वभाव है उसी तरह एक ही चैतन्य आत्मा का स्वरूप एवं स्वभाव है, यह नहीं कहा जा सकता है क्योंकि निरवयव में यह तारतम्य ही नहीं बन सकता। अतएव धर्मभूत ज्ञान यहाँ (अद्वैतिमत में) वृत्तिरूप ही मान्य है। वह स्वरूप से अन्य ही है।

कहा जाता है "यदि दीप की स्वरूपभूता ही प्रभा है तो प्रभा में भी दीप-बुद्धि क्यों नहीं होती।" परन्तु यह कथन ठीक नहीं क्योंकि यह दोष दो उभय पक्ष में तुल्य ही है। विपक्षी मत में ही क्यों दीप की स्वरूपभूता प्रभा में दीप-बुद्धि होती है, दीप की स्वभावभूता प्रभा में दीपबुद्धि नहीं होती? अतः मानना होगा कि निविडावयवप्रभा भाग में लोग दीपज्वाला एवं विरलावयव में प्रभा का व्यवहार करते हैं। वस्तुतः ज्वाला और प्रभा सभी दीपस्वरूप ही हैं क्योंकि उन दोनों से भिन्न दीप का अन्य कोई स्वरूप है ही नहीं। फिर भी यदि ज्वाला ही दीप का स्वरूप है, प्रभा धर्म है, ऐसा ही आग्रह हो तो फिर प्रभा दीप का स्वरूप भी है, धर्म भी है, यह कथन संगत न होगा। क्योंकि एक ही वस्तु किसी का स्वरूप और धर्म दोनों नहीं हो सकती। चिद्रूपता स्वयंप्रकाशता है यह कथन भी चैतन्यस्वभावता स्वयंप्रकाशता है इस कथन से विरुद्ध है। सिद्धान्त में अनन्याधभास्यत्व एवं अन्याभासकत्व ही स्वप्रकाशत्व है। चिद्रूप होने से उसमें यह दोनों बातें संगत होती हैं।

कहा जाता है 'ज्ञानस्वरूप एवं ज्ञानगुणक आत्मा है। इस सम्बन्ध में 'न विज्ञातुर्विज्ञातेर्विपरिलोपो विद्यते' इत्यादि श्रुतियाँ प्रमाण हैं। इसमें

२

स्पष्ट विज्ञाता की विज्ञाति का वर्णन है।" परन्तु यह भी ठीक नहीं। वहाँ विज्ञाता की स्वरूपभूत विज्ञाति का विलोप नहीं होता यही अर्थ है अर्थात् अन्तःकरणादि तादात्म्याध्यास से द्रष्टृत्वादि धर्मवान् रूप से यद्यपि आत्मा की प्रतीति होती है तथापि वस्तुतः वह ज्ञानरूप ही है। ज्ञाता का ज्ञान धर्म है, स्वरूप नहीं, यह प्रतिपक्षी भी नहीं मानता है। ज्ञानस्वरूप आत्मा है यह तो उभय संमत है। तस्मात् स्वप्रकाश आत्मा चिद्रूप ही है ज्ञाता नहीं अतएव प्रतिपक्षी ने भी पीछे ज्ञानत्व को ही स्वप्रकाश कहा है।

"अजड़ होने से संविद् रूप ही आत्मा है।" इस पर विचार उठता है कि अजड़त्व क्या है? स्वसत्ता प्रयुक्त प्रकाशत्व ही यदि अजड़त्व है तब तो दीपादि भी ऐसे ही हैं, उन्हें भी अजड़ कहना होगा। इसके अतिरिक्त अद्वैती संविद् से भिन्न प्रकाशरूप धर्म मानता ही नहीं फिर तो स्वसत्ता प्रयुक्त प्रकाश आत्मा असिद्ध भी है। यदि कहा जाय कि जिसकी सत्ता प्रकाश से कभी व्यभिचरित न हो वह अजड़ है, तो वह भी ठीक नहीं, क्योंकि सुखादि में यह लक्षण व्यभिचरित है। सुखादि की सत्ता भी प्रकाश के बिना नहीं रहती अतः उसे भी अजड़ कहना होगा। परन्तु अद्वैती के यहाँ वैषयिक सुख जड़ ही मान्य है। 'स्वस्मै प्रकाशमानत्व' (अपने लिये प्रकाशमान् होना) यह संविद् में असिद्ध ही है। क्योंकि संविद् तो अपने से भिन्न अहमर्थ के लिये भासमान होती है। परन्तु यह सब कथन अयुक्त है क्योंकि 'स्वसत्ता प्रयुक्त प्रकाशत्व ही अजड़त्व है,' ऐसा मानने में कोई दोष नहीं है। दीपादि में व्यभिचार भी नहीं क्योंकि दीपादि घटादि के तुल्य ही चक्षु के द्वारा भास्य होते हैं, स्वसत्ता मात्र से प्रकाशमान नहीं होते हैं। अतएव चक्षु के निमीलन होने पर घट के समान दीप भी प्रस्फुरित नहीं होता। परन्तु संविद् का प्रकाश तो स्वसत्ता मात्र मूलक है वह अन्यसापेक्ष नहीं है। वह प्रकाश भी उसका स्वरूप ही है, धर्म नहीं। अतः असिद्धि एवं विरोध आदि भी नहीं है। अथवा यहाँ प्रकाश का अर्थ है व्यवहार का विषय होना, जब तक व्यवहार है तब तक संविद् व्यवहार का विषय मान्य ही है। इसी तरह अव्यभिचरित प्रकाशसत्ताकत्व रूप भी अजड़त्व कहा जाय तो भी कोई दोष नहीं। इसका अर्थ यह है कि जिसका प्रकाश और सत्ता दोनों ही व्यभिचरित नहीं, वह अव्यभिचरित सत्ताक है। किन्तु सुखादि का तो प्रकाश और सत्ता दोनों ही व्यभिचारी है। जन्म के प्राक् एवं ध्वंस के पश्चात् सुखादि की सत्ता और प्रकाश दोनों ही नहीं रहते। सुख सद्भाव

दशा में सुख प्रकाश रहता है। इतने मात्र से सुख को अव्यभिचरित प्रकाशसत्ताक नहीं कहा जा सकता।

यदि कहा जाय कि "जिसकी सत्ता प्रकाशव्यभिचारी न हो वही अव्यभिचरित प्रकाशसत्ताक है। सुखादि ऐसे हैं अतः उनमें व्यभिचार होगा ही", तो यह भी ठीक नहीं, क्योंकि लक्षण में प्रकाश शब्द से स्वरूपभूत प्रकाश ही विवक्षित है। स्वस्मै भासमानत्व रूप अजड़त्व भी ठीक ही है। अहमर्थ आत्मा वस्तुतः संविद्रूप ही है। अतः स्वस्मै भासमानत्व भी उपपन्न होता है। अजड़त्व स्वप्रकाशत्व एक ही बात है पर प्रकाश्यत्व ही जड़त्व है और अनन्यावभास्यत्व और अन्यावभासकत्व ही स्वप्रकाशत्व है। संविद् किसी अन्य से प्रकाशित नहीं होती किन्तु अन्य सब का वही भासक है।

कहा जाता है "यदि ज्ञानकर्मता के बिना अर्थात् ज्ञान का कर्म हुए बिना व्यवहारानुगुण होना स्वप्रकाशत्व है? या ज्ञानान्तरनिरपेक्ष जिसका प्रकाश हो वही स्वप्रकाश है। पहली बात ठीक नहीं क्योंकि ज्ञाता भी ज्ञानकर्म हुए बिना ही व्यवहार्य होता है अतः उसमें स्वप्रकाशत्व लक्षण अतिव्याप्त है। द्वितीय पक्ष भी असिद्ध है क्योंकि संविद् भी स्वरूपभूत ज्ञान के अधीन है। अतः अहमर्थ ही स्वप्रकाश है संविद् नहीं।" परन्तु यह सब कथन भी असंगत ही है। ज्ञाता आत्मा की स्वरूपभूता ही संविद् है। अतः यह आत्मा की स्वप्रकाशता संविद् की ही है। यदि संविद् से अन्य ही ज्ञाता मान्य है तब तो वह अनात्मा ही है और फिर तो वह भी ज्ञानकर्म होकर ही व्यवहार्य होता है। द्वितीय पक्ष भी ठीक ही है। उस पक्ष में भी असिद्धि आदि दोष नहीं। वादी के मत में आत्मस्वरूपभूत ज्ञान के अधीन धर्मभूत ज्ञान हो सकता है परन्तु अद्वैतिमत में आत्मस्वरूपभूत ज्ञान ही संविद् है। अतः उसमें ज्ञानान्तराधीनता कथमपि नहीं बन सकती है, इसीलिये स्वप्रकाश संविद् ही वास्तविक अहमर्थ है। वही प्रत्यगात्मा है। यदि ज्ञानवान् ही आत्मा है ज्ञान नहीं; ऐसा आग्रह हो तब तो ज्ञानवान् सम्बन्ध को ज्ञानान्तरवेद्य होने से ज्ञान एवं ज्ञाता को भी ज्ञानान्तरवेद्य मानना पड़ेगा। ऐसी स्थिति में दोनों ही में जड़ता आयेगी, वेद्यत्व ही जड़त्व है। यदि कहा जाय कि स्वसम्बन्ध स्ववेद्य ही है तो यहाँ प्रश्न होगा कि ज्ञानवान् सम्बन्ध ज्ञानवेद्य है? या ज्ञाता से वेद्य है? अथवा सम्बन्ध से ही वेद्य है? प्रथम दो पक्ष ठीक नहीं क्योंकि सम्बन्ध दो सम्बन्धियों का धर्म होता है। स्वयं के द्वारा स्वधर्म का ग्रहण नहीं होता। तीसरा पक्ष भी ठीक नहीं, क्योंकि सम्बन्ध से ही सम्बन्ध का ग्रहण भी व्याहत है। कहा जाता है कि

"स्वधर्म भी स्वयं से गृहीत हो सकता है। नित्यत्वादि आत्म धर्मों का प्रमाता आत्मा के द्वारा ग्रहण होता है।" परन्तु यह पक्ष उचित नहीं क्योंकि सिद्धान्ततः आत्मा निर्धर्मक ही है। अतः स्वयं से स्वधर्म ग्रहण का उभयसंमत कोई दृष्टान्त नहीं। आत्मा में कल्पित नित्यत्वादि धर्मों का प्रमाता से ग्रहण होता है। स्वयं आत्मा कूटस्थ है। अतः उसमें ज्ञातृत्वादि कोई विकार बन नहीं सकते। यह भी कहा जाता है कि ज्ञानगत स्वप्रकाशत्व आदि ज्ञान से ही गृहीत होता है परन्तु यहाँ भी प्रमाता ही ग्राहक है। आत्मा का ज्ञातृत्व सिद्ध होने पर ही ज्ञान के साथ स्वयं का सम्बन्धज्ञान हो सकता है और आत्मा का ज्ञान के साथ सम्बन्ध विदित होने पर ही आत्मा में ज्ञातृत्व सिद्ध होता है। इस तरह अन्योन्याश्रय दोष स्पष्ट है।

'मेरा ज्ञान से सम्बन्ध है' इस प्रकार का जो आत्मा को ज्ञान होता है, उस ज्ञान से आत्मा का सम्बन्ध भी ज्ञानान्तराधीन है। इस तरह अनवस्था भी है। श्रुति तो आत्मा का किसी के साथ सम्बन्ध नहीं सहन करती है। "असङ्गो ह्ययं पुरुषः" श्रुति स्पष्ट कहती है आत्मा सर्वथा असङ्ग है। इस तरह असङ्ग होने से ही आत्मा का अनात्मा के साथ भी तादात्म्यप्रतीति भ्रान्ति से ही सिद्ध है।

जैसे घटवान् आत्मा का घट स्वरूप नहीं है, उसी तरह ज्ञानवान् आत्मा का ज्ञान भी स्वरूप न हो सकेगा? कहीं भी धर्मी का धर्म ही स्वरूप नहीं हुआ करता। कहा जा सकता है कि स्वरूपभूत ज्ञान से धर्मभूत ज्ञान अन्य ही है, परन्तु यह भी कथन संगत नहीं है क्योंकि अन्यता सिद्ध नहीं है। ज्ञानद्वित्व सिद्ध होने से ही ज्ञानभेद सिद्ध होता है और ज्ञानभेद सिद्ध होने पर ही उसका द्वित्व सिद्ध होता है। यह मेरा स्वरूपभूत ज्ञान है और यह धर्मभूत ज्ञान है ऐसा अनुभव भी नहीं होता।

कहा जा सकता है "अहमर्थ विशेष्य रूप से ही आत्मा का प्रकाश करता है परन्तु धर्मभूत ज्ञान को विशेषण रूप से प्रकाशता है। इसी भेद से स्वरूपभूत और धर्मभूत दो प्रकार के ज्ञान सिद्ध होते हैं।" परन्तु यह भी बात ठीक नहीं क्योंकि यहाँ विचारना होगा कि क्या धर्मभूत ज्ञान अपने को जानकर दूसरों को प्रकाशता है अथवा बिना जाने ही। पहला पक्ष इसलिये ठीक नहीं है कि वह धर्मभूत ज्ञान का जो स्वात्म ज्ञान है वह भी यदि आत्मा को जानकर ही अन्यों को प्रकाशेगा तो अनवस्था प्रसङ्ग होगा ही। द्वितीय पक्ष भी ठीक नहीं क्योंकि यदि ज्ञान अपने को ही नहीं जानता तो दूसरों को वह कैसे प्रकाशेगा? कहा जाता है जैसे दीप अविदित होने पर भी अपना और

घटादि का प्रकाश करता है, उसी तरह धर्मभूत ज्ञान अपने से अविदित होने पर भी अन्य का प्रकाशन करता है, परन्तु इस तरह दीपादि की तरह ज्ञान में भी जड़त्व प्रसङ्ग होगा। वस्तुतस्तु दीप का प्रकाशकत्व ज्ञानजनकत्व रूप नहीं है किन्तु आवरणभूत तम का निरसन करना ही दीप का प्रकाशकत्व है। इसलिये दीप का दृष्टान्त इस प्रसङ्ग में सङ्गत नहीं है। स्वरूप ज्ञान से धर्मभूत ज्ञान प्रकाशित होता है यह स्वोक्तिविरुद्ध भी है।

इसी प्रकार अहमर्थ अपने आप को किसके लिये प्रकाशता है? अपने लिये प्रकाशता है? यह भी नहीं कहा जा सकता है क्योंकि यह तो प्रकाशन व्यापार से पहले ही सिद्ध है। प्रकाश्य पदार्थ का ही व्यापार से प्रकाश होता है प्रकाशक का नहीं, आत्मा तो स्वयं प्रकाशक ही है। इसमें कर्मकर्तृभाव व्याघात भी होगा। स्वयं प्रकाशक एवं स्वयं प्रकाश्य होना कर्म कर्तृभाव विरुद्ध है। इसलिये अहमर्थ आत्मा केवल प्रकाशता ही है।

कहा जाता है "प्रकाशक ज्ञान अहमर्थ है प्रकाश्य ज्ञान धर्मभूत ज्ञान है", पर यह भी ठीक नहीं। प्रकाशकत्व ही ज्ञानत्व रूप है; जो प्रकाश्य है वह जड़ रूप ही है। वह ज्ञान नहीं हो सकता।

कहा जाता है "यदि प्रकाशकत्व ज्ञान का लक्षण है तब तो दीप में भी प्रकाशकत्व होने से उसमें भी ज्ञानत्व प्रसक्त होगा।" परन्तु यह भी ठीक नहीं है क्योंकि पूर्व में दीप का प्रकाशकत्व खण्डित किया जा चुका है। यह भी कहा जा सकता है कि अप्रकाश्यत्व होकर प्रकाशकत्व ही ज्ञान का लक्षण है। अप्रकाश्यत्व विशेषण से दीपादि में अतिव्याप्ति नहीं होगी क्योंकि वह प्रकाश्य होकर ही प्रकाशक होता है। शशशृङ्गादि में अतिव्याप्ति वारण के लिये प्रकाशकत्व यह विशेष्य है। यही स्वप्रकाशत्व है। यही ज्ञानत्व है। इस तरह आत्मा का धर्मभूत ज्ञान सिद्ध नहीं होता। ज्ञाता आत्मा औपाधिक ही आत्मा है, वास्तविक आत्मा ज्ञान स्वरूप ही है। ज्ञातृत्व ज्ञेयपराधीन भी होता है। इस तरह यदि आत्मा ज्ञाता होगा तो उसे अन्याधीन होना पड़ेगा। कहा जा सकता है कि ज्ञान भी ज्ञेय एवं ज्ञाता के अधीन होता है, पर यह भी ठीक नहीं। क्रियाभूत वृत्तिरूप ज्ञान अवश्य ज्ञाता के अधीन है परन्तु आत्मस्वरूप ज्ञान तो स्वतंत्र ही है। तादृक् ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय तीनों के स्वरूप तीनों के अभाव का जो भासक है वह अनन्त अखण्ड ज्ञान आत्मा का स्वरूप है—

"एकमेकतराभावे यदानोपलभामहे।
त्रितयं तत्र यो वेद स आत्मा स्वाश्रयाश्रयः॥"

ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय तीनों में एक के बिना अन्य का उपलम्भ नहीं होता है पर इन सबका भासक अनन्याधीन नित्य निरतिशय ज्ञान ही आत्मा है। 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' श्रुति भी अबाध्य अपरिच्छिन्न अनन्त ज्ञान को ही आत्मा या ब्रह्म कहती है।

कहा जाता है "मैं अनुभव या ज्ञान हूँ, ऐसा अनुभव नहीं होता किन्तु 'मैं जानता हूँ', 'अनुभव करता हूँ, ऐसा ही अनुभव होता है। अतः ज्ञानवान् ही आत्मा है ज्ञान नहीं" पर यह ठीक नहीं; क्योंकि यहाँ विचारणीय है कि क्या अनुभव का अनुभवत्व अनुभव से आपने सिद्ध किया है जिससे आत्मा की अनुभवरूपता अनुभव से सिद्ध करना चाहते हैं? अबाधित प्रतीति का ही प्रामाण्य मान्य होता है। मैं ज्ञानवान् हूँ यह प्रतीति यदि अबाधित सिद्ध हो तभी उसके बल पर ज्ञाता आत्मा सिद्ध हो सकता है। कहा जा सकता है कि "ममानुभवः (मेरा अनुभव है) इस प्रतीति का बाध नहीं होता अतः इसका प्रामाण्य ही है।" परन्तु यह भी ठीक नहीं क्योंकि इस रीति से तो 'अहं मनुष्यः' इस प्रतीति का भी बाध नहीं है कारण बाध का अनुभव नहीं होता। 'मम मनुष्यः' ऐसी प्रतीति नहीं होती। फिर तो मनुष्यत्व आत्मधर्म ही होगा। देहधर्म न सिद्ध होगा। फिर तो चार्वाक ही विजयी होगा।

यदि कहा जाय कि वेदान्त शास्त्र से 'मनुष्योऽहं' इस प्रतीति का बाध होता ही है तब तो इसी तरह 'ममानुभवः' इस प्रतीति का भी वेदान्त से बाध होता ही है। आत्मा को ज्ञान या अनुभवरूप बतलानेवाला आगम नहीं है ऐसा नहीं कहा जा सकता। 'सत्यं ज्ञान…', 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' इत्यादि सैकड़ों वचन आत्मा को ज्ञानरूप प्रतिपादन करते ही हैं। फिर आत्मा को ज्ञानरूप तो ज्ञानधर्म स्वीकार करनेवाले भी मानते ही हैं। इस दृष्टि से उधर भी तो यही प्रश्न होगा? क्या 'अनुभवामि' के समान 'ममस्वरूपं ज्ञानं' ऐसा अनुभव होता है? यदि नहीं तो प्रतिवादी भी अनुभव बल से आत्मा को ज्ञानरूप कैसे सिद्ध कर सकेगा? अथवा क्या मेरा ज्ञानस्वरूप है ऐसा अनुभव होने से आत्मा अनुभवरूप नहीं है ऐसा प्रतिवादी मान लेगा? अतः 'अहं मनुष्यः' यह प्रतीति जैसे देह तादात्म्याध्यास के कारण होने से अप्रमाण है वैसे ही 'अहमनुभवामि' यह प्रतीति भी अन्तःकरण तादात्म्याध्यास से ही होने से अप्रमाण है। अतः

इसके बल से आत्मा की ज्ञानरूपता का प्रत्याख्यान नहीं किया जा सकता है। क्योंकि आत्मा ज्ञानरूप है। यह उपनिषद् प्रमाण सिद्ध है। यद्यपि आत्मा का ज्ञातृत्व भी उपनिषदुक्त है तथापि लोकसिद्ध ज्ञातृता का उपनिषद् अनुवाद करती है—'विज्ञातारमरे केन विजानीयात्' (सब के विज्ञाता आत्मा को किससे जानें) ऐसे ही अनन्त कूटस्थ निर्विकार ज्ञानरूप आत्मा है। यह व्यवहारसिद्ध नहीं है। अतः तद्बोधक श्रुति अनुवादिका नहीं कही जा सकती क्योंकि जैसे ज्ञातृत्व लोकसिद्ध एवं व्यवहार्य है वैसे आत्मा की कूटस्थ निर्विकारता ज्ञानस्वरूपता व्यावहारिक नहीं है। अनन्यलभ्य ही वेदार्थ होता है।

फिर भी कहा जाता है कि "ज्ञानस्वरूप आत्मा में ज्ञातृत्व की उपपत्ति कैसे होगी?" परन्तु इसका समाधान यही है कि जैसे रज्जु में सर्पत्व की प्रतीति होती है वैसे ही अनुभवरूप आत्मा में ज्ञातृत्व भी अन्तःकरणादि के सम्बन्ध से अध्यस्त ही है। कहा जाता है कि "इस दृष्टि से तो चैतन्य आत्मा हुआ, अन्तःकरण विशिष्ट चैतन्य ज्ञाता हुआ। ज्ञानरूप आत्मा में ज्ञाता अध्यस्त है। इसका अर्थ यह हुआ कि विशेषण में विशिष्ट अध्यस्त है पर कहीं भी विशेषण में विशिष्ट का अध्यास नहीं देखा जाता।" पर यह कहना ठीक नहीं क्योंकि चैतन्य विशेष्य ही है विशेषण नहीं। चैतन्य में विशेषणत्व प्रतीति भी भ्रान्तिसिद्ध ही है। कहा जाता है "विशेष्य चैतन्य में भी विशिष्ट का अध्यास कैसे बन सकेगा।" पर यह भी ठीक नहीं। नीलं नभः (नील आकाश है) यहाँ विशेष्यभूत नभ में विशिष्ट नील नभ का अध्यास देखा जाता है। जो कहते हैं कि नभ में नील रूप का ही अध्यास होता है परन्तु उस दृष्टि से भी प्रकृत में चैतन्य में अन्तःकरण ही अध्यस्त है यह मान्य है। विशेष्य में विशिष्ट का अध्यास होने पर भी विशेषणांश में ही अध्यास पर्यवसित होता है।

कहा जाता है 'नीलं नभः' के समान 'अनुभवोऽहं' ऐसी प्रतीति नहीं होती फिर अहमर्थ रूप ज्ञाता का अनुभव में अध्यास कैसे माना जाय? परन्तु यह ठीक नहीं क्योंकि 'नीलं नभः' के समान 'ज्ञाताऽहं' ऐसी प्रतीति होती है। तथाच जैसे नभ में नैल्य अध्यस्त है वैसे ही अहं पद लक्ष्यार्थ प्रत्यक् अनुभवस्वरूप आत्मा में ज्ञातृत्व के अध्यस्त होने में कोई बाधा नहीं है। कहा जाता है कि "फिर तो 'नभोनील' के समान ही 'अनुभवो ज्ञाता' ऐसा अनुभव होना चाहिये" पर यह भी ठीक नहीं। नील रूप का विरोधी आकार नभ में नहीं है

इसीलिये वहाँ 'नीलं नभः' प्रतीति होती है परन्तु अनुभव में तो ज्ञातृत्व विरोधी आकार विद्यमान है, इसी से 'अनुभवो ज्ञाता' ऐसा अनुभव नहीं होता। जैसे 'अयं सर्पः' ऐसी प्रतीति होती है 'रज्जुः सर्पः' प्रतीति नहीं होती वैसे ही प्रकृत में भी समझना चाहिये। यहाँ भी कहा जाता है कि "निराकार अनुभव में ज्ञातृ-विरोधी आकार की सत्ता कैसे कही जा सकती है" पर यह शंका ठीक नहीं। लोक में ज्ञान ज्ञाता का ज्ञेय एवं ज्ञाता के समान भेद सिद्ध है। यद्यपि निर्विषय ज्ञानरूप अनुभव का ज्ञाता के आकार से कोई विरोध नहीं है, इसी से उसमें ज्ञाता के आकार का विरोध न होने से ही ज्ञाता का अध्यास होता है तथापि लोक तो सविषय ज्ञान को ही अनुभव समझता है और उसका ज्ञाता आत्मा से विरोध समझकर 'अनुभवो ज्ञाता' ऐसा नहीं समझता। इस तरह अनुभवगत ज्ञानाकार का ज्ञाताकार से विरोध होने से 'अनुभवो ज्ञाता' ऐसी प्रतीति न होने पर भी अनुभवगत अहमाकार का उससे विरोध न होने से 'अहं ज्ञाता' ऐसी प्रतीति होती है। कहा जाता है कि "अनुभव अहं शब्द का अर्थ ही नहीं है फिर अहमाकार अनुभवगत कैसे कहा जा सकता है?" पर यह कथन ठीक नहीं, अनुभव अहं शब्द का वाच्य न होने पर भी अहं पद का लक्ष्यार्थ है ही। कहा जा सकता है "अनुभव अहं का लक्ष्यार्थ ही है, मुख्यार्थ नहीं", पर यह कहना ठीक नहीं क्योंकि लोक दृष्टि से अनुभव अहं शब्द का अमुख्यार्थ है परन्तु शास्त्र दृष्टि से वही मुख्यार्थ है। जिसमें शब्द का तात्पर्य होता है वही मुख्यार्थ मान्य होता है। अहं शब्द आत्मवाची है और आत्मा अनुभवरूप ही है। इस तरह अहं शब्द वोध्य आत्मा में ज्ञाता का अध्यास होने से 'अहं ज्ञाता' ऐसा अनुभव होता है। आत्मा ज्ञाता है यह शास्त्रीय व्यवहार भी होता है। वस्तुतः अनुभवरूप आत्मा में ज्ञातृत्व सोपाधिक एवं काल्पनिक ही है। जैसे नीरूप नभ में नीलरूपत्व मिथ्या है।

कुछ लोग कहते हैं कि "विषय प्रकाशक संविद् को ही आत्मा मानने पर उसमें अध्यास नहीं बन सकेगा क्योंकि अद्वैती संविद् के स्वयं प्रकाशत्व का समर्थन करते हैं, और वही संविद् अधिष्ठान रूप से मान्य है। फिर तो जैसे भ्रम-विरोधी शुक्तित्व आदि के भासमान होने पर रजतादि का भ्रम नहीं होता वैसे ही अधिष्ठान रूप संविद् के भासमान रहने पर फिर उसमें ज्ञातृत्व आदि का अध्यास कैसे बन सकेगा?" परन्तु यह कथन भी ठीक नहीं क्योंकि ज्ञाता के अध्यास के पहले संविद् में विषय प्रकाशत्व ही नहीं होता। फिर भी कहा जा सकता है कि "फिर तो संविद् का स्वप्रकाशत्व भी नहीं सिद्ध होगा।" परन्तु

यह आपत्ति तो प्रतिवादिसंमत दीप के स्वप्रकाशत्व में भी होगी। घटादि विषय प्रकाशक होने से ही दीप की स्वप्रकाशता उसके मत में मान्य होती है। प्रकाशान्तर निरपेक्ष होकर प्रकाशमानत्व ही स्वप्रकाशत्व है। संविद् में ज्ञाता के अध्यास के पहले विषयाभाव होने के कारण विषय प्रकाशकत्व न होने पर भी उक्त प्रकार का स्वप्रकाशत्व संभव है। इस तरह निर्विषय स्वप्रकाश संविद् में ही ज्ञाता का अध्यास होता है।

कहा जाता है "यदि आत्मा का ज्ञातृत्व मिथ्या हो तभी ज्ञाता अध्यस्त कहा जा सकता है, परन्तु यदि ज्ञातृत्व मिथ्या होगा तब तो आत्मरूप से अभिमत अनुभूति भी मिथ्या ठहरेगी"। परन्तु यह कथन भी ठीक नहीं है क्योंकि सिद्धान्त में ज्ञातृत्व और अनुभव दोनों एक वस्तु नहीं है। यदि दोनों एक हों तभी ज्ञातृत्व के मिथ्यात्व में अनुभव को मिथ्या कहा जा सकता है। ज्ञाता का वास्तव स्वरूप ही अनुभव है, धर्म नहीं। कहा जा सकता है कि "अनुभव में अध्यस्त ज्ञाता का स्वरूप अनुभव कैसे हो सकता है" परन्तु यह ठीक नहीं है क्योंकि कल्पित का अधिष्ठान ही वास्तव रूप होता है।

कहा जाता है जैसे देहात्माभिमानवान् में ही ज्ञातृत्व प्रतीत होता है वैसे ही अनुभूति भी उसी को प्रतीत होती है। इसलिये ज्ञातृत्व के मिथ्या होने पर अनुभव के भी मिथ्यात्व का प्रसंग होगा ही। परन्तु यह भी ठीक नहीं क्योंकि देहादि अनात्मामें आत्माभिमान करनेवाला हो 'मनुष्योऽहं, द्रष्टाऽहं, ज्ञाताऽहं' ऐसा अनुभव करता है। तादृश अभिमानशून्य तो 'अनुभव हूँ' ऐसा ही समझता है। देहादि आत्माभिमानवान् को मैं अनुभवस्वरूप हूँ ऐसी प्रतीति नहीं होती।

कहा जाता है कि "मुझे देहादि अभिमान नहीं है फिर भी मैं ज्ञाता हूँ, मुझे ऐसी प्रतीति होती है" पर यह कहना ठीक नहीं क्योंकि उक्त प्रतीति अन्तःकरण तादात्म्याध्यास से ही होती है। कहा जाता है "अनुभव के तुल्य ज्ञातृत्व भी अबाधित है अतः वह भी मिथ्या नहीं है"; पर यह भी कथन ठीक नहीं। यहाँ प्रश्न होगा कि क्या जानामि इस प्रतीति से ज्ञातृत्वसिद्धि अभीष्ट है, अथवा शास्त्र से? पहला पक्ष इसलिये ठीक नहीं है कि सुषुप्ति आदि में जानामि ऐसी प्रतीति नहीं होती। अतः आत्मा का ज्ञातृत्व न सिद्ध हो सकेगा। दूसरा पक्ष भी इसलिये ठीक नहीं है कि शास्त्र निर्धर्मक परमानन्द रूप ही आत्मा का प्रतिपादन करता है। कहते हैं मुक्ति में भी आत्मा ज्ञाता ही रहता

है; परन्तु यह ठीक नहीं क्योंकि मुक्ति में द्वितीय न होने से ज्ञेयाभावात् ज्ञातृत्व अनुपपन्न ही होगा।

कुछ लोग कहते हैं "मुक्ति में द्वितीय रहता ही है" परन्तु उनके मतानुसार 'एकमेवाद्वितीयम्', 'नान्यत्पश्यति', 'केन कं पश्येत्' इत्यादि श्रुतियों का स्वारस्यभङ्ग अनिवार्य है।

कुछ लोग कहते हैं कि "अनुभव भी बाधित ही है।" पर यहाँ सोचना पड़ेगा कि अनुभव का बाध किससे होगा? कहा जा सकता है कि सुप्ति आदि में अनुभव नहीं रहता इसलिये काल से अनुभव बाध्य होगा, पर यह ठीक नहीं कारण कि सुप्ति में अज्ञान सुखादि का अनुभव रहता ही है। इसके अतिरिक्त जो वस्तु अनुभवाधीन स्थितिवाली होती है वह सभी अनुभवाधीन स्थितिवाली होने से परतन्त्र ही है, फिर वह अनुभव का बाधक कैसे होगी? देश, काल, वस्तु सभी अनुभवाधीन ही होते हैं अतः उनसे अनुभव का बाध नहीं हो सकता। अनुभव ही आत्मा है अतः उसका बाध नहीं हो सकता है। आत्मा प्रतिवादी को भी नित्य रूप से मान्य है।

फिर भी कहा जाता है कि "यदि ज्ञातृत्व आत्मधर्म नहीं है तब तो वह शशशृङ्गवत् ही होगा, क्योंकि आत्मभिन्न सब जड़ ही है। जड़ में ज्ञातृत्व होगा ही नहीं अतः कहीं भी ज्ञातृत्व नहीं उपपन्न होगा इसलिये 'अहं जानामि' इस प्रतीति से सिद्ध ज्ञातृत्व आत्मधर्म ही है।

"अहङ्कार का धर्म यह नहीं हो सकता क्योंकि अहङ्कार जड़ है।" परन्तु यह भी ठीक नहीं क्योंकि यद्यपि अन्तःकरण वृत्तिविशेष अहङ्कार स्वतः जड़ ही है तथापि चित्प्रतिबिम्बग्राही होने से अजड़ ही होता है। अतएव "देह के तुल्य दृश्य होने से जैसे अहङ्कार में द्रष्टृरूपता नहीं बन सकती वैसे द्रष्टृत्व भी उसमें उपपन्न न होगा" यह कथन भी निःसार सिद्ध हो जाता है। केवल अहङ्कार के दृश्य होने पर भी साभास अहङ्कार में द्रष्टृत्व बन ही जाता है।

लोक में मनुष्यादि चेतन, पाषाणादि अचेतन कहे जाते हैं। वह चेतनत्व जीवधर्म है देहादि धर्म नहीं, फिर कैसे मनुष्यादि को चेतन कहा जाता है? मनुष्यादि तो देह ही है क्योंकि मनुष्यत्वादि देहधर्म ही है। अतः यहाँ कहना पड़ेगा कि जीवधर्म चेतनत्व का देह में अध्यास होने से ही मनुष्यादि चेतन हैं ऐसा व्यवहार होता है। उस जीवधर्म चेतनत्व का घटादि में अध्यास नहीं होता इसीलिये अचेतन कहे जाते हैं। इसी तरह देहधर्म मनुष्यत्व का जीव में

अध्यास होने से 'अहं मनुष्यः' ऐसा व्यवहार होता है। इस प्रकार इतरेतराध्यास से ही लोकव्यवहार चलता है। घटादि अचेतनों की दृष्टि से देह भी चेतन कहा जाता है। देह, इन्द्रिय का विश्लेषण करते समय इन्द्रिय ही चेतन है और देह अचेतन, क्योंकि इन्द्रियों के न होने से ही मृत देह घटादि तुल्य अचेतन कहा जाता है। परन्तु अन्तःकरण से विवेचन करते समय इन्द्रियों में भी अचेतनत्व ही मान्य है क्योंकि मन के असहयोग होने पर इन्द्रियों की निर्व्यापारता स्पष्ट देखी जाती है। उस मन की भी दो वृत्ति हैं एक इदं वृत्ति दूसरी अहं वृत्ति। इदं वृत्तिवाला अन्तःकरण मन कहलाता है अहं वृत्तिवाला अन्तःकरण अहङ्कार कहलाता है। अहङ्कार से विवेचित मन भी अचेतन ही होता है। अतएव 'मम घटः' के समान ही 'मम मनः' ऐसा व्यवहार देखा जाता है, घटादि के तुल्य मन की चेतन परतंत्रता देखी जाती है, अचेतन वस्तु चेतन के परतंत्र होती ही है। जैसे वासी (वसूला) आदि वर्द्धकि के परतंत्र होते हैं तद्वत् यह अहङ्कार चेतन जीव के अधिष्ठित होने से उसका मुख्य उपाधि है। शुद्ध चेतन से उसका विवेचन करने पर यह भी अचेतन ही सिद्ध होता है परन्तु अविवेक से अहङ्कार ही चेतन प्रतीत होता है। जैसे देह विवेक बिना चेतन ही प्रतीत होता है तद्वत्। अहङ्कार और आत्मा का विवेक बहुत ही दुष्कर है। इसी लिये विद्वानों को भी इसमें व्यामोह होता है। यही चिज्जडग्रन्थि है। यह निःसन्धि बन्धन ग्रन्थि है, इस सम्बन्ध में कहा गया है "श्रुति पुरान बहु कहेउ उपाई। छूट न अधिक अधिक अरुझाई॥" देह एवं आत्मा का विवेक तो अविद्वान् के लिये ही दुष्कर है परन्तु अहङ्कारात्मक अन्योऽन्याध्यास रूप ग्रन्थि तो विद्वानों के लिये भी दुर्बोध है। इस तरह आत्मचैतन्य के अध्यास से अहङ्कार में चेतनता प्रतीत होती है। अहङ्कार तादात्म्याध्यास के कारण आत्मा में अहंप्रत्यय गोचरता होती है। परस्पराध्यास के कारण ही 'अहं जानामि' ऐसा व्यवहार होता है। अहङ्कार विशिष्ट ही आत्मा का मन के साथ अन्योऽन्याध्यास होता है तब 'अहं सुखी' ऐसा व्यवहार होता है। इसी तरह अहङ्कार विशिष्ट आत्मा का ही देह के साथ तादात्म्याध्यास से 'अहं मनुष्यः' ऐसा व्यवहार होता है। आत्मा में अहङ्कार का अध्यास ही प्राथमिक अध्यास है। मन आदि तो अहङ्कार विशिष्ट आत्मा में ही अध्यस्त होते हैं। इसी लिये मन आदि से आत्मा का विवेक कुछ सुकर किन्तु आत्मा और अहङ्कार का विवेक दुष्कर है। जैसे अत्यन्त अविवेकी देहमात्र में ही आत्मभाव मानने लगता है, उसी तरह अहङ्कार में आत्मारूढ़ मानवान् विद्वान् भी अहङ्कार के मात्र में आत्मभाव समझने लगता है।

"अहमर्थ आत्मा ही है, अहङ्कार अहमर्थ नहीं है" यह बात वदतो व्याघात जैसे ही है। जैसे घटार्थ घट नहीं है यह कहना व्याहत है, वैसे ही यहाँ भी समझना चाहिये। यदि अहमर्थ ही आत्मा है ऐसा आग्रह किया जाय तो सुषुप्ति में अहमर्थ रूप आत्मा का नाश मानना पड़ेगा क्योंकि सुषुप्ति में अहमर्थ का स्फुरण नहीं होता। जागर, स्वप्न के तुल्य सुषुप्ति में 'अहं जानामि' ऐसा व्यवहार नहीं होता है अतः अहमर्थ अहङ्कार में चेतन आत्मा के अत्यन्त सन्निहित होने से चेतन तादात्म्याध्यास से चेतनत्व लाभ होता है। इसी दृष्टि से स्वतः जड़ होने पर भी उसमें चेतनता भासित होती है।

फिर भी यह प्रश्न किया जाता है, "चेतन जीव में ज्ञातृत्व है या नहीं? पहला पक्ष मानने से सिद्धांत हानि होगी। दूसरा पक्ष भी ठीक नहीं क्योंकि जब जीव में ही ज्ञातृत्व न होगा तो फिर जीवाध्यस्त अहङ्कार में ज्ञातृत्व कहाँ से आयेगा?" परन्तु यह भी ठीक नहीं क्योंकि सूर्य के तुल्य चेतन में प्रकाशकत्व होता है। सूर्य प्रतिबिम्ब ग्रहण से जैसे दर्पण में भी प्रकाशकत्व होता है उसी तरह चेतन प्रतिबिम्ब ग्रहण से अहङ्कार में भी ज्ञातृत्व उपपन्न होता है। आत्मा के अनुप्रवेश से चैतन्यलाभ कर अहङ्कार सब वस्तुओं को प्रकाशता हुआ अहंग्रह पूर्वक ही प्रकाशता है। आत्मा तो केवल अवभास रूप ही होता है। प्रकाशस्वरूप सूर्य में जैसे प्रकाशकत्व व्यवहार होता है, उसी तरह अखण्डबोध स्वरूप आत्मा में भी अवभासकत्व व्यवहार होता है। ज्ञात या अज्ञात रूप से सर्वसामान्य का अवभासक आत्मा होता है। विशेषाकार से तत्तद् वस्तु भासक अहं पदार्थ अहङ्कार होता है। इस तरह जीव का विद्यमान प्रकाशकत्व ही अध्यस्त अहङ्कार में आता है, वही अहंग्रहपूर्वक अहङ्कार का ज्ञातृत्व कहलाता है। जैसे आत्मा सर्वभासक है वैसे ही साभास अहङ्कार भी सर्वभासक होता है, परन्तु साभास अहङ्कार सब वस्तुओं को प्रकाशता हुआ 'अहमिदं जानामि' इस रूप से जानता है। इसी लिये अहङ्कार में ज्ञातृत्व व्यवहार होता है परन्तु आत्मा में केवल ज्ञानरूपता ही रहती है।

जो कहते हैं "आत्मा ही 'अहं जानामि' ऐसा समझता है, उनके मत में अन्वयव्यतिरेक विरोध अवश्य होगा। जागर स्वप्नमें अहं रहता है इसी लिये 'अहं जानामि' व्यवहार होता है। परन्तु सुषुप्ति में अहं नहीं रहता इसलिये वैसा व्यवहार भी नहीं होता। यदि यह व्यवहार आत्मा का होता तो तीनों ही अवस्थाओं में वैसा होना चाहिये क्योंकि आत्मा तो सर्वावस्थान्वयी है। अतः

साभास अहङ्कार या अहङ्कार विशिष्ट चैतन्य ही ज्ञाता है आत्मा नहीं, वह तो दृशिस्वरूप ही है।

कहा जा सकता है कि "यदि आत्मा विषयावभासक है तब तो वही ज्ञाता भी है" पर यह ठीक नहीं, क्योंकि विषयावभासकत्व तो ज्ञान में भी प्रतिवादी को संमत ही है अतः विषयावभासकत्व एवं ज्ञातृत्व दोनों एक नहीं। यदि विषयावभासकत्व ही ज्ञातृत्व है तो भी विचारणीय है कि क्या यह ज्ञातृत्व वस्तुभूत है या व्यावहारिक? पहला पक्ष ठीक नहीं क्योंकि जब विषय ही वास्तविक नहीं तो फिर तन्निरूपित ज्ञातृत्व कैसे वस्तुभूत होगा? द्वितीय पक्ष तो मान्य ही है। प्रत्यगात्मा अन्तःकरण तादात्म्याध्यास से ज्ञाता होता है यह ठीक ही है।

यह भी कहा जाता है कि "यदि विषयावभासकत्व ही ज्ञानत्व है तब फिर वस्तुतः आत्मा ज्ञानस्वरूप कैसे होगा?" परन्तु यह कथन ठीक नहीं क्योंकि विषयप्रकाशकत्व रूप ज्ञानत्व आत्मा में व्यावहारिक ही है। जैसे प्रतिवादी के मत में ज्ञातृत्व आत्मा का अनौपाधिक रूप है, देहादि तादात्म्याध्यास से 'अहं मनुष्यः' प्रतीति होती है, वैसे ही अद्वैति मत में अहङ्कार तादात्म्याध्यास से आत्मा में ज्ञातृत्व होता है। विषयप्रकाशकत्वमात्र की दृष्टि से ज्ञानत्व होता है, अतएव 'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्यमनसा सह' यह श्रुति आत्मा को वाङ्मनसातीत कहती है। ज्ञानादि पदों की भी लक्षणा के द्वारा ही आत्मबोधकता है। तदिदं इस रूप से उसका निर्देश नहीं किया जा सकता इसी लिये नेति नेति शब्द से उसका श्रुति प्रतिपादन करती है। निषेध के अवधि रूप में श्रुति उसे बतलाती है—"श्रुतयस्त्वयि हि फलन्त्य तन्निरसनेन भवन्निधनाः।"

कहा जाता है कि "विधि मुख से भी वेदान्तों की प्रवृत्ति मान्य है ही," यह ठीक है परन्तु जब तक व्यवहार है तब तक विषयप्रकाशकत्व रूप ज्ञानत्व ब्रह्म में होता है। इसी दृष्टि से ब्रह्म में ज्ञान, सत्य, आनन्द आदि पदों का प्रयोग होता है। वस्तुतः ब्रह्म में यह ज्ञानत्व भी नहीं होता। इसी लिये श्रुति निषेधमुख से ब्रह्म प्रतिपादन करती है। अतः ब्रह्म निर्विशेष है।

कुछ लोग कहते हैं यदि निर्विशेष ब्रह्म में कोई विशेष नहीं है तो उसे शून्य ही क्यों न समझा जाय? परन्तु विशेषाभाव के अधिष्ठान को शून्य नहीं कहा जा सकता। शून्य किसी का अधिष्ठान नहीं होता। निर्विशेष ब्रह्म से

अभिन्न होने के कारण आत्मा भी निर्विशेष है, फिर भी ब्रह्म यावद् व्यवहार ज्ञानस्वरूप है। उसी में अहङ्काराध्यास से ज्ञातृत्व व्यवहार होता है।

कहा जा सकता है "इस तरह तो ज्ञातृत्व के समान ही ज्ञानत्व भी मिथ्या ही है, फिर ज्ञातृत्व ही मिथ्या है इस कथन का क्या तात्पर्य ?" इसका समाधान यह है कि अध्यास प्रयुक्त होने से ज्ञातृत्व मिथ्या है, परन्तु ज्ञानत्व वैसा नहीं है इसलिये वह मिथ्या नहीं कहा जाता। अपारमार्थिकत्व रूप मिथ्यात्व उभयत्र समान ही है। फिर भी कहा जाता है कि "फिर तो ज्ञान रूप आत्मा भी मिथ्या ही हुआ" पर यह ठीक नहीं क्योंकि विषयप्रकाशकत्व रूप ज्ञानत्व के मिथ्या होनेपर भी ज्ञानस्वरूप का मिथ्यात्व नहीं। कहा जाता है कि "फिर तो इसी तरह ज्ञाता भी मिथ्या नहीं कहा जा सकता क्योंकि वह चैतन्य रूप है।" परन्तु यह ठीक नहीं कारण, चैतन्यरूप से अमिथ्या होनेपर भी अहङ्कारविशिष्ट चैतन्य-रूप से ज्ञाता मिथ्या ही है। यदि विशेषांश में ही पक्षपात हो तो कहा जा सकता है कि ज्ञातृत्व ही मिथ्या है ज्ञाता नहीं। घटादि में भी घटाद्यवच्छिन्न चैतन्यरूप विशेष्य पक्षपात से मिथ्यात्व नहीं है किन्तु घटत्वादि का ही मिथ्यात्व है।

आत्मा में कल्पित घटादि विषय एवं ज्ञाता अहङ्कार में जो अधिष्ठान एवं स्वरूपभूत विज्ञान है वह सत्ता एवं सुख से अभिन्न है। वही आत्मा है और वह निर्विशेष है। उसमें विषयप्रकाशकत्व तो ज्ञातृत्वादि के तुल्य कल्पित ही है। विषयप्रकाशकत्व रूप शब्दप्रवृत्ति निमित्त वस्तुतः आत्मा में नहीं है अत-एव ज्ञान शब्द भी आत्मा में नहीं प्रवृत्त होता इसी लिये उसे शब्दाविषय कहा गया है। तात्पर्यवृत्ति से ही ज्ञान, आत्मादि शब्दों से आत्मा का प्रतिपादन किया जाता है। तात्पर्यवृत्ति एवं निषेधमुख से उपनिषत्प्रतिपाद्य होने से ही ब्रह्मात्मा को औपनिषद् कहा जाता है।

कुछ लोग कहते हैं कि "आत्मा में ज्ञातृत्व अहङ्काराध्यास के कारण नहीं किन्तु ज्ञानत्व के तुल्य स्वाभाविक ही है क्योंकि आत्मा अहङ्कार का भी तो ज्ञाता है ही। अहङ्कारज्ञातृत्व को अहङ्काराध्यास-प्रयुक्त नहीं कहा जा सकता", पर यह कथन भी ठीक नहीं, क्योंकि साभास अहंकार ही घटादि के तुल्य अपने को भी जान ही सकता है। इसमें कर्मकर्तृ विरोध नहीं है, छेत्ता द्वारा स्वकरादि छेदन देखा ही जाता है। अहंकारकर्तृक जो ज्ञान होता है वही क्रिया है। कहा जा सकता है कि फिर तो इसी तरह आत्मा भी आत्मा को जान सकता है पर यह ठीक नहीं, क्योंकि आत्मा

निष्क्रिय है। अतः वह ज्ञानक्रिया का आश्रय नहीं हो सकता। निर्विकार आत्मा ज्ञान का कर्ता भी नहीं हो सकता क्योंकि कर्तृत्व विकार ही है। इसलिये ज्ञानक्रिया-कर्तृत्व आत्मा में स्वाभाविक नहीं किन्तु औपाधिक ही है।

कहा जाता है "जैसे ज्ञातृत्व औपाधिक है वैसे ही ज्ञानत्व भी औपाधिक ही है क्योंकि अन्तःकरण से उपहित आत्मा ही विषय प्रकाशक होता है, मुक्त प्राप्य शुद्ध आत्मा में विषयप्रकाशकत्व नहीं होता" पर यह कहना ठीक नहीं। क्योंकि यद्यपि अन्तःकरण विशिष्ट आत्मा में ज्ञातृत्व एवं अन्तःकरणोपहित में ज्ञानत्व होता है, तथापि आत्मा के विषयप्रकाशन रूप कार्य में अन्तःकरण अन्वयी नहीं होता, इसी लिये अन्तःकरण विशेषण और उपाधिरूप से प्रमाता और साक्षी का भेदक होता है। जो कार्यान्वयी होकर व्यावर्तक होता है वह विशेषण होता है और जो कार्यानन्वयी होकर व्यावर्तक है वह उपाधि होता है। इस दृष्टि से ज्ञातृत्व औपाधिक है और इसकी अपेक्षा ज्ञानत्व स्वाभाविक है। फिर कहा जाता है कि "यदि साभास अहंकार ही द्रष्टा है, आत्मा तो ज्ञानरूप ही है तब तो 'नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा' इस श्रुति से आत्मा से भिन्न द्रष्टा का निषेध होने से आत्मा ही द्रष्टा सिद्ध होता है। इस तरह श्रुतिविरोध स्पष्ट है" पर यह ठीक नहीं। क्योंकि अहंकारादि सेतर सर्ववस्तु भासकत्व रूप द्रष्टृत्व तो आत्मा में ही रहता है परन्तु ज्ञानक्रिया कर्तृत्व रूप ज्ञातृत्व या द्रष्टृत्व अहंकार में ही होता है, अतः श्रुतिविरोध नहीं होता। फिर भी कहा जाता है कि 'मम मनः' के समान ही 'मम अहंकारः' ऐसा भी व्यवहार होता है। दृश्य अहंकार से द्रष्टा आत्मा भिन्न ही है। द्रष्टा दृश्य को देखकर ही 'ममायम्' ऐसा समझता है" पर यह ठीक नहीं। 'ममाहङ्कारः' मेरा अहङ्कार है ऐसा जो समझता है वह साभास अहङ्कार ही है आत्मा नहीं, क्योंकि सुषुप्ति में आत्मा को 'ममाहङ्कारः' ऐसी बुद्धि नहीं होती। जैसे देहात्मवादी के मत में 'मम देहः' यह व्यवहार बनता है वैसे ही अहङ्कारात्म वादी के यहाँ भी 'ममाहङ्कारः' यह व्यवहार बन जाता है, परन्तु ऐसा ही व्यवहार जब ब्रह्मविद् का होता है तब वहाँ अस्मच्छब्द लक्ष्यार्थ प्रत्यगात्मा का उपाधिभूत अहङ्कार है यह उक्त व्यवहार का अर्थ होता है। वहाँ अवभास्य अहंकार का अवभासक द्रष्टा आत्मा ही है।

कहा जाता है कि "दृशि ही आत्मा है यह पहले कहा गया है, अब यहाँ द्रष्टा को आत्मा कैसे कहा जा रहा है?" पर यह ठीक नहीं क्योंकि विषयाव-भासकत्व रूप द्रष्टृत्व एवं दृशित्व का अभेद ही सिद्धान्त में मान्य है। विषयाव-भापकत्व ही दृशित्व भी है अतएव द्रष्टा आत्मा का दर्शन ही स्वरूप है।

यदि कहा जाय कि "तब तो फिर विषयावभासकत्वरूप द्रष्टृत्व ही साभास अहंकार का भी है फिर वही आत्मा क्यों न माना जाय ? अतः आत्मा ज्ञाता न हो यह कैसे कहा जा सकता है ?" परन्तु उक्त कथन ठीक नहीं, क्योंकि अहंग्रहपूर्वक विषयावभासकत्व ज्ञातृत्व है। अहंग्रहरहित भासकत्वरूप द्रष्टृत्व आत्मा में मान्य है, यह कहा जा चुका। इसलिये ज्ञाता अहमर्थ साभास अहङ्कार ही है। ज्ञानस्वरूप प्रत्यगात्मा अहं शब्द का लक्ष्यार्थ ही है। 'अहं जानामि' इत्यादि प्रतीति में ज्ञाता अहं पद वाच्य है, 'अहं ब्रह्मास्मि' इस प्रतीति में अहं पद का लक्ष्यार्थ शुद्ध आत्मा है।

कहा जाता है "जैसे दृशिकर्म अहङ्कार में दृशित्व नहीं बनता वैसे दृशिकर्म अहङ्कार में द्रष्टृत्व भी नहीं बन सकता" परन्तु यह ठीक नहीं, क्योंकि जैसे प्रतिवादी के मत में 'मामहं जानामि' इस प्रतीति के अनुसार दृशिकर्म आत्मा में द्रष्टृत्व भी मान्य है वैसे ही इधर भी साभास अहङ्कार में द्रष्टृत्व एवं दृशि कर्मत्व होने में कोई आपत्ति नहीं। कहा जाता है "फिर भी अभिन्न में कर्मकर्तृविरोध होगा ही" परन्तु यह भी ठीक नहीं। 'मामहं छिनद्मि' (मैं अपना छेदन करता हूँ) इस प्रतीति के तुल्य ही 'मामहं जानामि' यह प्रतीति भी होती है। अतएव कर्तृत्व कर्मत्व का सामानाधिकरण्य सिद्ध होता है। निरंश में उक्त विरोध होने पर भी सांश एवं विकारी में उक्त व्यवहार होता ही है।

फिर भी यहाँ प्रश्न होता है कि "क्या आत्मा में अहंबुद्धि होती है या अनात्मा में ? यदि पहला पक्ष है तो फिर अहङ्कार को अहमर्थ क्यों कहा जाता है ? यदि दूसरा पक्ष मान्य है तब तो फिर घटादि अनात्मा में अहंबुद्धि क्यों नहीं होती ?" परन्तु यह भी कथन ठीक नहीं; कारण अहंबुद्धि न केवल आत्मा में होती है और न केवल अनात्मा में किन्तु आत्माध्यास विशिष्ट अहङ्कार में ही अहंबुद्धि होती है। 'अहं जानामि' इस प्रतीति में वही अहमर्थ है। 'अहं पश्यामि' इसमें चक्षुरादि इन्द्रियाध्यास विशिष्ट अहङ्कार है। 'अहं स्थूलः' यहाँ देहाध्यास विशिष्ट अहङ्कार होता है।

कुछ लोग कहते हैं "अहं जानामि इस प्रतीति से अहङ्कार में आत्माध्यास वैशिष्ट्य नहीं होता।" परन्तु यह ठीक नहीं, क्योंकि जड़ अहङ्कार में चैतन्य का अध्यास हुए विना ज्ञातृत्व नहीं बन सकता। फिर भी कहा जाता है कि "आत्माभास विशिष्ट अहङ्कार में ज्ञातृत्व हो ही जायगा।" परन्तु आभास और अध्यास एक ही वस्तु है, यदि भेद है तो भी आत्माभास के साथ भी तो अहङ्कार का अध्यास मानना पड़ेगा। वह आत्माभास आत्मा से वैसे ही पृथक् नहीं है जैसे बिम्ब से प्रतिबिम्ब। एक ही मुख में उपाधिवशात् बिम्बप्रतिबिम्ब रूप से द्वैधा

प्रतीति होती है। इसी तरह अन्तःकरणरूप उपाधि के कारण चित् में बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव होता है, परमार्थ परब्रह्मात्म साक्षात्कार के पहले अहंबुद्धि का विषय साभास अहङ्कार ही होता है। तत्त्वविद् के अहंबुद्धि का विषय विविक्त प्रत्यगात्मा ही है। कहा जा सकता है 'अहङ्कार रहित केवल आत्मा में विद्वान् को भी अहंबुद्धि क्यों होती है?' परन्तु यह ठीक नहीं, कारण विद्वान् को भी अहंकारोपहित ही प्रत्यगात्मा में अहंबुद्धि होती है। फिर भी कहा जाता है कि 'तब तो मायोपहित परमेश्वर में विद्वान् को अहंबुद्धि नहीं होती फिर ब्रह्म एवं आत्मा की अभेद बुद्धि कैसे होगी?' परन्तु यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि जो चैतन्य वस्तु मायोपहित है वही अन्तःकरणोपहित होकर प्रत्यगात्मा कहा जाता है। इसी लिये कहा जा सकता है कि अन्तःकरणोपहित आत्मा तो परिच्छिन्न होता है फिर अपरिच्छिन्न ब्रह्म के साथ कैसे अभेद होगा? पर यह ठीक नहीं है, क्योंकि अन्तःकरण परिच्छिन्न होने से आत्मा अन्तःकरणोपहित नहीं कहा गया है किन्तु अन्तःकरण में उपलभ्यमान होने से ही अन्तःकरणोपहित कहा गया है। कहा जाता है कि तब तो आत्मा दृश्य हो गया। पर यह ठीक नहीं, क्योंकि लयविक्षेपशून्य होने से अन्तःकरण पर आत्मा का स्फुरण होता है। यही अन्तःकरण में उपलभ्यमान होने का अर्थ है। वह स्फुरण गोचर न होने से दृश्य नहीं होता। उपलब्धा भी आत्मा ही है, यह कहना ठीक नहीं क्योंकि उपलब्धा प्रमाता ही है, प्रत्यगात्मा साक्षिस्वरूप है।

कहा जाता है कि "साक्षाद्द्रष्टरि संज्ञायां इस पाणिनि सूत्र के अनुसार साक्षी भी तो द्रष्टा ही होता है दृशि नहीं। इसी लिये साक्षी के द्वारा प्रमाता भी दृश्य होता है"; पर यह भी ठीक नहीं, क्योंकि साक्षिगत द्रष्टृत्व विषयावभासकत्व रूप ही है ज्ञातृत्व नहीं यह कहा जा चुका है। जहाँ ज्ञान या दृशि क्रिया का कर्तृत्व होता है वहीं ज्ञातृत्वरूप द्रष्टृत्व होता है। जहाँ नित्य स्वरूपभूत बोध से विषयभान होता है वहीं साक्षित्वरूप द्रष्टृत्व होता है।

कहा जाता है "निर्विकार आत्मा में ज्ञातृत्वरूप विकार नहीं हो सकता इसी लिये आत्मा ज्ञाता नहीं है यह कहा गया है। परन्तु वस्तुतः आत्मा में विक्रियात्मक ज्ञातृत्व नहीं मान्य होता है किन्तु ज्ञान गुणाश्रयत्व रूप ज्ञातृत्व आत्मा में मान्य हो तो क्या हर्ज है? आत्मा नित्य है अतः उसका स्वाभाविक धर्म ज्ञान भी नित्य ही है"; पर यह ठीक नहीं, क्योंकि ज्ञा धात्वर्थज्ञान क्रिया ही है गुण नहीं। ज्ञानक्रियाश्रयत्व रूप ज्ञातृत्व विकार ही है और यह आत्मा के स्वरूपभूत ज्ञान से अतिरिक्त है।

आत्मा एवं कर्तृत्व

कुछ लोग कहते हैं कि "कर्तृत्व विक्रिया है एतावता अहमर्थ को आत्मा नहीं कहा जा सकता। परन्तु यह ठीक नहीं, क्योंकि 'कर्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम्' इत्यादि श्रुतियों के द्वारा परमात्मा को कर्ता कहा गया है। परमात्मा अनात्मा नहीं हो सकता, 'कर्ता शास्त्रार्थवत्वात्' इत्यादि सूत्र से बादरायण ने भी आत्मा को कर्ता ही कहा है। यदि कर्ता होने के कारण आत्मा अनात्मा हो जायगा तब तो अकर्ता होने के कारण घटादि को भी आत्मा मानना चाहिये।" परन्तु यह ठीक नहीं, क्योंकि जो अनात्मा है वह कर्ता है ऐसी व्याप्ति मान्य नहीं किन्तु जो कर्ता है वह अनात्मा है यही व्याप्ति है। अकर्ता घटादि के अनात्मत्व में कर्तृत्व प्रयोजक नहीं किन्तु दृश्यतादि ही अनात्मत्व का प्रयोजक है। 'निष्कलं निष्क्रियं शान्तं' इत्यादि श्रुतियों के अनुसार आत्मा को निष्क्रिय कहा गया है। परमात्मा और आत्मा का अभेद ही है। कूटस्थ परमात्मा में स्वतः जगत्कर्तृत्व आदि भी नहीं बनता किन्तु माया से वैसे ही बनता है जैसे मरुभूमि में पङ्किलत्व। अतः निष्क्रिय ही आत्मा है। कर्तृत्व तो माया सम्बन्ध से ही कहा गया है। माया अनात्मा ही है। अन्तःकरण संसर्ग से ही आत्मा में कर्तृत्व का व्यवहार होता है। उसी का श्रुति सूत्रादि अनुवाद करते हैं। अनुवाद का स्वार्थ में तात्पर्य नहीं होता। कर्ता तो अवश्य ही क्रिया से विकृत होता है। अविकृत में कोई क्रिया हो नहीं सकती। जो विक्रियावान् है वह अवश्य अनित्य होता है यदि अविक्रिय है तो उसको निष्क्रिय होना ही चाहिये। यदि निष्क्रिय होगा तो वह ज्ञाता नहीं बन सकेगा क्योंकि ज्ञान तो क्रिया ही है। कहा जाता है कि "यदि आत्मा ज्ञाता नहीं है तब तो (ज्ञोऽत एव) इस ब्रह्म सूत्र का विरोध होगा, क्योंकि उसमें आत्मा को ज्ञाता ही माना गया है"। पर यह ठीक नहीं; वहाँ 'ज्ञः' का अर्थ नित्य ज्ञानस्वरूप ही है ज्ञाता नहीं।

कहा जा सकता है कि "जानातीति ज्ञः इस व्युत्पत्ति से नित्य चैतन्यवान् ज्ञाता आत्मा ही ज्ञः कहा गया है।" पर यह ठीक नहीं; यहाँ जानाति का प्रकाशयति ही अर्थ है। आत्मा स्वरूपभूत ज्ञान से सामान्य रूप से सर्वप्रकाशक है। किन्तु वृत्ति प्रतिफलित चैतन्य के द्वारा तद्विशिष्ट विषयों का भी प्रकाशन करता है। अतएव 'यः सर्वज्ञः सर्ववित् यस्य ज्ञानमयं तपः।' इस श्रुति

में वह सर्वज्ञः एवं सर्वविद् कहा जाता है; अन्यथा सर्वज्ञ एवं सर्ववित् शब्द का यदि एक ही अर्थ है तो पुनरुक्ति प्रसंग अवश्य होगा।

प्रश्न किया जाता है "क्या यह आत्मा सब कुछ अपने लिये प्रकाशित करता है या अन्य के लिये? प्रथम पक्ष में ज्ञातृत्व सिद्ध हो गया। दूसरे पक्ष में दीपादि का भी आत्मत्व सिद्ध होगा अथवा दीपादि के तुल्य ही आत्मा का भी अनात्मत्व सिद्ध होगा।" पर यह कहना ठीक नहीं क्योंकि ज्ञान का विषय-प्रकाशकत्व उभयसंमत है ही। वह ज्ञान क्या स्वविषय अपने लिये प्रकाशता है या अन्य के लिये? यदि प्रथम पक्ष है तो ज्ञान में भी ज्ञातृत्वआ जायगा। द्वितीय पक्ष में दीपादिवत् ज्ञान में जड़त्वापत्ति होगी। इसे इष्टापत्ति नहीं कहा जा सकता क्योंकि इस रीति से ज्ञानगुणक ज्ञानस्वरूप आत्मा जड़ ही ठहरेगा फिर जड़ आत्मा में ज्ञातृत्व भी कैसे बनेगा? क्योंकि ज्ञातृत्व चेतन धर्म है। यदि ज्ञान का भी ज्ञातृत्व इष्ट है तो फिर प्रश्न होगा आत्मस्वरूपभूत ज्ञान का ज्ञातृत्व इष्ट है या धर्मभूत ज्ञान का? प्रथम पक्ष मान्य है तब तो आत्मा का स्वरूपभूत ज्ञान ही सबको जान लेगा। फिर धर्मभूत ज्ञान मानने का क्या प्रयोजन रहेगा। स्वीकृत होने पर भी अज्ञाता होने के कारण वह दीपादि-वत् जड़ ही ठहरेगा। तब तो ज्ञानगुणकत्व जड़गुणकत्व ही ठहरेगा। यदि धर्मभूत ज्ञान में ज्ञातृत्व है तब तो स्वरूपभूत ज्ञान में अज्ञातृत्व ही ठहरेगा। यह भी प्रतिवादी को इष्ट नहीं है क्योंकि उसे ज्ञानस्वरूप ज्ञाता ही अभीष्ट है। यदि कहा जाय कि दोनों ही ज्ञाता हैं तब तो फिर दोनों ही स्वतंत्र ज्ञाता हुए, फिर दोनों ही धर्मी ठहरेंगे उनमें से कोई भी धर्म नहीं होगा। इसके अतिरिक्त जब आत्मा धर्मभूत ज्ञान से अर्थज्ञानवान् होगा तो स्वरूपज्ञान से अनुसंधान (स्मरण) न होगा क्योंकि अन्य ज्ञान से अन्य को स्मरण कैसे होगा? इसी तरह स्वरूपज्ञान से अर्थबोध होने पर धर्मभूत ज्ञान से स्मरण न हो सकेगा, साथ ही प्रतिदेह में दो दो ज्ञाता मानने पड़ेंगे। फिर एक देह में एक ही आत्मा होता है यह कहना भी असंभव हो जायगा। जब ज्ञाता ही आत्मा है तो सुतरां एक के देह में दो आत्मा भी ठहरेंगे। अतः विषयप्रकाशक आत्मा का स्वरूपभूत ज्ञान ही ज्ञान मानना चाहिये। वृत्तिज्ञान भी यद्यपि विषयप्रकाशक है तथापि वह दीपादि के तुल्य जड़ ही है। दीप के तुल्य ही वृत्ति अन्य के लिये विषय प्रकाशित करती है। धर्मभूत ज्ञान निष्प्रमाण ही है। दीप और वृत्ति दोनों ही स्वरूपभूत ज्ञान से प्रकाशित होते हैं। वृत्तिमान् अन्तःकरण के साथ आत्मा का

अन्योऽन्याध्यास होने से ही ज्ञानस्वरूप आत्मा में ज्ञातृत्व का व्यवहार होता है। वृत्तिसंस्कार से स्मरणादि भी उसीमें उपपन्न होता है।

कहा जाता है कि "यदि अन्य के लिये विषयप्रकाशन से वृत्तिज्ञान को जड़ कहा जाता है तब तो अपने लिये विषय प्रकाशने के कारण आत्मस्वरूप ज्ञान में ज्ञानत्व हुआ यह भी मानना पड़ेगा। इसे इष्टापत्ति भी नहीं कहा जा सकता है क्योंकि इस तरह तो आत्मा में ज्ञातृत्व ही आ जायगा जो कि सिद्धांती को इष्ट नहीं है।" परन्तु यह कथन ठीक नहीं क्योंकि अपने लिये विषय प्रकाशता है, इसलिये आत्मस्वरूप ज्ञान को ज्ञान नहीं माना जाता। कारण, प्रकाशन के पहले ही ज्ञानस्वरूप आत्मा में विषयप्रकाश रहता है अन्यथा तो विकारित्व की प्राप्ति ही होगी। भाति (भासमान् है) इस प्रकार विषय में व्यवहार-विषयत्व योग्यता जनन करना ही ज्ञान का ज्ञानत्व है। कहा जा सकता है कि यह तो वृत्तिज्ञान में भी होता ही है, परन्तु यह ठीक नहीं; तो वृत्तिज्ञान से भी होता ही है। परन्तु यह ठीक नहीं, वहाँ भी वृत्तिगत चैतन्य ही विषय में तादृक् योग्यता जनन करता है वृत्ति नहीं।

यह भी कहा जा सकता है कि आत्मस्वरूप ज्ञान प्रमाता के लिये विषय का प्रकाशन करता है। फिर भी दीपादि के तुल्य अन्यार्थ प्रकाशकत्व होने से जड़त्व-प्रसक्ति नहीं होगी क्योंकि प्रमाता उसमें ही कल्पित होने से उससे भिन्न नहीं है। अधिष्ठानसत्ता से अतिरिक्त कल्पित की सत्ता नहीं होती है। दीपादि तो प्रमाता से भिन्न ही हैं, अतः दीपादि अपने से अन्य प्रमाता के लिये ही विषय प्रकाशने के कारण जड़ है, पर यहाँ वैसी बात नहीं। अन्तःकरणादि योग से यहाँ ज्ञान ही प्रमाता कहा जाता है। अतः प्रमातृभूत अपने ही लिये विषय का प्रकाशन करता है। अतः स्वरूपज्ञान जड़ नहीं। इस तरह प्रमाता अजड़ होता हुआ भी ज्ञाता होने के कारण विकारी होने से अकूटस्थ एवं अनात्मा ही है। प्रत्यगात्मा भी अजड़ है तो भी वह ज्ञान होने से, अविकारी होने से कूटस्थ साक्षी है। वह ज्ञानस्वरूप ही है ज्ञानाश्रय नहीं। वृत्तिरूप ज्ञान के आश्रय प्रमाता की उसी में कल्पना होती है। इसी लिये उसमें ज्ञातृत्व का व्यवहार भी काल्पनिक ही है। ज्ञानस्वरूप में ही नित्यता होती है। कर्ता प्रमाता में विकारी होने से अनित्यता ही है। प्रमाता की उपाधि अन्तःकरण मुक्ति में रहती नहीं, अतः मुक्ति में प्रमाता नहीं रहता।

कहा जा सकता है कि "इस तरह तो जैसे मुक्ति में अन्तःकरण न रहने से अन्तःकरणविशिष्ट प्रमाता नहीं रहता, इसी तरह अन्तःकरणोपहित साक्षी भी

मुक्ति में न रहेगा, क्योंकि अन्तःकरणाभाव से दोनों का ही अभाव ध्रुव होगा।" पर यह कहना ठीक नहीं, क्योंकि यद्यपि विशेषणाभाव से विशिष्टाभाव सिद्ध होता है तथापि उपाधि के अभाव से उपहित का अभाव नहीं सिद्ध होता है। जैसे रूप के अभाव में रूपविशिष्ट घट का अभाव कहा जा सकता है परन्तु घटोपहित नभ का अभाव घट के अभाव से नहीं सिद्ध होता। इस तरह अन्तःकरण रूप उपाधि के न रहने पर भी अन्तःकरणोपहित चैतन्य रूप साक्षी या प्रत्यगात्मा का अभाव नहीं सिद्ध होता है।

वस्तुतस्तु अन्तःकरणविशिष्ट प्रमाता में भी जो चैतन्यरूप विशेष्यांश है उसका बाध मुक्ति में भी नहीं होता। जैसे उपहित आत्मा में उपधेय चैतन्यांश का बाध नहीं होता है वैसे ही विशिष्ट के विशेष्यांश के सम्बन्ध में भी समझना चाहिये। इसी लिये प्रमाता की मुक्ति के लिए प्रवृत्ति में कोई बाधा न होगी। विशेषण के द्वारा शुद्ध चैतन्य में ही प्रमातृत्व एवं साधकत्व बनता है। यही आप्तों ने कहा है—

> आत्मा भवतः केयं साधकत्व प्रकल्पने।
> किं न पश्यसि संसारं तत्रैवाज्ञान कल्पितम्॥

अर्थात् आत्मा के साधकत्व कल्पना में ही क्यों असंदिग्धता है जब कि सारा संसार ही उसी में कल्पित है। इस दृष्टि से आत्मा का प्रमातृत्व ही बाधित होता है। चैतन्यरूपता तो नित्य एवं सत्य ही है, तद्भिन्न सब कुछ मिथ्या है ही। 'तत्सत्यं, अतोऽन्यदार्त्तम्, विज्ञानमानन्दं ब्रह्म, प्रज्ञानं ब्रह्म' इत्यादि श्रुतियाँ स्पष्ट ही कहती हैं कि वही सत्य है। उससे भिन्न सब भंगुर दृष्टनष्ट स्वरूप है, विज्ञान या प्रज्ञान ही ब्रह्म है।

जो कहते हैं कि "जैसे प्रकाशस्वरूप मणिप्रभा का आश्रय होता है वैसे ही ज्ञानस्वरूप भी आत्मा ज्ञान का आश्रय हो सकता है।" पर यह ठीक नहीं, क्योंकि मणि स्वयं प्रभा का रूप नहीं अतः उस दृष्टान्त से ज्ञानरूप आत्मा में ज्ञानाश्रयता नहीं सिद्ध हो सकती है। किन्तु प्रभावान् द्रव्य ही मणि है। मणि में काठिन्यनादि पार्थिवांश है, प्रकाश तैजस् अंश है। एक ही वस्तु में धर्मत्व धर्मित्व दोनों नहीं हो सकता, यह कहा जा चुका है।

यह भी कहा जाता है कि "स्वयं अपरिच्छिन्न ही ज्ञानसंकोचविकास के योग्य है," पर यह भी ठीक नहीं। जो अपरिच्छिन्न एवं पूर्ण है उसमें संकोच-विकास असंभव है। पद्मादि परिच्छिन्न वस्तु में ही यह बन सकता है क्योंकि

सर्वत्र अस्तित्व ही तो अपरिच्छिन्नता या अपूर्णता है। नित्यता ही अपरिच्छिन्नता है ऐसा मानने पर भी संकोचविकासशाली वस्तु में नित्यत्व असंभव ही है। अतः अनित्य वृत्ति ज्ञान में ही संकोच, विकास आदि संभव है। वह आत्मधर्म नहीं है और न आत्मस्वरूप ही, किन्तु अन्तःकरण का ही धर्म है।

कुछ लोग कहते हैं कि "आत्मा धात्वर्थ क्रिया का आश्रय नहीं होता यह कहना गलत है। यदि आत्मा परमार्थभूत धात्वर्थ का आश्रय नहीं होता तब तो घटादि भी परमार्थभूत क्रिया का आश्रय न होने से आत्मा ठहरेंगे। यदि अपरमार्थभूत धात्वार्थाश्रयत्व आत्मा में अमान्य है यह कहा जाय तो भी ठीक नहीं क्योंकि फिर भेदभ्रम का आश्रय होने से आत्मा में अनात्मत्वापत्ति होगी।" परन्तु यह सब कथन असंगत है। वस्तुतः स्व समान सत्तावाले धात्वर्थ का आश्रय होना ही अनात्मता का आपादक होता है, एतावता आत्मा में होनेवाला भेदभ्रम आत्मा के समान सत्तावाला नहीं है क्योंकि आत्मा की पारमार्थिक सत्ता है और भेदभ्रमादि व्यावहारिक सत्तावाले हैं। अथवा अपरमार्थभूत धात्वार्थाश्रयत्व ही अनात्मत्व है, आत्मा में वह नहीं है क्योंकि धात्वर्थ अपरमार्थ होने से आत्मा में तदाश्रयत्व भी अपारमार्थिक ही होगा। इस तरह अपारमार्थिक आश्रयत्व से पारमार्थिक आत्मा का कोई संबन्ध ही नहीं होगा, अतः आत्मा में अपरमार्थभूत धात्वर्थाश्रयत्व हो ही नहीं सकेगा। अपरमार्थ अनात्मा ही में अपरमार्थभूत धात्वार्थाश्रयत्व होगा, अतएव मिथ्याभूत प्रपञ्चाश्रयत्व भी आत्मा में वैसे ही मिथ्याभूत है जैसे मरुभूमि में मिथ्याभूत जलाश्रयत्व भी मिथ्या ही है। घट के अमिथ्या होने से भूतल में घटाश्रयत्व भी अमिथ्या (व्यावहारिक) मान्य होता है। अतः अनात्मा ही अपरमार्थभूत धात्वर्थ का आश्रय होता है। देहादि अनात्मा में होनेवाला गमनादि धात्वर्थ व्यावहारिक ही है, पारमार्थिक नहीं। अथवा परमार्थभूत धात्वार्थाश्रयत्व ही अनात्मत्व है, घटादि लौकिक-परमार्थभूत धात्वर्थाश्रय होने से अनात्मा है। किन्तु आत्मा में प्रतीयमान धात्वार्थाश्रयत्व रज्जुसर्प की तरह लौकिक परमार्थभूत नहीं अपितु मिथ्या ही है।

कहा जा सकता है कि "तब तो लौकिक परमार्थभूत धात्वार्थाश्रय न होने से रज्जुसर्पादि में अनात्मत्व न रहेगा।" पर यह भी ठीक नहीं क्योंकि लौकिक परमार्थभूत धात्वर्थ का अनाश्रय होकर व्यवहार कालाबाध्यत्व ही अनात्मत्व का लक्षण है। इसमें प्रथमांश न होने से घटादि में आत्मत्व प्रसक्ति होगी

और अंतिम अंश न होने से रज्जुसर्प में आत्मत्व प्रसक्ति होगी। अतः उभयांश होने से अनात्मत्व का ठीक निर्वचन हो जाता है।

कहा जाता है "ज्ञान नित्य है। उसका इन्द्रिय द्वारा प्रसर होता है। इसी प्रसर की अपेक्षा से ज्ञान का उदय एवं अस्त कहा जाता है। ज्ञानप्रसर में कर्तृत्व तो है ही परन्तु वह स्वाभाविक नहीं है किन्तु कर्मकृत है। इस प्रकार का विक्रियात्मक ज्ञातृत्व ज्ञानरूप आत्मा का ही होता है।" परन्तु यह कहना भी ठीक नहीं क्योंकि यहाँ यह प्रश्न होगा कि आत्मा का स्वरूपभूत ज्ञान नित्य है? अथवा धर्मभूत ज्ञान नित्य है? अथवा दोनों ही नित्य हैं? पहला पक्ष तो इष्ट ही है। दूसरा पक्ष ठीक नहीं है क्योंकि 'अतोऽन्यदार्त्तं' श्रुति के अनुसार ज्ञानस्वरूप आत्मा से भिन्न सब कुछ आर्त्त (असत्) है। अतएव तीसरा पक्ष भी ठीक नहीं।

कहा जाता है "ज्ञान गुणवाला ब्रह्म ही सत्य है, यही उक्त श्रुति का अर्थ है।" पर यह कहना ठीक नहीं, क्योंकि 'निर्गुणं निष्क्रियं' इत्यादि श्रुति ब्रह्म को निर्गुण बतलाती है। कहा जाता है निर्गुण का अर्थ सत्वादि गुण रहित ही है, परन्तु यह भी ठीक नहीं। 'सत्वात् संजायते ज्ञानम्' इस गीतावचन के अनुसार सत्व से ही ज्ञान उत्पन्न होता है। जो सत्त्वादि गुण रहित होगा उसमें ज्ञान-सत्ता संभव नहीं। इसी गीतावचन से ज्ञान की अनित्यता भी सिद्ध होती है। यह सब कथन स्वरूपभूत ज्ञान से भिन्न वृत्तिज्ञान के सम्बन्ध में ही संगत है।

कहा जाता है "चक्षुरादि इन्द्रिय द्वारा प्रसरावस्था को प्राप्त ज्ञान ही अनित्य है। ज्ञान का प्रसर ही उत्पन्न होता है ज्ञान नहीं।" परन्तु यह भी ठीक नहीं क्योंकि निरवयव में प्रसर भी नहीं बन सकता। यदि कहा जाय कि ज्ञान सावयव ही है तो यह भी ठीक नहीं क्योंकि सावयव होने से उसमें अनित्यता ध्रुव होगी। कहा जाता है कि 'निरवयव नित्य है यह व्याप्ति नहीं, निरवयव गगन भी अनित्य होता है, वेदान्त में उसकी उत्पत्ति तथा प्रलय श्रुत है।' पर यह भी कथन ठीक नहीं; कारण गगन की निरवयवता असंप्रतिपन्न ही है। आत्म-भिन्न निरवयव कुछ भी नहीं यही श्रुति सिद्धान्त है। सावयव होने से ही आकाश का जन्मादि मान्य है। अतः आत्मस्वरूप ज्ञान से अन्य सब कुछ अनित्य ही है। इसलिए सब कुछ आत्मकर्तृत्व ही है। जो कृत होता है वह अनित्य है ही। 'ज्ञानप्रसर ही कृत होता है ज्ञान कृत नहीं होता' यह कहना भी ठीक नहीं क्योंकि निरवयव नित्य ज्ञान का प्रसर उपपन्न नहीं हो सकता। कहा जाता है—'ज्ञान प्रसर अद्वैताचार्य को भी मान्य ही है—

नानाच्छिद्र घटोदर स्थित महादीपप्रभा भास्वरम् ।
ज्ञानं यस्य तु चक्षुरादिकरण द्वारा बहिः स्पन्दते ॥

जैसे नाना छिद्रवाले घटोदर स्थित महादीप की प्रभा भिन्न भिन्न छिद्रों के द्वारा फैलती है वैसे ही चक्षुरादि करणों द्वारा जिसका प्रकाश बहिः प्रसृत होता है वही इन्द्रिय छिद्रवाले देह में रहनेवाला क्षेत्रज्ञ आत्मा है।' परन्तु यह भी कथन ठीक नहीं क्योंकि यहाँ आत्मस्वरूपभूत ज्ञान का प्रसार नहीं कहा गया अपितु चक्षुरादि इन्द्रियों के बहिर्निःसृत विषयाकार परिणत अन्तःकरण वृत्ति पर आत्मस्वरूपभूत ज्ञान का प्रतिफलन (प्रतिबिम्बन) ही बहिस्पन्द रूप से विवक्षित है। तादृश वृत्ति के जन्य होने से तदवच्छिन्न ज्ञान में भी जन्यता का उपचार होता है अतः सिद्धान्त में कोई हानि नहीं।

कहा जा सकता है कि धर्मभूत ज्ञान के सम्बन्ध में भी यही उपपत्ति दी जा सकती है। पर यह भी ठीक नहीं क्योंकि स्वरूप ज्ञान के वृत्ति प्रतिफलन से सर्वकार्य निर्वाह हो ही जाता है, तब फिर तदतिरिक्त धर्मज्ञान की कल्पना निरर्थक तथा अप्रामाणिक ही होगी। जो कहा जाता है कि 'आत्मा में इस प्रकार का ज्ञानक्रिया कर्तृत्व कर्म कृत है' यह भी ठीक नहीं क्योंकि यही प्रश्न होगा कि कर्म कृत है इसका क्या अर्थ है? केवल कर्मों से ही ज्ञान कृत होता है? या कर्म के निमित्त से आत्मा के द्वारा ज्ञान कृत होता है? पहला पक्ष ठीक नहीं क्योंकि घट के तुल्य कर्म जड़ ही है। फिर उसमें ज्ञानकर्तृत्व कैसे बन सकेगा? दूसरा पक्ष माना जायगा तब तो आत्मा में स्वाभाविक ज्ञानकर्तृत्व होगा ही। जैसे प्रतिवादी के मतानुसार कर्मकृत देहाधिष्ठातृत्व रूप कर्तृत्व स्वाभाविक ही है वैसे ही ज्ञानकर्तृत्व कर्मकृत होने पर भी स्वाभाविक ही होगा। यदि आत्मा का ज्ञानकर्तृत्व स्वाभाविक नहीं है तो फिर ज्ञातृत्वाभाव ही स्वाभाविक ठहरेगा। इसे इष्टापत्ति भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि ज्ञातृत्व-रहित आत्मा ज्ञानगुणक नहीं हो सकता। इसलिये ज्ञातृत्व ही ज्ञानगुण है अतएव सिद्धान्त में ज्ञान ही आत्मा है ज्ञानगुणक नहीं।

कहा जाता है "यदि ज्ञानस्वरूप आत्मा में ज्ञातृत्व नहीं है तब तो जड़ अहङ्कार में भी ज्ञातृत्व नहीं होगा, फिर ज्ञातृत्व कहीं भी नहीं सिद्ध होगा।" पर यह भी कथन ठीक नहीं है क्योंकि जड़ अहङ्कार में ही चिच्छायापत्ति या चित्प्रतिबिम्ब के द्वारा ज्ञातृत्व की उपपत्ति कही जा चुकी है।

कहा जाता है कि "चिच्छायापत्ति क्या है? संविद् की अहङ्कार में छाया-पत्ति अथवा अहङ्कार की संविद् में छायापत्ति होती है? पहला पक्ष ठीक नहीं क्योंकि संविद् में जब ज्ञातृत्व है ही नहीं तो उसकी छाया से भी अहङ्कार में ज्ञातृत्व कैसे आयेगा। दूसरा पक्ष भी ठीक नहीं क्योंकि जड़ अहङ्कार में भी ज्ञातृत्व नहीं बन सकता। इसके अतिरिक्त दोनों ही अचाक्षुष हैं अतः अचाक्षुष पदार्थों की कहीं भी छाया दृष्ट नहीं है।" परन्तु यह सब कथन निःसार है। क्योंकि संविद् की अहङ्कार में छायापत्ति मान्य है। इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि अहङ्कार में संविद् की छायापत्ति होती है। परन्तु छाया ज्ञातृत्वरूप नहीं है जिससे कि संविद् में ज्ञातृत्व न मानना दूषण हो किन्तु जैसे दर्पण में सूर्य प्रति-फलित होता है वैसे ही अहङ्कार में संविद् प्रतिफलित होती है। इस तरह व्यापारवान् अहङ्कार में चिच्छायापत्ति से ज्ञातृत्व का व्यवहार हो जाता है। अचाक्षुषों की छाया नहीं दृष्ट है यह नहीं कहा जा सकता क्योंकि अचाक्षुष गगन का जल में प्रतिबिम्ब देखा ही जाता है।

जो कहा जाता है कि "चाक्षुष आलोक का ही प्रतिबिम्ब होता है", यह भी ठीक नहीं। क्योंकि गगन के बिना केवल तम या आलोक नहीं भासित होता। गगनभाग व्यापी प्रकाश या तम के चाक्षुष होने पर भी साक्षि प्रत्यक्षसिद्ध गगन अचाक्षुष ही है। प्रकाश या तम जिसमें उपलब्ध होता है वह प्रकाशादि का अधिष्ठान ही नभो द्रव्य है। वह चक्षुर्ग्राह्य न होने पर भी सुखादि के तुल्य साक्षिवेद्य ही है। कहा जाता है कि 'यदि गगन अचाक्षुष है तब तो चक्षुर्व्यापार के बिना भी उसका उपलम्भ होना चाहिये।' परन्तु यह ठीक नहीं क्योंकि गगन में आवृत प्रकाश एवं तम के ग्रहणार्थ ही चक्षुर्व्यापार भी आवश्यक होता है। चक्षु द्वारा आधेय प्रकाशादि के ग्रहण होने पर ही तदाधारभूत गगन की प्रतीति होती है। यदि कहा जाय कि गगन का प्रतिबिम्ब नहीं होता तो यह ठीक नहीं क्योंकि गगन प्रतिबिम्ब बिना जानुपरिमित जल में अगाधता की प्रतीति नहीं हो सकती। इसी तरह अचाक्षुष शब्द की प्रतिशब्द रूप छाया भी दृष्ट है। श्रुति एवं सूत्रकार को चित्प्रतिबिम्बवाद स्वीकृत है। अतीन्द्रिय शास्त्रसिद्ध अर्थ में शङ्का को अवकाश नहीं होता।

"एको यथा ज्योतिरात्मा विवस्वानपो भिन्ना बहुधा संविभाति"?... "एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत्" श्रुतिः। अतएव चोपमा सूर्यकादिवत्" ।–ब्र० सू०।

कहा जाता है "वह्नि में दाहकत्व होने के कारण उसके सम्पर्क से लोहपिण्ड में दाहकत्व होता है। परन्तु संविद् में तो ज्ञातृत्व है ही नहीं फिर उसके सम्पर्क से अहङ्कार में ज्ञातृत्व कैसे आ सकेगा?" परन्तु यह ठीक नहीं, क्योंकि सूर्य के तेज में दग्धृत्व न होने पर भी उसके सम्पर्क से सूर्यकान्त आदि में दाहकत्व देखा जाता है, वैसे ही संविद् में ज्ञातृत्व न होने पर भी उसके संसर्ग से अहङ्कार में ज्ञातृत्व हो जाता है।

कहा जाता है कि "असङ्ग आत्मा का अहङ्कार से संसर्ग भी कैसे हो सकेगा"; पर यह भी ठीक नहीं, कारण आत्मा का अहङ्कार से वास्तविक संसर्ग न होने पर भी आध्यासिक संसर्ग है, उसी से सब काम चल जायगा।

अहङ्कार अनुभूतिका व्यंजक होता हुआ दर्पण के तुल्य स्वात्मा में ही उसका व्यंजन करता है। कहा जाता है कि "आत्मा तो स्वयंज्योति है। फिर वह व्यङ्ग्य कैसे होगा? इसी तरह जड़ अहङ्कार में अभिव्यञ्जन शक्ति भी नहीं हो सकती। स्वयंज्योति आत्मा से सभी पदार्थ ही व्यक्त होते हैं।" परन्तु यह भी ठीक नहीं, क्योंकि अहङ्कार के चिदभिव्यञ्जक होने का यह अर्थ नहीं है कि अहङ्कार चित् का प्रकाशक है। किन्तु चित्प्रतिबिम्ब का ग्रहण करना ही उसकी चिदभिव्यञ्जकता है। अहङ्कार स्वच्छ द्रव्य होने से चित्प्रतिबिम्ब ग्राहक होकर चित्सामान्य से प्रकाशित उन उन विषयों को, तत्तदाकार वृत्ति द्वारा विशेष रूप से प्रकाशन करता है और इस तरह यद्यपि वह साभास अहङ्कार ही आत्माकार वृत्ति के द्वारा चित् का भी अवभासक है, तथापि वह वृत्ति के द्वारा चित् के आवरक अज्ञान का ही नाशक होने से चित् का ज्ञाता कहा जाता है। स्वप्रकाश के लिये प्रकाश अपेक्षित नहीं है। इसी लिये कहा गया है कि—

फलव्याप्यत्वमेवास्य शास्त्रकृद्भिर्निराकृतम्।
ब्रह्मण्यज्ञाननाशाय वृत्तिव्याप्यत्वमिष्यते॥

अतः साभास अहङ्कार चिदावरक अज्ञाननाश के द्वारा चित् का अभिव्यञ्जक होता है। इसी तरह चिद्भास्य भी अहङ्कार चित्प्रतिबिम्ब ग्रहण द्वारा चित् का व्यञ्जक होकर सर्वविषय का भासक होता है अतः वही ज्ञाता कहलाता है। कहा जाता है कि 'अहङ्कार का प्रकाशक आत्मा अहङ्कार से व्यङ्ग्य नहीं हो सकता।' परन्तु यह ठीक नहीं, कारण देखा ही जाता है कि सूर्य चक्षु का प्रकाशक होता हुआ भी चक्षु से भास्य होता है। सूर्य से प्रकाशित ही दर्पण सूर्य प्रतिबिम्ब का ग्राहक होता है। आत्मभास्य मन से ही आत्मा का बोध होता

है यह प्रतिवादी को भी स्वीकृत ही है। आत्मा यद्यपि सर्वत्र विद्यमान है तथापि अन्तःकरण में ही उसका उपलम्भ होता है इसी लिये अन्तःकरण चित् का अभिव्यञ्जक कहा जाता है। आत्मा अन्तःकरण में प्रतिफलित होकर ही स्व पर विषयक विशेष ज्ञानवान् होता है। इसलिये भी अन्तःकरण चित् का अभिव्यञ्जक माना जाता है। सर्वथापि साभास अहङ्कार ही ज्ञाता है।

कहा जाता है कि "अहङ्कार और अनुभव का स्वभावविरोध है"; पर यह कहना ठीक नहीं, कारण अहङ्कार का जाड्य स्वभाव होने पर भी अनुभव निर्धर्मक होने से निःस्वभाव है अतः विरोध की कोई संभावना नहीं है। यदि अहङ्कार का प्रकाश्यत्व स्वभाव है, अनुभव का प्रकाशकत्व स्वभाव है तो भी इन दोनों स्वभावों का कोई विरोध नहीं है। प्रकाशक से प्रकाश्य प्रकाशित होता है जैसे दीप से घट। दीप एवं घट का तेज तम के तुल्य विरोध नहीं है। तेज से तम का प्रकाश नहीं होता किन्तु तेज से तम का निर्मूलन होता है अतः प्रकाश्य प्रकाशक आत्मा एवं अहङ्कार का स्वभावविरोध नहीं है। स्वरूपविरोध भी नहीं है। जैसे सूर्य के आवरक राहु का भी सूर्य से ही प्रकाश होता है वैसे संविद् के आवरक अज्ञान का भी संविद् से ही प्रकाश होता है। फिर अहङ्कार के संविद्भास्य होने में तो कोई विरोध है ही नहीं।

जो कहा जाता है कि "यदि आत्मा व्यङ्ग्य होगा तो वह घट के तुल्य अनुभूति स्वरूप ही न हो सकेगा।" परन्तु प्रतिवादी स्वयं ही तो कहता है कि यदि अनुभूति का अनुभव न होगा तो अनुभूतित्व ही नहीं सिद्ध होगा। उसके मत में आत्मा वेद्य है ही। सिद्धान्त रीति से भी अज्ञान रूप आवरण निवृत्ति की दृष्टि से अनुभवस्वरूप आत्मा में भी अहङ्कारादि वेद्यता कही ही जा चुकी है।

कुछ लोग कहते हैं "रविरश्मि प्रतिघात दर्पण में रश्मिबाहुल्य का हेतु होता है वह व्यञ्जक नहीं होता। रविरश्मियाँ स्वाभिव्यङ्ग्य दर्पण से व्यङ्ग्य नहीं हो सकतीं।" परन्तु यह कथन भी ठीक नहीं, क्योंकि ऐसी बात है तो भूतल भी रश्मि प्रतिघात द्वारा रश्मिबाहुल्य का हेतु क्यों नहीं होता?

अहमर्थ एवं आत्मा

फिर भी कुछ लोग अहमर्थ के ही आत्मा होने पर बल देते हैं और उसे ही सुप्ति एवं मुक्ति में अन्वयी भी मानते हैं। परन्तु यह ठीक नहीं क्योंकि सुषुप्ति में यदि अहमर्थ विद्यमान होता तो उसका धर्म इच्छादि विद्यमान होना चाहिये था। अज्ञान का होना उसमें बाधक नहीं है क्योंकि वह अज्ञान का धर्म न होकर प्रतिपक्षी के मत में कारण है। चैतन्य और अहङ्कार में परस्पर अभेद अध्यस्त है, यह पूर्वपक्षी की भाषा अशुद्ध है। परस्पर तादात्म्याध्यास भी कहना संगत नहीं क्योंकि अहङ्कार चैतन्य में स्वरूपेण अध्यस्त है, अहङ्कार में चैतन्य का तादात्म्य रूप संसर्ग अध्यस्त है, यही अन्योऽन्याध्यास है। अविद्या एवं अहमर्थ से उपहित चैतन्य में ही अनुभवस्मरण होता है, अतः स्मृति और अनुभव का वैयधिकरण्य दोष नहीं है। अविद्या और अहङ्कार दोनों घनीभूत एवं द्रवीभूत घृत के तुल्य अभिन्न ही वस्तु हैं, अतः दोनों में भिन्नता नहीं होती। यह ठीक ही है कि कई अविज्ञात पदार्थों का अस्तित्व मान्य होता है, पर क्या इतने से ही अज्ञात सुख दुःख भी माने जा सकते हैं? यदि नहीं, तो सुखादि के समान ही अहमर्थ भी अविज्ञात कैसे रह सकता है? नैयायिकों के यहाँ तो आत्मा जड़ है, फलदायक धर्माधर्म सहकृत मन के योग से ज्ञान की उत्पत्ति होती है। सुषुप्ति में फलदायक कर्मों की उपरति होती है, अतः ज्ञान न होना ठीक है।. किन्तु जिनके यहाँ आत्मा ज्ञान स्वरूप है वह यदि है तो क्यों नहीं भासमान होगा, अद्वैती के मत में तो अहं सदा ही साक्षिभास्य होता है। यदि अहं है तो साक्षि सम्बन्ध भी अनिवार्य ही है फिर उसकी अप्रकाशमानता कैसे बन सकती है? जो कहा जाता है कि 'प्रलय काल में सूक्ष्म रूप से विद्यमान रहने पर भी अद्वैतमत में अहमर्थ भासमान नहीं होता;' यह ठीक नहीं, क्योंकि अहमर्थ सूक्ष्म रूप से रहता है। इसका अर्थ यह है कि अविद्यामय कारणरूप से अहमर्थ रहता है। घट मृत्तिका रूप से रहता है, फिर भी जैसे मृत्तिका दशा में घट की प्रतीति नहीं होती वैसे ही प्रलय काल में अविद्यारूप में रहने पर भी अहङ्कार की प्रतीति कैसे होगी?

"बाह्य एवं आन्तर इन्द्रियों द्वारा वृत्ति होने पर अहमर्थ का भान होता है अतएव अहमर्थ बिना प्रकाश के भी रहता है। अद्वैतियों को यह मान्य है, यह

कहना निराधार है।" यदि वृत्तिसापेक्ष भी अहङ्कार का प्रकाश होता हो तो भी जैसे अज्ञान के ग्रहण के लिये सुषुप्ति में अविद्या वृत्ति बनती है, जैसे जाग्रत् दशा में अहं के रहने पर वृत्ति बनती है वैसे ही सुषुप्ति में यदि अहङ्कार होता तो वृत्ति बनने में भी क्या बाधा थी? अतः स्पष्ट है कि सुषुप्ति में बिना प्रकाश के अहङ्कार की सत्ता वेदान्तियों को कभी भी मान्य नहीं 'अतएव यदि भिन्न-भिन्न दिन की अहङ्कार व्यक्तियाँ भिन्न हों तो पूर्व दिनों के किये हुये कर्मों या अनुभूत वस्तुओं का स्मरण एवं प्रत्यभिज्ञा न होनी चाहिये, क्योंकि अन्य व्यक्तियों के किये हुये कर्मों या अनुभूत वस्तुओं का अन्य व्यक्ति स्मरण नहीं कर सकता किन्तु यहाँ स्पष्ट अनुभव होता है कि मैंने पूर्व दिनों में ये कर्म किये हैं, इन इन वस्तुओं का अनुभव किया है और मैं वही हूँ। अहन्त्व का आश्रय होने मात्र से यदि पूर्व दिन के अहं एवं उत्तर दिन के अहं को एक माना जाय तब तो सुषुप्ति काल के सूक्ष्म अहम् में भी अहन्त्व रहता ही है फिर सुषुप्ति में अहम् का अभाव क्यों माना जाय? जागर एवं स्वप्न में अहं रहता है और सुषुप्ति में वह नष्ट हो जाता है। फिर जागर में उसकी उत्पत्ति होती है। सुषुप्ति में पुनः उसका नाश होता है। इस प्रकार भिन्न भिन्न अहं व्यक्तियों का संगठन अहमर्थ है। यह अद्वैतियों का सिद्धान्त बौद्धों का अनुकरण है। बौद्धों ने भी क्षणिक आलयविज्ञान की सन्तान को ही अहमर्थ माना है।' परन्तु किञ्चिन्मात्र भी गंभीरता से विचार करने पर विदित होगा कि उक्त कथन कितना निःसार है। पीछे कहा जा चुका कि अविद्यावच्छिन्न चैतन्य और अहङ्कारावच्छिन्न चैतन्य के अभेद से अनुभव एवं स्मरण के कर्ता की अभिन्नता सिद्ध ही है। अहमर्थविचार में यह बात विस्तार से कही गई है। अन्तःकरण एवं अविद्या का भी कार्यकारण भाव होने से द्रवीभूत एवं घनीभूत घृत के तुल्य अभेद कहा गया है, अतः अविद्यावच्छिन्न चैतन्य और अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य में अभेद है ही; वह तीनों अवस्थाओं का और सभी दिनों, मासों, वर्षों, युगों एवं कल्पों का भी एक ही है। जैसे मठोपहित आकाश एवं मठान्तर्गत घटोपहित आकाश दोनों अभिन्न ही होते हैं वैसे ही अविद्योपहित चैतन्य एवं अविद्यान्तर्गत अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य का अभेद भी सिद्ध ही है। अहन्त्वाश्रय होने से प्रतिदिन के अहङ्कारों की एकता है यह कथन अनभ्युपगम पराहत है। इस तरह तो भिन्न भिन्न प्राणियों के अहं में भी अहन्त्व होने से सब की एकता होगी फिर तो देवदत्त यज्ञदत्तादि के अहं व्यक्तियों का भी भेद न सिद्ध होगा।

इसी तरह सुषुप्ति के सूक्ष्म अहं में भी अहन्त्व रहेगा यह कहना भी असंगत है। क्योंकि सुषुप्ति में अहङ्कार स्वरूप से रहता ही नहीं। उस समय अविद्या रूप से वह रहता है फिर जैसे मृत्तिकाभावापन्न घट में घटत्वाश्रयता नहीं हो सकती वैसे अविद्याभावापन्न अहङ्कार में अहन्त्वाश्रयता भी कैसे रहेगी। बौद्धों के आलयविज्ञान सन्तान का अनुसरण तो वही करते हैं जो अहमर्थ को आत्मा मानते हैं। वेदान्ती तो अनन्त अखण्ड कूटस्थ चैतन्य को आत्मा मानते हैं। वेदान्तियों के अनुसार आलयविज्ञान सन्तान या अहमर्थ सन्तान सब अनात्मा ही है। वेदान्तियों के अक्षणिक अहमर्थ और बौद्धों के क्षणिक ज्ञान में कोई साम्य नहीं है। बौद्धों का विनाश निरन्वय होता है किन्तु वेदान्तियों के यहाँ विनाश भी सान्वय होता है। सान्वय विनाश होने से प्रतिदिन के अहमर्थ में भिन्नता भी नहीं रहती। अतएव गीता का कहना है कि यह वही भूतग्राम पुनः पुनः उत्पन्न होकर प्रविलीन होता है—'भूतग्रामः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते।' जिस मैंने पूर्व दिन में अमुक अमुक कार्य किया वहीं मैं अब सोकर उठा हूँ इस प्रत्यभिज्ञा से जो लोग सुषुप्ति में अहमर्थ की सत्ता सिद्ध करना चाहते हैं, उन्हें अनुभवविरोध एवं श्रुतिविरोध पर भी ध्यान देना चाहिये जो कि अभी पीछे दिखाया जा चुका। प्रतिपक्षी कहता है कि सुषुप्ति में अहमर्थ रूप आत्मा का प्रकाश होता है परन्तु ठीक इसके विपरीत उपनिषद् कहती है कि आत्मा सुषुप्ति में मैं हूँ ऐसा नहीं जानता—'न विजानात्ययमहमस्तीति छान्दोग्य प्रजापति विद्याम्।'

जो समझते हैं कि "सोने के पश्चात् एवं जागने के पहले के व्यवहारों का स्मरण न होने से उस समय के व्यवहाराभाव और ज्ञानाभाव रूप निद्रा का जैसे अनुमान होता है, उसी प्रकार उस समय के अहमर्थ आत्मा का भी अनुमान हो जाता है। मैं निद्राकाल में वर्तमान रहा था क्योंकि पूर्व दिनों के अनुभूत अर्थों का स्मरण हमें हो रहा है।" परन्तु यह ठीक नहीं क्योंकि उक्त सर्वत्र स्थलों में अहं या मैं शब्द का प्रयोग अहं पद वाच्यार्थ ग्रन्थि में न होकर अहङ्कारावच्छिन्न चैतन्य में ही होता है। उसका अस्तित्व वेदान्ती को भी मान्य है ही क्योंकि सुप्ति में भी अहङ्कारावच्छिन्न चैतन्य ही अविद्यावच्छिन्न रूप से विद्यमान रहता है। इस तरह जब प्रत्यभिज्ञा की उपपत्ति अन्यथा हो जाती है तब ज्ञानसत्तावाले अहं का अननुभव एवं श्रुतिविरुद्ध अज्ञात सत्ता क्यों मानी जाय? अन्यथा इसी तरह अज्ञात सुख की सत्ता भी माननी पड़ सकती है। परन्तु 'सुखमस्वाप्सम्' के तुल्य 'नाहमवेदिषम्'

मैं सुखपूर्वक सोया था, मैंने उस समय कुछ नहीं जाना, यह सुप्तोत्थित को स्मरण होता है। वह स्मरण अनुभवमूलक ही है अतः सुप्ति में सुख एवं अज्ञान का अनुभव मानना ही चाहिये। ज्ञानाभावरूप सुप्ति नहीं होती किन्तु सुख एवं भावरूप निद्रा अज्ञानादि की अवस्थाविशेष ही सुषुप्ति है, यह मानना चाहिये। पूर्वोक्त अनुमान अद्वैती के प्रति सिद्ध साधन ही ठहरता है क्योंकि विशेष विज्ञानाभाव भी अद्वैती को मान्य ही है, आत्मा भी मान्य है ही वह आत्मा अहमर्थ नहीं किन्तु अहं पद लक्ष्यार्थ साक्षी है। उसी से निद्रा अज्ञानादि का भी प्रकाश होता है।

"जाग्रत् स्वप्न सुषुप्त्याख्या वृत्तयो बुद्धिजाः स्मृताः।
ता येनैवानुभूयन्ते सोऽध्यक्षः पुरुषः परः॥"

जाग्रदादि तीनों अवस्थायें बुद्धि की वृत्तियाँ हैं। ज्ञानाभाव मात्र निद्रा नहीं है। अतएव योगशास्त्र में भी वृत्तिविशेष ही निद्रा मान्य है। तीनों का अनुभविता साक्षी नित्य ही है। उसी को लेकर प्रत्यभिज्ञा उपपन्न होती है।

यह भी कथन ठीक नहीं है कि "अहमर्थ के नष्ट हो जाने से तदाश्रित संस्कार भी नष्ट हो जायँगे।" संस्कार न होंगे तो उत्तर काल में स्मरण नहीं बन सकेगा। क्योंकि अहमर्थ ही संस्कारों का आधार होता है। कारण उसी ने पहले अनुभव किया उसी में संस्कार हुये हैं। अतः संस्काराधार अहमर्थ सुषुप्ति में अविद्या रूप से रहता है। संस्कार भी अविद्या में रहता है। अविद्या पुनः अन्तःकरण रूप में प्रकट होती है तो संस्कार भी रहते ही हैं। अहंकार का निरन्वय विनाश नहीं होता, यह कहा ही जा चुका है। कुछ लोग कहते हैं कि "सुषुप्ति में ज्ञानरूपी चैतन्य तथा अविद्या रूपी अज्ञान नहीं रह सकता। ज्ञाता को छोड़कर ज्ञान और अज्ञान नहीं रह सकते। जब अहमर्थ ज्ञाता सुषुप्ति में रहता ही नहीं तब ज्ञान अज्ञान कैसे रह सकते हैं? 'मैं जानता हूँ, मैं नहीं जानता' इन अनुभवों से सिद्ध होता है कि अहमर्थ में ही ज्ञान अज्ञान होते हैं। अतः सुषुप्ति में (ज्ञान) चैतन्य (अज्ञान) अविद्या ये दोनों संस्कार के आधार नहीं बन सकते अतः उत्तरकालिक स्मरणों से संस्कारों का आधार अहमर्थ मानना चाहिये"। परन्तु यह कथन निरर्थक है कारण वेदान्तियों का आत्मरूप चैतन्य अहमर्थाश्रित जन्यज्ञानरूप नहीं है किन्तु अहमर्थभासक नित्य स्वप्रकाश साक्षिस्वरूप है। इसी तरह अविद्या भी अहमर्थाश्रित ज्ञानाभाव रूप नहीं, किन्तु अहमर्थ जननी अचिच्छक्ति रूप है अतः अहमर्थ के न रहने

पर भी उनका रहना संभव है। वे ही संस्कारों के आधार हो सकते हैं। उन्हीं से स्मरणादि सूपपन्न हो सकेंगे। सुषुप्ति में चिज्जड ग्रन्थिरूप अहमर्थ के न रहने पर भी चैतन्यरूप साक्षी रहता ही है। वही द्रष्टा एवं आत्मा है। वही ज्ञान एवं अज्ञान का द्रष्टा रहता है। वह बोध स्वरूप होनेपर भी भास्य संसर्ग की अपेक्षा से द्रष्टा और ज्ञाता कहा जाता है। उसके स्वरूपभूता दृष्टि का विपरिलोप कभी भी नहीं होता यह श्रुति कहती है "न हि द्रष्टुर्दृष्टे विपरिलोपो भवति" द्रष्टा की स्वरूपभूता दृष्टि का कभी विपरिलोप नहीं होता है। जैसे संनिधान मात्र से निर्व्यापार प्रकाश स्वरूप सविता में भी प्रकाशकत्व का व्यवहार होता है, वैसे ही नित्य बोध स्वरूप आत्मा में भास्य संसर्गापेक्षया प्रकाशकत्व द्रष्टृत्व ज्ञातृत्वादि का व्यवहार होता है।

पुनश्च कुछ लोग कहते हैं कि "जब चैतन्य निर्विकार एवं निर्विशेष है तो वह संस्कारों का आधार कैसे बन सकेगा? क्योंकि संस्कार तो विकार या धर्म ही है।" यह कथन भी निःसार है, कारण निरुपाधिक चैतन्य यद्यपि संस्कारों का आधार नहीं बनता तथापि सोपाधिक बन सकता है। सुषुप्ति का संवित्स्वरूप आत्मा तो अविद्यारूप उपाधि से युक्त है ही। फिर उसके अविद्या के द्वारा संस्काराश्रय होने में क्या आपत्ति हो सकती है? इसी तरह यह भी कहा जाता है कि 'यदि संस्कारों का आधार अविद्या है तब तो उसी को ज्ञाता होना पड़ेगा, फिर अहङ्कार को ज्ञाता स्मर्ता मानना असंगत होगा। अविद्या में विद्यमान संस्कारों से अहङ्कार का स्मरण नहीं हो सकेगा।' परन्तु यह कथन भी सिद्धान्त न समझने का ही परिणाम है। पीछे कहा जा चुका है कि वह अविद्या ही जाग्रत् काल में अहङ्कार बन जाती है अतः उसमें अत्यन्त भिन्नता नहीं है। घनीभूत घृत एवं द्रवीभूत घृत की भिन्नता जैसी ही दोनों की भिन्नता ठीक समझ लेनी चाहिये। साथ ही यदि अहमर्थ संस्कार का आश्रय होने से विकारी होगा तब तो प्रतिपक्षी के अहमर्थरूप आत्मा की भी अनित्यता ही सिद्ध होगी, फिर तो उसे नित्य आत्मा की संज्ञा देना भी असंगत ही होगा।

कहा जाता है कि "बौद्ध क्षणिकविज्ञानसंतति को आत्मा मानते हैं। ज्ञानों की भिन्नता के कारण पूर्व पूर्व ज्ञानों के द्वारा अनुभूत का स्मरण उत्तरोत्तर ज्ञानों से नहीं हो सकेगा, यही अद्वैतवादियों द्वारा उनपर दोष लगाया जाता है। परन्तु अद्वैतियों के समान बौद्ध भी कह सकते हैं कि कारण बननेवाले पूर्व पूर्व ज्ञानों से उत्पन्न संस्कार उत्तरोत्तर ज्ञानों में संक्रान्त होकर उनमें स्मरण उत्पन्न

कर सकते हैं। ऐसी स्थिति में अद्वैतियों द्वारा यह दोष बौद्धों के प्रति नहीं दिया जा सकता। क्योंकि वही बात अद्वैतियों पर भी लागू होती है।" परन्तु यह भी कथन निःसार है, कारण बौद्धों के सभी ज्ञान क्षणिक होते हैं। क्षणिकों में कार्यकारण भाव नहीं बन सकता। किन्तु अहमर्थ स्थायी होता है। विज्ञान का निरन्वय नाश होता है। अर्थात् उसका किसी रूप में अस्तित्व नहीं रह जाता। किन्तु वेदान्तियों के अहमर्थ का सान्वय नाश होता है। वह अविद्या रूप में बना रहता है। फिर भी वह अहमर्थ वेदान्तियों को आत्मा रूप से नहीं मान्य है। किन्तु अहङ्कार द्वारा या अहङ्कारावच्छिन्न चैतन्य के द्वारा अनुभव, स्मरणादि की व्यवस्था संपादित की जाती है। प्रत्यभिज्ञा का आलम्बन भी वही है। इतना महान् अन्तर होने पर भी अद्वैतियों में बौद्ध संस्कार की कल्पना अवश्य ही द्वेषमूलक है। यदि दोनों ही के असत्कार्य एवं सत्कार्य की विलक्षणता पर भी ध्यान दिया जाय तो भी उनके मन्तव्यों में महान अन्तर है। यों तो फिर द्वैत अद्वैत दोनों की समान सत्ता मानकर समन्वय करनेवाले लोग भी अनेकान्तवादि जैनों के समकक्ष माने जाने लगेंगे। यह कहना नितान्त असंगत है कि 'बौद्ध और अद्वैती कारण और कार्य का काल्पनिक अभेद मानते हैं' क्योंकि बौद्धों के पूर्वापर विज्ञानों में किसी प्रकार का अभेद उन्हें नहीं मान्य है। कारण, अभेद मानने में वे शाश्वतवाद का भय देखते हैं। उन्हें चार्वाकों के उच्छेदवाद और आत्मवादियों के शाश्वतवाद दोनों ही से बचना है किन्तु वेदान्तियों के यहाँ तो 'तदनन्यत्वमारम्भण शब्दादिभ्यः' सूत्र से स्पष्ट कार्य को कारण से अनन्य कहा गया है। कारण से कार्य अन्य नहीं है फिर अभेद के काल्पनिक कहने का कुछ अर्थ ही नहीं रह जाता। भेदाभाव ही अभेद है। वह कारण स्वरूप ही है। अतः द्वैत आदि की प्रसक्ति का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। इस तरह अविद्या परिणामभूत अन्तःकरणादि अविद्या से भिन्न नहीं हैं अतः उनमें भेदमूलक स्मरणानुपपत्ति दोष नहीं आ सकता है। कहा जाता है 'अविद्या एक है किन्तु उससे उत्पन्न अहङ्कार अनेक हैं। अतः अविद्यागत संस्कारों से सभी अहङ्कारों में स्मरण होना चाहिये। परन्तु ऐसा होता नहीं। विभिन्न देहों के अहङ्कारों में स्मरण समान नहीं होते। ऐसा क्यों?' परन्तु इसका उत्तर स्पष्ट यह है कि अविद्या के एक होने पर भी उसके अंश अनेक हैं। उन अविद्यांशों के संस्कारों का उन उन अहङ्कारों से ही सम्बन्ध होता है। इसके अतिरिक्त जीवभेद से अविद्याभेद

पन्न भी है ही। प्रति जीव अविद्याभेद और अविद्यांशभेद से सब व्यवस्था उपपन्न हो जाती है। विभिन्न देशों में विद्यमान अविद्यांश भिन्न भिन्न हैं फिर भी कहा जाता है 'जब अविद्यांश व्यवस्थित हैं तब तो शरीर चलते समय अविद्यांशों का आकर्षण नहीं होगा। सोते हुए मनुष्य का शरीर जब अन्यत्र पहुँचा दिया जाता है तब पूर्व देशस्थित अविद्यांश में विद्यमान संस्कारों से देशान्तरस्थ अविद्यांश से उत्पन्न तच्छरीरावच्छिन्न अहङ्कार में स्मरण उत्पन्न न हो सकेगा।' परन्तु यह कथन भी निराधार ही है। जैसे घट के गमन से घटोपादानांश मृत्तिका का गमन मान्य ही है। उसी तरह देह अहङ्कारादि के गमन से भी तदुपादानभूत अविद्यांश के गमन में कोई आपत्ति नहीं हो सकती। तत्तद् जीवों के कर्माधीन सम्बन्धित अविद्यांश ही जाग्रदादि में अहङ्कार रूप से निद्रा में अविद्यांश रूप में परिणत होते हैं।

जो कहा जाता है कि "पूर्व दिनस्थ एवं उत्तर दिनस्थ अहमर्थ के प्रत्यभिज्ञान से अहमर्थ का सद्भाव सुषुप्ति में मानना आवश्यक है। जो मैंने पूर्व दिनों में अमुक अमुक कार्य किया था वही मैं सोकर उठ रहा हूँ यह प्रत्यभिज्ञान अनुभव सिद्ध है।" परन्तु यह ठीक नहीं, क्योंकि प्रत्यभिज्ञान आत्मा का ही होता है उसका सर्वावस्थान्वयी होना सिद्ध ही है। तात्पर्य यह है कि अस्मद् शब्द लक्ष्यार्थ अखण्डबोध रूप आत्मा ही सोपाधिक रूप से प्रत्यभिज्ञा का गोचर होता है। प्रतिपक्षी के मत से सुषुप्ति में जब ज्ञान ही नहीं होता तब सुषुप्ति में आत्मा का सद्भाव कैसे सिद्ध हो सकता है?

कहा जाता है "जैसे जगने पर अनुमान से निद्रा का ज्ञान होता है—मैं सुषुप्ति के व्यवहारों एवं ज्ञानों का स्मरण नहीं कर रहा हूँ। अतः उस समय व्यवहार एवं ज्ञान नहीं था। ज्ञानाभाव की दशा ही निद्रा है। जैसे निद्रा का समय एवं निद्रा; इसी तरह नैयायिकों के अनुसार नहीं प्रकाशने पर भी अहमर्थ आत्मा का भी सद्भाव निश्चित हो सकता है। मैं निद्रा काल में भी विद्यमान था क्योंकि पूर्व दिन के अनुभूत कर्मों का स्मरण कर रहा हूँ। पूर्व दिन में उन अर्थों का अनुभव करनेवाला मैं सोकर उठ रहा हूँ।" परन्तु यह सब कथन भी निरर्थक है, कारण कि अद्वैती के अनुसार सुषुप्ति में अहमर्थ के नष्ट हो जाने पर भी सुषुप्ति में प्राज्ञ आत्मा तो विद्यमान रहता ही है। "यत्स्वप्न जागर सुषुप्तमवैति नित्यम्" के अनुसार जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति तीनों अवस्थाओं को जाननेवाला आत्मा तो रहता ही है। स्थूलादि शरीरत्रयावच्छिन्न चैतन्य विश्व कहलाता है। सूक्ष्मादि शरीरद्वयावच्छिन्न चैतन्य तैजस्

कहलाता है। कारण शरीरावच्छिन्न चैतन्य प्राज्ञ कहलाता है। इस तरह इन अनुसन्धानों एवं प्रत्यभिज्ञानों से आत्मा का अस्तित्व सिद्ध होने पर भी अहं का अस्तित्व सुषुप्ति में नहीं सिद्ध होता। यह कहा जा चुका है कि यदि निद्रा में अहं उपलब्ध होता तो इच्छादि गुणों के साथ ही उसे उपलब्ध होना चाहिये था। "सर्वेयदिन्द्रियगणेऽहमि च प्रसुप्ते" इस भागवत पद्य में अहं का प्रस्वाप अर्थात् कारणावस्थापत्ति स्पष्ट कही गई है। संस्कार और अहं अविद्या रूप में बने रहने के कारण स्मरणादि व्यवस्था में भी कोई आपत्ति नहीं होती। जो लोग अहमर्थ को ही आत्मा मानते हैं और उसे स्वप्रकाश भी कहते हैं उनके यहाँ तो सुतरां सुषुप्ति में अहमर्थ प्रकाश सर्वानुभव तथा श्रुत्यादि विरुद्ध है ही।

कहा जाता है "नाहं किञ्चिदवेदिषम्' मैंने कुछ नहीं जाना, 'सुखमहमस्वाप्सम्' मैं सुखपूर्वक सोया, इस परामर्श से अज्ञान, सुख और तद्भासक चैतन्य के समान ही अहं का भी परामर्श होता ही है फिर सुषुप्ति में अहमर्थ का सद्भाव क्यों न माना जाय।" परन्तु यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि यह परामर्श प्रबोध काल में ही होता है। उस समय अहं का अस्तित्व रहता ही है। अतः अहङ्कारावच्छिन्न चैतन्य को ही इस प्रकार का परामर्श होता है। इससे सुषुप्ति में अहमर्थ का सद्भाव नहीं निश्चित होता।

जो कहा जाता है "सुषुप्ति में स्वापविशिष्ट अहमर्थ रहता है। सुखसंविद्विशिष्ट आत्मा जाग्रत् में ही रहता है।" परन्तु यह कथन निराधार है। यह पीछे कहा जा चुका है कि अहं के रहते हुये सुषुप्ति होती ही नहीं है। अतएव इन्द्रिय गण के समान अहं का प्रस्वाप कहा गया है। अहं के प्रस्वापविशिष्ट होने का अर्थ ही है अहं का प्रविलय। यदि सुप्ति में अहमर्थ होता तो उसके साथ इच्छादि गुणों का भी होना अनिवार्य था। जैसे रूपादिरहित घट का उपलम्भ नहीं हो सकता वैसे ही इच्छादिहीन अहमर्थ का भी उपलम्भ नहीं हो सकता। यदि गुणविशिष्ट रूप से अहमर्थ का उपलम्भ सुप्ति में हो तो उसे सुप्ति ही नहीं कहा जा सकेगा।

कुछ लोग कहते हैं कि "मुक्ति में भी अहङ्कार रहता है।" परन्तु ऐसी स्थिति में मुक्ति अपुरुषार्थ ही रहेगी। जब सबीज सुप्ति में ही अहमर्थ नहीं है तो निर्बीज मुक्ति में कैसे रहेगा। जो कहते हैं मुक्ति में अहङ्कार रहता है उन्हें यह समझना चाहिये कि जबतक अहङ्कार रहता है तब तक मुक्ति होती ही नहीं। मैंने यह किया और मुझे यह करना है इत्यादि चिन्तन जबतक चलता है तब

तक निद्रा आती ही नहीं। अतः मुक्ति में प्रत्यगात्मा ही रहता है, एवं अहं आदि कुछ नहीं रहता क्योंकि प्रत्यक् तो बोधरूप ही है। इसमें अहं इदं आदि का स्फुरण नहीं होता। अहङ्कार का अहं रूप से मन का इदं रूप से प्रकाश होता है, दोनों ही अन्तःकरण हैं।

कुछ लोग कहते हैं "प्रत्यगात्मा मुक्ति में अहं रूप से ही प्रकाशता है। क्योंकि वह अपने लिये प्रकाशता है। जो अपने लिये प्रकाशता है वह अहं रूप से ही प्रकाशता है, जैसे संसारी आत्मा। जो अहं रूप से नहीं प्रकाशता वह प्रत्यगात्मा नहीं, जैसे घट।" परन्तु यह भी ठीक नहीं, क्योंकि अहङ्कार-विशिष्ट आत्मा अहमिदं जानामि मैं इस वस्तु को जानता हूँ इस तरह विशेषाकार से ही सब कुछ जानता है, अतः वह स्वसम्बद्ध सब का भासक होता है। न वह सबको ही अपने लिये प्रकाशता है और न अपने को ही अपने लिये प्रकाशता है क्योंकि चतुर्थ्यन्त प्रथमान्त का ऐक्य नहीं हो सकता है। गुरु शिष्य के लिये अर्थबोधन करता है यहाँ भेद ही स्पष्ट है। जब बोधन के पहले ही वह अपने और अन्य को जानता है तब उसका बोधन व्यर्थ ही है। यदि नहीं जानता तो बोधन सर्वथा असंभव ही है।

कहा जाता है कि "दीपादि परार्थ प्रकाशते हैं स्वार्थ नहीं। किन्तु आत्मा तो स्वार्थ ही प्रकाशता है यही स्वस्मै—प्रकाशमानत्व है।" परन्तु यह भी ठीक नहीं, यहाँ विचारणीय है कि प्रकाश तेज का धर्म है या ज्ञाता का? पहला पक्ष संगत नहीं, क्योंकि आत्मा नीरूप ही है। तेज से रूपादि का ही प्रकाश होता है। दूसरा पक्ष भी ठीक नहीं, क्योंकि दीपादि में जड़ता के कारण ज्ञातृत्व ही नहीं। यदि कहा जाय कि दीप का प्रकाशमानत्व तेज का धर्म है, आत्मा का प्रकाशमानत्व ज्ञातृधर्म है तो भी विचार करना है कि आत्मा अपने लिये अपने को जानता है या पर को। पहला पक्ष ठीक नहीं, क्योंकि ज्ञान का कर्ता स्वयं ज्ञान का कर्म नहीं होता पर समवेत क्रिया फलशाली ही कर्म होता है। इसके अतिरिक्त वह स्वज्ञान से पहले ही स्वयं सिद्ध होता है। यदि सिद्ध न हो तो ज्ञाता ही कैसे बनेगा? यदि आत्मा अपने लिये अन्य को जानता है तो भी वह अन्य क्या है? परमात्मा या प्राकृत प्रपञ्च? पहला पक्ष ठीक नहीं, क्योंकि परमात्मा आत्मा एक ही है फिर उस एक ही में ज्ञेयज्ञातृ भाव कैसे हो सकता है? दूसरा पक्ष भी ठीक नहीं, क्योंकि प्राकृत प्रपञ्च ज्ञान से जन्य कोई आत्मा का स्वार्थ है ही नहीं, फिर स्वस्मै प्रकाशमानत्व कैसे उपपन्न होगा? प्रत्युत प्रपञ्चज्ञान दुःख रूप ही है।

कहा जाता है कि जीवात्मा चन्दन, माला, वनितादि को अपने सुख के लिये जानता है परन्तु यह भी ठीक नहीं, क्योंकि ज्ञानमात्र से सुख नहीं होता। फिर संसारी आत्मा को तो स्वात्म सुख का लाभ नहीं होता। अतः जन्य सुख के लिये चन्दनादि ज्ञान हो भी परन्तु मुक्तात्मा को तो स्वरूप सुख ही व्यक्त होता है फिर विषय सुखापेक्षा कैसे होगी? मुक्ति दशा में विषय एवं विषय सुख कुछ भी नहीं होता, अतः आत्मसुखार्थ विषयानुभवितृत्वरूप स्वस्मै प्रकाशमानत्व संसारी में किसी तरह बन भी जाय तो भी मुक्तात्मा में वह सब संभव नहीं, अतः स्वस्मै प्रकाशमानत्वरूप हेतु ही मुक्तात्मा में नहीं है फिर उसके बल पर अहं का प्रकाश कैसे मान्य हो सकता है?

जो अपने लिये प्रकाशता है वह अहंरूप से प्रकाशमान हो सकता है। 'अहमिदंजानामि' ऐसी प्रतीति उसी में होती है। घटादि का ऐसा प्रकाश नहीं होता, क्योंकि उसमें अहङ्कार वैशिष्ट्य नहीं होता। प्रत्यगात्मा भी अहंरूप से नहीं प्रकाशता, क्योंकि उसमें भी अहङ्कार वैशिष्ट्य नहीं है। इसके अतिरिक्त प्रत्यगात्मा तो परार्थ भी प्रकाशता है क्योंकि उसी के भान से सब का भान होता है—'तस्य भासा सर्वमिदं विभाति' मुक्तात्मा परार्थ नहीं प्रकाशता, क्योंकि उस स्थिति में पर रहता ही नहीं। स्वार्थ भी नहीं प्रकाशता, क्योंकि वह स्वयं पूर्णकाम है। अतः उसका स्वार्थ है ही नहीं, यदि स्वार्थ है तो वह अकृत कृत्य ही है।

कुछ लोग कहते हैं "अहं प्रत्यय अज्ञत्वादि का मूल नहीं है" परन्तु यह ठीक नहीं। इदमहं न जानामि, सुखी अहं, दुःखी अहं इत्यादि अनुभव अहं प्रत्यय के होने पर ही होता है। उसके न रहने पर नहीं होता। अहं प्रत्यय भी अज्ञान एवं अन्योऽन्याध्यासमूलक ही है।

कहा जाता है "अहं ही आत्मा का स्वरूप है। अतएव अहं प्रत्यय ही स्वरूप ज्ञान है। यह अज्ञता का आपादन नहीं करता। फिर संसारिता का आपादन कैसे करेगा? प्रत्युत अज्ञत्व संसारित्व का विरोधी होने से यह अज्ञता का नाशक ही है।" परन्तु यह ठीक नहीं, क्योंकि अहं यह रूप अहङ्कार का है। आत्मा का नहीं। आत्मा का तो ज्ञान ही स्वरूप है। अनात्म स्वरूप अहं में आत्मत्व का ज्ञान भ्रम ही है। अतः अज्ञता का ही आपादक अहं प्रत्यय है। जब वही संसार का बीज है तो उसे संसारित्वनाशक कैसे कहा जा सकता है? मैं मनुष्य हूँ, कृश हूँ, सुखी, दुःखी हूँ ऐसा माननेवाला असंसारी कैसे हो सकता है?

कहा जाता है कि "ब्रह्माहं, ऐसा समझनेवाला असंसारी है। परन्तु इसमें भी तो अहं का अस्तित्व है और यह अहं प्रत्यय संसार का नाशक ही है यह भी कहना ठीक नहीं"। कारण 'अहं ब्रह्मास्मि' प्रत्यय अखण्ड ब्रह्म प्रत्यय है, इसमें अहं शब्द का लक्षणा से उसी अखण्ड ब्रह्म में प्रयोग है। 'अहं मनुरभवं' इत्यादि वाक्य के अनुसार वामदेवोद्धरित अहं शब्द का भी प्रत्यक् चैतन्याभिन्न ब्रह्म ही अर्थ है। प्रत्यगात्मा वस्तुतः मन्वादि नहीं हो सकता, किन्तु माया से वही सर्वस्वरूपता को प्राप्त होता है।

कहा जाता है कि "हन्ताहमिमास्तिस्रोदेवताः इत्यादि श्रुतियों के आधार पर विदित होता है कि ब्रह्म में भी अहं प्रत्यय होता है" परन्तु यह ठीक नहीं, क्योंकि जैसे जीव में अहं वृत्ति एवं इदं वृत्ति दो वृत्ति होती है वैसे ही ईश्वर की उपाधिभूत माया में भी दो वृत्तियाँ होती हैं। अतएव मायी ईश्वर में ही अहं प्रत्यय होता है, शुद्ध ब्रह्म में अहं प्रत्यय नहीं होता। जैसे मुक्तात्मा में अहं प्रत्यय नहीं होता वैसे ही शुद्ध ब्रह्म में भी अहं प्रत्यय नहीं होता।

कहा जाता है "शुद्ध ब्रह्म है ही नहीं," परन्तु यह ठीक नहीं, जिसकी माया है वही मायावी होता है। माया से पृथक्भूत रूप ही शुद्ध ब्रह्म है 'निरवद्यं निरञ्जनम्' इस श्रुति से भी शुद्ध ब्रह्म विदित होता है। कहा जाता है 'यदि अहङ्कार अज्ञता का आपादक है तो ईश्वर भी अज्ञ सिद्ध होगा।' परन्तु यह ठीक नहीं, कारण अन्तःकरण वृत्तिरूप अहङ्कार ही अज्ञत्व का प्रयोजक है। अन्तःकरण सम्बन्ध से जीव में अज्ञता होती है परन्तु माया सम्बन्ध से तो ईश्वर में सर्वज्ञता ही होती है। अतएव असंसारिता भी उसमें रहती है। अल्पज्ञता ही संसारिता का प्रयोजक होती है। परन्तु माया तो सर्वव्यापिनी है। उसके योग से ही ईश्वर में सर्वज्ञता होती है। अन्तःकरण परिच्छिन्न होता है। उसके संसर्ग से जीव में अल्पज्ञता आती है।

वस्तुतस्तु ईश्वर में अहंग्रह न होने पर शब्द् व्यवहार अहङ्कार का सद्भाव रहता है। इसी दृष्टि से 'अहं घटं करवाणि' मैं घट बनाऊँ, कुलाल के तुल्य मैं नाम रूप का व्याकरण करूँ, इस तरह ईश्वर भी व्यवहार करता है। 'अहं पुरुषोत्तमः', 'अहमात्मा' इत्यादि व्यवहारों में वह भी लक्षणा से ही अहं शब्द का प्रयोग करता है, अभिधा शक्ति से नहीं। अहं शब्द की वक्ता में शक्ति होती है। वह वक्ता यदि जीव है तो वह अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य प्रमाता होता है। ईश्वर हुआ तो मायावच्छिन्न चैतन्य होता है। शुद्ध चैतन्य में

वक्तृत्वादि धर्म नहीं होता। देहेन्द्रियादि युक्त चैतन्य ही वक्ता होता है। उपाधिरहित में वक्तृत्व नहीं होता। स्वरूपतः अकाय अव्रण आत्मा होता है। माया से ही ईश्वर भी देहवान् होता है। जीव कर्म सहित अविद्या से देहाध्यास को प्राप्त होकर जन्मता मरता है। अतः जीव एवं ईश्वर के सम्बन्ध में प्रयुक्त अहं शब्द लक्षणा से शुद्ध चैतन्य का बोधक होता है।

कहा जाता है कि "अनेक वाक्यों के अहं शब्द का लाक्षणिक अर्थ करना दोष है।" परन्तु मुख्यार्थ बाध में लक्षणा होना उचित ही है, दोष नहीं।

कहा जाता है "आत्मा में अहं शब्द का प्रयोग मुख्य ही है। आत्मा ही अबाधित अहं प्रत्यय का गोचर है। सभी आत्मा को अहं रूप से ही जानते हैं। कोई भी आत्मा को अनहं नहीं समझता।" परन्तु यह कहना भी ठीक नहीं, क्योंकि यदि सभी को आत्मा में ही अहंबुद्धि हो तब तो सबकी मुक्ति ही होनी चाहिये। वस्तुतस्तु आत्मत्वेन अभिमत देहादि में ही अहं बुद्धि होती है। इसी लिये 'अहं मनुष्यः' ऐसी प्रतीति होती है। विद्वान को ही आत्मा में अहं-बुद्धि होती है। सर्वानुभव विषय होने से अहं शब्द का आत्मा मुख्य अर्थ नहीं है किन्तु अनात्मा अहङ्कार ही अहं का अर्थ है।

कहा जाता है कि "स्व अहं शब्द का अर्थ है और स्व आत्मा ही है, अतः आत्मा अहं दोनों पर्यायवाचक हैं। अतः मुख्यावृत्ति से ही आत्म शब्द एवं अहं शब्द जीव एवं ईश्वर के बोधक हैं।" परन्तु यह ठीक नहीं, कारण आत्म शब्द स्वयं के अर्थ में प्रयुक्त होता है। आत्म शब्द त्वं के साथ भी जुड़ता है 'त्वमात्मना जानासि'—तुम अपने से ही जानते हो। परन्तु अहं शब्द का प्रयोग त्वं के साथ नहीं होता है। इसी लिये स्वयं और आत्म शब्द त्वं अहं इदं सब के साथ साथ लग सकता है। 'त्वं स्वयं गच्छ, 'अहं स्वयं गच्छामि,' 'स स्वयं गच्छति,' 'आत्मनाऽसौ तृतीयः'। अहं शब्द जीवेश्वरवाची हो सकता है। परन्तु शुद्ध चैतन्य में लक्षणा से ही अहं शब्द प्रयुक्त होता है।

कुछ लोग कहते हैं "आत्मा में अहं शब्द स्वाभाविक है, परन्तु अनात्मा में दोष से अहं शब्द प्रयुक्त होता है। वह दोष अविद्या है। उसी से प्राणी देहादि को आत्मा मानता है, आत्मा को नहीं। विद्या से आत्मा को ही आत्मा मानता है। अतः अहं शब्दार्थ ही आत्मा है।" परन्तु यह ठीक नहीं, क्योंकि यहाँ विचार करना आवश्यक है कि क्या आत्मा आत्मा को

अहं मानता है अथवा अनात्मा ? पहला पक्ष ठीक नहीं, क्योंकि चिन्मात्र में मन्तृत्व होता ही नहीं, अन्यथा सुप्ति, मृति, मूर्छा में भी आत्मा को अहं रूप से मान सकता है। यदि कहा जाय कि यह इतर ही है तो ठीक नहीं क्योंकि यह सर्वानुभव विरुद्ध है। यदि अनात्मा ही आत्मा को अहं समझता है तब तो अनात्मा ही अहं शब्द का अर्थ ठहरा। क्योंकि मन्ता और वक्ता ही अहं शब्दार्थ है यह कहा ही जा चुका है। इसी तरह यह भी विचारणीय है कि आत्मा में अहं शब्द का जो प्रयोग करता है वह आत्मा है या अनात्मा ? पहला पक्ष ठीक नहीं, क्योंकि देहेन्द्रियादि रहित आत्मा से शब्दप्रयोग हो ही नहीं सकता। यदि द्वितीय पक्ष मान्य है, तब तो अनात्मा ही अहं शब्दार्थ ठहरता है। यदि कहा जाय कि 'इन्द्रियादि सहित आत्मा शब्द प्रयोग करता है,' तो यह भी ठीक नहीं क्योंकि अविद्या बिना असङ्ग आत्मा में देहेन्द्रियादि साहित्य संभव ही नहीं। जो देहेन्द्रियादि सङ्गी है वह प्रत्यगात्मा नहीं होता किन्तु जीव ही है। वही कर्ता, वही भोक्ता है। वह अहंकार विशिष्ट ही है वही अहमर्थ है। अतः आत्मा में आत्म शब्द एवं स्व शब्द प्रयोग स्वाभाविक है, अहं शब्द प्रयोग दोषकृत है। वह दोष है, अविद्याकृत अहङ्कार और आत्मा का तादात्म्याध्यास। विद्या से अविद्या के नष्ट होने पर आत्मा में अहं शब्द का प्रयोग लक्षणा से ही होता है, अभिधा से नहीं। कहा जाता है 'यदि अनात्मा अहं शब्द का मुख्य अर्थ है तब घटादि में भी अहं शब्द का प्रयोग होना चाहिये।' परन्तु यह ठीक नहीं, क्योंकि अहङ्काररूप अनात्मा में ही अहं शब्द का प्रयोग होता है। किञ्च जो अहं शब्दार्थ आत्मा को मानता है उसके मत से त्वं शब्द का क्या अर्थ है? यदि कहा जाय कि वह भी आत्मा ही है तो आत्मा का अहं ही रूप है यह बात कट जाती है। यदि कहा जाय कि त्वं भी आत्मा का ही रूप है तो यह ठीक नहीं, क्योंकि त्वन्ता एवं अहन्ता रूप विरुद्ध धर्मों का एक आत्मा में समावेश नहीं हो सकता। यदि कहा जाय कि दो आत्माओं में दोनों का प्रयोग होगा तो यह ठीक नहीं, क्योंकि आत्मा में द्वित्व असिद्ध है। आत्मभेद मानने पर भी किसमें त्वन्ता है और किसमें अहन्ता है इसका निर्धारण न हो सकेगा। स्वात्मा में अहन्ता परात्मा में त्वन्ता यह भी नहीं कहा जा सकता। स्व एवं आत्मा शब्द पर्यायवाची हैं। अतः स्व आत्मा का विशेषण नहीं बन सकेगा। इसी तरह पर और आत्म शब्द भी परस्पर विरुद्ध होने से उनमें भी विशेषण-विशेष्य भाव नहीं बन सकेगा।

कहा जाता है स्व में अहन्ता एवं पर में त्वन्ता का प्रयोग हो सकेगा। पर यह भी ठीक नहीं। स्व एवं पर शब्द का अर्थ क्या है? यदि आत्मा कहें तो ठीक नहीं; आत्मा पर शब्द का अर्थ नहीं हो सकता। कोई भी आत्मा को पर नहीं मानता। अतः स्व शब्द का अर्थ ही आत्मा है। अहं शब्द एवं त्वं शब्द का अर्थ शुद्ध आत्मा नहीं है। हाँ, अहङ्कारविशिष्ट चैतन्य अहं शब्द का और सम्बोध्य अहङ्कारविशिष्ट चैतन्य त्वं शब्द का अर्थ है। 'महाभूतान्यहङ्कारो' 'महतोऽहंकार' आदि वचनों के अनुसार त्वंकार स्वतन्त्र कोई पदार्थ नहीं, अहङ्कार ही स्वतंत्र तत्त्व हैं। अहङ्कार तत्त्व त्वं बुद्धि विरोधी नहीं है। अहं बुद्धि ही त्वं बुद्धि की विरोधिनी है।

कहा जाता है यदि साभास अहंकार को स्व में अहंबुद्धि होती है और स्व शब्दार्थ आत्मा ही है तो सुतरां आत्मा में ही अहं बुद्धि हुई। परन्तु यह ठीक नहीं; कारण साभास अहंकार को जहाँ अहंबुद्धि होती है वह स्व शब्दार्थ साभास अहंकार ही है, आत्मा नहीं। सब कुछ आत्मा में ही कल्पित होने से सब कुछ आत्मा ही है। इस दृष्टि से यह भी आत्मा ही है। 'ऐतदात्म्यमिदं सर्वं स आत्मा', भी सामान्य लोक जीव को ही आत्मा मानता है। अतएव बोद्‌धृतात्पर्याभिप्राय से साभास अहंकारविशिष्ट चैतन्य ही अहंबुद्धि का विषय कहा जाता है।

कहा जाता है कि अनात्मा में अहंकार बुद्धि का जनक अहङ्कार प्रकृति का परिणाम है। परन्तु आत्मा में अहं बुद्धि स्वाभाविकी है, अहङ्कारजन्य नहीं। पर यह भी ठीक नहीं, कारण वृत्ति, ज्ञान या बुद्धि अन्तःकरणजन्य ही है, अन्तःकरण से अजन्य स्वाभाविकी बुद्धि कोई नहीं होती। यदि आत्मा में अहंबुद्धि स्वाभाविक हो तब तो वेदान्त शास्त्र ही व्यर्थ होंगे। आत्म-साक्षात्कार के लिये ही तो उनका उपयोग है। अतः अहं बुद्धि का जनक अहङ्कार गर्व हेय कोटि में कहा गया है। परन्तु गर्व अहङ्कार का विषय है। अतएव कहा गया है—

"मनो बुद्धिरहङ्कारश्चित्तं करणमान्तरम्।
संशयो निश्चयो गर्वः स्मरणं विषया अमी॥"

मन, बुद्धि, चित्त, अहङ्कार ये चार अन्तःकरण हैं। संशय, निश्चय, गर्व एवं स्मरण उनके विषय हैं। 'गर्वोऽभिमानोऽहंकार' इस निघण्टु वचन में अहङ्कार विषय गर्व में ही अहंकार शब्द का प्रयोग हुआ है। कुछ लोगों का कहना

है कि 'अनहमहं क्रियते अनेन' इस प्रकार व्युत्पत्ति से अनहं को अहं किया जाय जिसमें वह अहंकार तत्ववाची है और 'अनहमोहम: करणं अहङ्कारः' इस भाव व्युत्पत्ति से अहङ्कार शब्द गर्ववाची होता है। दोनों पक्ष में अभूत तद्भाव में च्वि प्रत्यय माना जाता है, किन्तु यहाँ अभूत तद्भाव है ही नहीं। ऐसा हो तब तो अनहं में अहंबुद्धि अहंकार है और अहं में अहंबुद्धि अहङ्कार नहीं है यह कहना होगा। परन्तु यह असंगत है, जैसे अत्वं में त्वं बुद्धि त्वंकार है और त्वं में त्वं बुद्धि त्वंकार नहीं यह असंगत है, वैसे ही प्रकृत में भी समझना चाहिये।

यह भी विचारना होगा कि बुद्धि में अहंबुद्धि अहंकार है या नहीं, पहला पक्ष ठीक नहीं क्योंकि फिर तो अनहं में अहंबुद्धि अहङ्कार है इस नियम का भङ्ग हुआ। यदि कहा जाय कि बुद्धि अहमर्थ नहीं है तो यह ठीक नहीं, क्योंकि 'अथातोऽहंकारादेशः' इस श्रुति में अहं शब्द को साक्षात् अहंबुद्धि का वाची माना है। दूसरा पक्ष भी ठीक नहीं, क्योंकि यदि अनहं में अहंबुद्धि अहङ्कार है तो बुद्धि में अहंबुद्धि अहङ्कार क्यों नहीं ? यदि कहा जाय कि बुद्धि अहमर्थ ही है तब तो अहमर्थ आत्मा है यह सिद्धान्त भङ्ग हुआ।

कहा जाता है कि शरीरादि अनात्मा में आत्मबुद्धि अविद्या है परन्तु आत्मा में आत्मबुद्धि बाधरहित होने से विद्या ही है। परन्तु यह ठीक नहीं, क्योंकि आत्मा में अहंबुद्धि बाधरहित नहीं है। विचारना यह है कि आत्मा में आत्मबुद्धि आत्मा को होती है या अनात्मा को ? पहला पक्ष ठीक नहीं, क्योंकि सुप्ति में भी अहंबुद्धि होनी चाहिये वहाँ आत्मा रहता है पर वहाँ अहंबुद्धि नहीं होती। दूसरा पक्ष भी ठीक नहीं, क्योंकि अनात्मा को आत्मा में अहंबुद्धि अविद्या ही हुई। अहमात्मा इस रूप से माननेवाला अनात्मा ही अहमर्थ ठहरता है। कहा जाता है यदि ज्ञप्तिमात्र ही आत्मा है तो वैसा ही प्रतिभास होना चाहिये। पर प्रतीति ज्ञातृत्व की होती है। परन्तु यह भी ठीक नहीं, क्योंकि ज्ञप्तिमात्र आत्मा में ही ज्ञातृत्व का भ्रम होता है। जो ज्ञप्तिमात्र आत्मा को जानता है उसे अनात्मा में आत्मबुद्धि नहीं होती। चिदाभास से अविविक्त अहङ्कार को ही लोक आत्मा समझता है। अतः अनात्मा शरीरादि में अहं प्रत्यय आत्माभिमान कहा जाता है। कहा जाता है कि तब तो अनात्मा अहङ्कार में भी अहं प्रत्यय आत्माभिमान ही है। ठीक है, अनात्मा अहङ्कार में यदि आत्मा को अहं प्रत्यय हो तो वह आत्माभिमान ही है। परन्तु ऐसा होता नहीं, क्योंकि आत्मा जन्य ज्ञान का आश्रय नहीं होता।

यदि अनात्मा को ही अनात्मा अहङ्कार में अहं प्रत्यय होता है तब तो यथार्थ ही है। आत्माभिमान क्यों ? इस तरह साभास अहङ्कार को साभास अहङ्कार में अहं प्रत्यय आत्माभिमान नहीं है किन्तु स्व से अन्य में अहं प्रत्यय ही आत्माभिमान है। जीव को अपने में अहंबुद्धि आत्मबुद्धि ही है। कहा जाता है कि फिर तो अहमर्थ जीव ही ज्ञाता सिद्ध हुआ, ठीक ही है; परन्तु वह संसारी ही है, प्रत्यगात्मा अहमर्थ नहीं किन्तु वह ज्ञप्तिमात्र ही है।

कहा जाता है यदि अहमर्थ अनात्मा है तब तो स्थूलोऽहं इस प्रत्यय को भ्रान्ति क्यों कहा जाय ? परन्तु यह ठीक नहीं, जैसे भ्रान्त की दृष्टि से इदमर्थ सर्प ही है वैसे ही उसकी दृष्टि में अहमर्थ आत्मा ही होता है। यदि अहमर्थ आत्मा है तो स्थूलोऽहं के अनुसार स्थूलः आत्मा ऐसी प्रतीति क्यों नहीं होती ? अतः अहङ्कारावच्छिन्न आत्मादि अहं शब्दार्थ है केवल नहीं।

———

ज्ञान नित्यत्व

कुछ लोग कहते हैं "अद्वैती लोकप्रसिद्ध ज्ञान को ही आत्मा या परमात्मा मानते हैं, किसी लोकोत्तीर्ण ज्ञान को नहीं परन्तु प्रसिद्ध ज्ञा धातु से निष्पन्न ज्ञान तो अनित्य ही होता है।" यह कहना भ्रामक है क्योंकि अद्वैती ही क्यों उपनिषदें तथा भागवतादि पुराण भी ज्ञान को ही आत्मा एवं परमात्मा मानते हैं। 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म', 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' अर्थात् त्रिकालाबाध्य अनन्त अपरिच्छिन्न ज्ञान ही ब्रह्म, है। भागवत के अनुसार अद्वितीय त्रिविध परिच्छेद शून्य ज्ञान ही तत्त्व है। उसी को ब्रह्म, परमात्मा एवं भगवान् कहा जाता है—

"वदन्ति तत् तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम् ।
ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते ।"

एक ज्ञानरूप निर्गुण ब्रह्म पराङ्मुख इन्द्रियों से शब्दादि धर्मि प्रपञ्च रूप में भ्रान्ति से प्रतिभासित होता है—

"ज्ञानमेकं पराचीनैरिन्द्रियैर्ब्रह्मनिर्गुणम् ।
अवभात्यर्थरूपेण भ्रान्त्याशब्दादि धर्मिणा ॥"

तुलसीदास जी भी कहते हैं 'ज्ञान अखण्ड एक सीतावर।' एक अखण्ड ज्ञान ही राम है। रहा यह कि वह लौकिक है या अलौकिक? सो तो जब उसको नित्य अखण्ड कहा जा रहा है तो सुतरां सर्वलोकाधिष्ठान, अलौकिक, लोकोत्तीर्ण अतएव मनोवचनातीत ही है। तभी तो प्रतिवादियों को ज्ञान शब्द से साभास वृत्ति ही बुद्धिगत होती है। कई लोग तो नित्य ज्ञान की सत्ता भी नहीं मानते। बौद्ध भी ज्ञान की चर्चा करते हैं परन्तु उनका ज्ञान भी क्षणिक बुद्धि रूप ही है। इतरवादियों का भी ज्ञान अनित्य ही है। कई लोग धर्मभूत ज्ञान को नित्य मानते हुए भी उसे परप्रकाश्य मान लेते हैं। आचार्यों ने वृत्तिव्यक्त फलचैतन्य या घटादि अनुभूति को ब्रह्म तत्त्व कहा है। परन्तु उसे उपाधि निष्कृष्ट (निर्मुक्त) रूप से ही ब्रह्म समझना चाहिये।

यों तो आत्मा को भी अद्वैती ब्रह्म कहते हैं। परन्तु कौन आत्मा? क्या देहादिविशिष्ट कर्ता, भोक्ता, सुखी, दुःखी, अनेकानर्थपरिप्लुत अथवा देहादि उपाधि-रहित अखण्ड बोध स्वरूप? प्रथम पक्ष मान्य नहीं यह स्पष्ट है, किन्तु उत्तर

पक्ष ही मान्य है। इसीलिये श्रुति में कहा गया है जैसे बुद्धिमानी से मुञ्जतृण से इषीका (सिरकी) निकाली जाती है उसी तरह पञ्चकोश से विविक्त रूप से आत्मा का दर्शन होता है। पञ्चकोशविशिष्ट होकर आत्मा लौकिक होता हुआ विविक्त रूप से अलौकिक ही है। सत्ता, ज्ञान, आनन्द सभी उपाधिविशिष्ट होकर लौकिक ही हैं परन्तु उपाधिविविक्त होकर सर्वथा लोकोत्तीर्ण हैं। तभी तो उसी तत्त्व के संबंध में कहा गया है—'आश्चर्योऽस्य वक्ताकुशलोऽनुशिष्टः' इसका वक्ता आश्चर्यमय है अनुशिष्ट शिष्य भी बहुत कुशल चाहिये।

"आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेनमाश्चर्यवद्वदति तथैव चान्यः।
आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोति श्रुत्वाऽप्येनं वेद न चैव कश्चित्।"

इसका वक्ता, श्रोता, द्रष्टा सर्वआश्चर्यमय है। कई बुद्धि में ज्ञान, सत्ता, आनन्द आदि शब्दों से लौकिक अनित्य दृश्य वैषयिक वस्तु ही भासित होती है। पीछे कहा जा चुका है कि अनित्य ज्ञानों एवं उनका आश्रय ज्ञाता तथा ज्ञानविषय इन सभी का भासक निर्विकार नित्य अखण्ड भान ही नित्य ज्ञान-स्वरूप आत्मा या ब्रह्म है। 'त्रितयं तत्र यो वेद स आत्मा' तीनों को जो स्वरूपभूत प्रकाश से भासता है वही आत्मा है।

प्रतिवादी ज्ञान का प्रागभाव तथा उत्पत्ति सिद्ध करने का प्रयास करते हैं। ज्ञान के स्मरण एवं अनुमान आदि सिद्धि में जीतोड़ प्रयत्न करते हैं परन्तु यह सब बुद्धिवृत्तिरूप ज्ञान में ही गतार्थ हो जाता है।

सुप्ति में मैं नहीं जानता था इस कथन से वृत्तिरूप विशेष ज्ञान का ही अभाव सिद्ध होता है। अतएव सौषुप्ततम एवं सुख के भासक साक्षिरूप ज्ञान का अस्तित्व श्रुति ही कहती है—

"यद्वै तन्न पश्यति, पश्यन् वै तन्न पश्यति" (श्रुति)
"ता येनैवानुभूयन्ते सोऽध्यक्षः" (भा०पु०)
"न हि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपः" (श्रुति)

अवस्था त्रय साक्षी के अभाव में सुप्ति ही नहीं सिद्ध होगी। 'उसी ज्ञान के द्वारा उसी ज्ञान का अभाव सिद्ध होता है', यह कथन अत्यन्त असंगत है, जब वह ज्ञान है ही नहीं तब अभाव ग्राहक कैसे होगा? है तो उसका अभाव ही कैसे होगा? ज्ञान का स्वप्रकाशत्व विस्तार से कहा गया है। अतः एक ज्ञान दूसरे का प्रकाशक नहीं होता। वृत्ति का नानात्व ही ज्ञान में भ्रान्ति से आरोपित होता है। वस्तुतः अन्य ज्ञान है ही नहीं जिससे ज्ञान का प्रकाश हो।

कहा जाता है "ज्ञान का प्रागभाव दूसरे ज्ञान से गृहीत नहीं होता। अद्वैतियों का यह वाक्य भी सार्थक नहीं होगा। यह तभी सार्थक होगा जब ज्ञान पूर्वोक्त वाक्यजन्य शाब्दबोध का विषय हो। ज्ञान की दुर्ग्राह्यता या अज्ञेयता तभी कही जा सकती है जब दुर्ग्राह्य ज्ञान किसी ज्ञान का विषय हो।" परन्तु यह सब कथन निरर्थक है, क्योंकि वृत्तिरूप ज्ञान, निर्णय, संशय, विपर्यय आदि का विषय आत्मा, ब्रह्म, संविद् आदि अवश्य होते हैं। परन्तु उनसे ब्रह्म या शुद्ध ज्ञान आदि का प्रकाश नहीं होता यह कहा जा चुका है। किन्तु आंशिक अज्ञानादि निवर्तन ही उनका प्रयोजन है। आवरणनिवृत्ति एवं स्फुरण दो वस्तु हैं यह समझ लेना चाहिये। शास्त्रार्थ, उपदेश, जिज्ञासा, उपदिष्ट ज्ञान का समझना, न समझना आदि भी वृत्तिरूप विशिष्ट ज्ञान के सम्बन्ध की ही बात है। अपने में या शिष्य में अपरोक्ष ज्ञान के प्रागभाव को जानकर ही अपरोक्ष ज्ञान के लिये प्रयत्न किया जाता है परन्तु यहाँ भी अपरोक्ष ज्ञान या शास्त्रार्थ ज्ञान वृत्तिरूप ही ज्ञान है और वह ज्ञेय ही मान्य है।

जैसे कुड्यादि व्याप्त सौरालोक से वास्तविक भेद न होने पर भी दर्पण प्रतिबिम्बित सौरालोक उसकी अपेक्षा विशिष्ट भासित होता है, उसी तरह सर्वव्यापी निर्विशेष अखण्ड बोध से विषयाकार वृत्ति में प्रतिबिम्बित बोध की विशेषता भासित होती है। इसी लिये वृत्ति के उत्पन्न होने से वृत्ति प्रतिबिम्बित चैतन्य की उत्पत्ति आदि की भ्रान्ति होती है। यही अमुक ज्ञान या समझ हममें या अन्य में पहले नहीं थी अब हुई है—इत्यादि व्यवहार होते हैं। ऐसे सभी स्थलों में वृत्ति की उत्पत्ति से ही वृत्तिविशिष्ट चैतन्य या बोध में उत्पत्ति का भ्रम ही है।

अपि च 'शिखीध्वस्तः, कुण्डली जातः' इत्यादि स्थलों में शिखा और कुण्डल रूप विशेषण में ही ध्वंस और उत्पत्ति पर्यवसित होती है। 'सविशेषणे विधिनिषेधौ विशेषणमुपसंक्रामतः' सविशेषण में विधि निषेध विशेषण में ही उपसंक्रान्त होता है। शिखी के ध्वंस का अर्थ शिखा का ही ध्वंस है। कुण्डली जातः का अर्थ कुण्डल सम्बन्ध का होना है। विशेष के विद्यमान होने के कारण विधि निषेध दोनों ही उसमें नहीं हो सकते। इस तरह ज्ञान की उत्पत्ति का व्यवहार नहीं होता, वहाँ विषय सम्बन्ध की उत्पत्ति ही अर्थ है। इसी लिये समझ की उत्पत्ति की बात नहीं कही जाती है। समझ, ज्ञान या बोध होते हुए भी अमुक अमुक शास्त्र या अमुक अमुक विषय का बोध या समझ मुझे नहीं है यही कहा जाता है। उसी के लिये तत्तत् प्रत्यक्ष अनुमान, आगम एवं आचार्यों-

पदेश अपेक्षित होते हैं। उनसे तत्तद्विषयाकार वृत्ति उत्पन्न होती है। तब तत्तत् विषयों का बोध होना कहा जाता है। वृत्ति पर अभिव्यक्त जिस बोध से प्रकाश होता है वह बोध तो सदा ही एकरस रहता है। जैसे प्रथम से विद्यमान ही सौरालोक दर्पणादि पर विशेष रूप से व्यक्त होता है, वैसे ही नित्य बोध ही विषयाकार वृत्ति पर व्यक्त होकर विषय का प्रकाशन करता है। इसी लिये कौषीतकी आदि में कहा गया है कि—

"प्रज्ञया चक्षुः समारुह्य सर्वाणि रूपाण्यभिपश्यति"

प्रज्ञा के द्वारा ही ज्ञान स्वरूप आत्मा चक्षु पर उपारूढ होकर सब रूपों को देखता है। यह भी उपलक्षण ही है। प्रज्ञा द्वारा तत्तत् करणों पर उपारूढ होकर तत्तत् करणजन्य तत्तद्विषयाकार वृत्ति पर अभिव्यक्त होकर तत्तद् विषयों का प्रकाशन करता है।

इसी तरह यह भी कहा जाता है कि यदि ज्ञान अनादि एवं नित्य हो तब तो उसका विधान भी नहीं हो सकता; परन्तु 'पत्न्यावेक्षितमाज्यं भवति' इत्यादि वाक्यों से पत्नी के द्वारा यज्ञ सम्बन्धी आज्य (घृत) के अवेक्षण का विधान है। इससे भी ज्ञान की उत्पत्ति सिद्ध होती है परन्तु यह भी कथन भ्रममूलक है। यहाँ तो स्पष्ट ही चक्षुर्जन्य अन्तःकरण की वृत्ति की ही उत्पत्ति होती है। वृत्ति ही अवेक्षण है। उसी की उत्पत्ति से उस पर अभिव्यक्त प्रकाशरूप बोध में भी उत्पत्ति का आरोप है—'ज्ञानमुत्पद्यते पुंसां क्षयात्पापस्य कर्मणः', पापकर्म क्षय से ज्ञान की उत्पत्ति होती है। 'तद्धास्य विजज्ञौ' पिता के वचन से श्वेतकेतु ने ब्रह्म को जान लिया इत्यादि स्थलों में भी वेदान्त महावाक्य जन्य वृत्ति की ही उत्पत्ति की बात कही गयी है। उसी को चरमावृत्ति कहा जाता है। असल में वृत्तिरूप ज्ञान और अज्ञान दोनों ही नित्य ज्ञानरूप साक्षी से भास्य होते हैं। इसलिये ज्ञात और अज्ञात रूप से सभी वस्तु साक्षिभास्य हैं। 'ज्ञाततया अज्ञाततया वा सर्वं वस्तु साक्षिभास्यम्' यह सिद्धान्त है। उपनिषद् कहती है ब्रह्म के भान के पश्चात् ही सब वस्तु का भान होता है। ज्ञानस्वरूप ब्रह्म के स्वरूप से सब वस्तु का प्रकाश होता है—'तमेवभान्तमनुभाति सर्वम् तस्यभासा सर्वमिदम् विभाति।' इस तरह अज्ञान का विषय होकर अज्ञात रूप से वस्तु साक्षिभास्य होती है। वृत्तिरूप ज्ञान का विषय होकर ज्ञातरूप से वस्तु साक्षि से भासती है।

सर्वथाऽपि नित्य ज्ञान का प्रागभाव या अतीतता आदि नहीं होती। यह

ज्ञानसम्बन्धी स्मरण, अनुमान या प्रागभाव वृत्तिज्ञान सम्बन्धी ही है। इस सम्बन्ध में बहुतसा निरर्थक पूर्व पक्ष बढ़ाया जाता है। "यदि प्रत्यक्ष ज्ञान नित्य है तो प्रत्यक्ष ज्ञान सदा ही रहना चाहिये। प्रत्यक्ष वर्तमानग्राही होता है फिर घटादि विषय भी सदा वर्तमान रहना चाहिये। परन्तु घटादि तो अनित्य ही है। अतः प्रत्यक्ष ज्ञान को भी अनित्य ही मानना पड़ेगा। घट के रहते समय भी वह कभी प्रत्यक्ष होता है कभी नहीं, प्रत्यक्ष सामग्रीसापेक्ष भी होता है जो सामग्रीसापेक्ष है वह नित्य कैसे? घटादि का सदा प्रकाश नहीं रहता अतः ज्ञान का नाश भी मानना चाहिये। जो अर्थ विस्मृत हो जाते हैं उनको फिर से समझाया जाता है। इससे भी ज्ञान का नाश सिद्ध होता है। यदि घटादि विषय का ज्ञान नष्ट न हो तो लोगों को निद्रा ही न होनी चाहिये। साथ ही मोक्षकाल में भी घटादि ज्ञान रहना चाहिये। फिर उसे मोक्ष भी कैसे कहा जायगा।" ऐसे ही सैकड़ों और भी नये प्रश्न बनाये जा सकते हैं। परन्तु सब का एक ही समाधान है कि ये सब वृत्तिज्ञान हैं और उनकी उत्पत्ति विनाश मान्य ही है। इसी को लेकर प्रतिकर्म व्यवस्था बनती है। जिस अखण्ड बोध के द्वारा इन वृत्तिरूप ज्ञानों की उत्पत्ति आदि भासित होती है प्रकाशरूप में नित्य ज्ञान वही है। जैसे घटादि उपाधि परामर्श के बिना भेद प्रतीत न होने से सब आकाश एक ही है। उसी तरह विषय एवं वृत्तिरूप उपाधिभेद के बिना सब ज्ञानों में रहनेवाले भान या प्रकाश में भेद नहीं प्रतीत होता। सर्वत्र नित्य प्रकाश विज्ञान एक ही है। नित्य ज्ञान होता ही नहीं; यह कहना ठीक नहीं क्योंकि प्रतिवादी भी धर्मिभूत अहमर्थ को भी स्वयंप्रकाश होने से नित्य ज्ञानरूप कहता है। धर्मभूत ज्ञान को भी वह नित्य मानता है। अतः उसके पक्ष में चक्षुरादिकरण तथा मन आदि अन्तःकरण व्यर्थ होगा। ज्ञान की उत्पत्ति, नाश तथा विस्मरण, स्मरण आदि की व्यवस्था सर्वथा अनुपपन्न रहेगी। अद्वैत मत में तो अन्तःकरण वृत्ति रूप ज्ञान को लेकर सब व्यवस्था उपपन्न हो जाती ही है।

कुछ लोग कहते हैं 'अथ यो वेदेदं जिघ्राणि स आत्मा' जो समझता है कि मैं सूँघता हूँ वही आत्मा है, इत्यादि श्रुतियों के अनुसार स्वयंप्रकाश अहमर्थ आत्मा है। 'अत्रायं पुरुषः स्वयंज्योतिर्भवति' इत्यादि वचनों से आत्मा स्वयंज्योति कहा गया है। इससे आत्मा ज्ञानस्वरूप है। सुप्ति में भी अहं अहं ऐसा प्रकाश रहता है। किन्तु वहाँ प्रत्यक्त्व एकत्व अनुकूलत्व रूप से ही प्रकाशता है। आत्मा की यह स्वप्रकाशत्व शक्ति इतने ही धर्मों से विशिष्ट आत्मा को

प्रकाशती है। परन्तु धर्मभूत ज्ञान के द्वारा आत्मा इतर धर्मों से विशिष्ट रूप में भी प्रकाशता है। आत्मा अपने प्रकाश स्वरूप से बाह्य पदार्थों को प्रकाशित नहीं कर सकता न जान ही सकता है। किन्तु धर्मभूत ज्ञान के बल से ही बाह्यपदार्थों को जानता है। साथ ही प्रत्येक आत्मा में धर्मभूत ज्ञान एक ही रहता है। इसी से 'मैं जानता हूँ' ऐसा व्यवहार होता है। 'नहि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपोविद्यते अविनाशित्वात्' ।—बृ० ३४ ब्रा० ३।२३; 'नहि विज्ञातुर्विज्ञातेर्विपरिलोपो विद्यते'।—२४।३।३०, इत्यादि श्रुतियों से मालूम पड़ता है कि आत्मा का धर्मभूत नित्य ज्ञान विभिन्न विषयों का ग्राहक होने से दर्शन, श्रवण, मनन आदि रूपों को धारण करता है। उस ज्ञान का नाश नहीं होता क्योंकि आत्मा अविनाशी है। जैसे उष्णता अग्नि का स्वरूपप्रयुक्त धर्म है, जब तक अग्नि रहता है तब तक उसमें उष्णता रहती है, उसी तरह धर्मभूत ज्ञान आत्मा का स्वरूपप्रयुक्त धर्म है। अतः आत्मा के नित्य होने से वह भी नित्य है। 'द्रष्टुर्दृष्टे' इस निर्देश से द्रष्टा से उसकी दृष्टि भिन्न ही सिद्ध होती है। 'अविनाशी वा अरे अयमात्मा अनुच्छित्तिधर्मा' ।—बृ० ४।५।१४। यह श्रुति आत्मा के समान ही उसके धर्मभूत ज्ञान को भी अविनाशी कहती है, उसका उच्छेद नहीं होता है।

"यथा न क्रियते ज्योत्स्ना मलप्रक्षालनान्मणेः।
दोषप्रहाणान्नज्ञानमात्मनः क्रियते तथा॥
यथोदपान करणात् क्रियते न जलाम्बरम्।
सदेव नीयते व्यक्तिमसतः संभवः कुतः॥
तथा हेय गुणध्वंसादवबोधादयो गुणाः।
प्रकाश्यन्ते न जन्यन्ते नित्या एवात्मनो हि ते॥"

इत्यादि वचनों के अनुसार जैसे मल हटाने से रत्नप्रभा स्वयं प्रकट होती है, नवीन प्रभा नहीं उत्पन्न होती वैसे ही दोषों के नष्ट होने से आत्मा का नित्य ज्ञान प्रकट होता है। कूप खोदने से जल और आकाश उत्पन्न नहीं होता किन्तु पूर्वस्थित ही प्रकट होता है। वैसे ही त्याज्य दोषों के नष्ट होने पर आत्मा के ज्ञान आदि गुण प्रकाशित होते हैं। फिर भी वह ज्ञान विषयप्रकाशन के समय ही स्वयं प्रकाशता है। निद्रादि समय में विषयों का प्रकाश नहीं होता। अतः धर्मभूत ज्ञान भी नहीं प्रकाशता, अतएव निद्रा सम्पन्न होती है।

यह धर्मभूत ज्ञान आत्मा के आश्रित रहने से आत्मा का गुण भी है तथा संकोच विकासशाली होने से द्रव्य भी है, अतः कर्मों के अनुसार वह जब विकास को प्राप्त होता है तो विषयों को प्रकाशता है। संकोच अवस्था को प्राप्त होने पर विषयों को नहीं प्रकाशता। निद्राकाल में तमो गुण के कारण अत्यन्त संकुचित हो जाता है। अतः उस समय विषय का भी प्रकाश नहीं होता और ज्ञान का भी प्रकाश नहीं होता। जागर स्वप्न में सत्व के तारतम्य से उसका प्रकाश होता है। ज्ञान सामग्री धर्मभूत ज्ञान के विकसित होने में सहायक होती हैं। ज्ञान सामग्री न होने पर धर्मभूत ज्ञान संकुचित पड़ा रहता है।

"सत्कार्यवाद के अनुसार ज्ञान की उत्पत्ति विनाश होने पर भी नित्यता उपपन्न रहती है। जैसे मृत्तिका द्रव्य के नित्य रहने पर भी घटत्व, कपालत्व, चूर्णत्व आदि अवस्थायें आती जाती रहती हैं वैसे ही धर्मभूत ज्ञान के नित्य होने पर भी उसमें प्रत्यक्षत्व, परोक्षत्व, स्मृतित्व, अनुभवत्व आदि अवस्थाएँ उत्पन्न एवं नष्ट होती रहती हैं।" उपर्युक्त बातों पर विचार करने से ये उचित नहीं प्रतीत होतीं। श्रुति तो अन्तःकरणादिविशिष्ट सोपाधिक आत्मा का सूँघना, देखना, सुनना, चलना सब बतलाती है, परन्तु निरुपाधिक आत्मा निर्गुण निष्क्रिय ही है। अतएव अहंरूप से भासमान आत्मा सोपाधिक ही है, निरुपाधिक नहीं। वस्तुतः अहं को आत्मा मानने से उसको स्वयंप्रकाश नहीं कहा जा सकता क्योंकि सुप्ति में अहं का प्रकाश नहीं होता। 'नाहखल्वयमेवं संप्रत्यात्मानं जानात्ययमहमस्मीति', सुप्त मैं यह हूँ ऐसा अपने को नहीं जानता अतएव इन्द्रियों के समान ही अहं का भी प्रस्वाप कहा गया है—'सन्ने यदिन्द्रियगणेऽहमि च प्रसुप्ते, कूटस्थ आशयमृते तदनुस्मृतिर्नः।' इन्द्रियगण के निर्व्यापार एवं अहं के सुप्त होने पर आशय अन्तःकरण के बिना साक्षीरूप कूटस्थ ही रहता है। उसी साक्षी को ही स्वयं ज्योति कहा गया है। पूर्वपक्षी के उक्त पक्ष से नैयायिकों का ही पक्ष श्रेष्ठ ठहरता है।

जागर स्वप्न में वे 'अहं अहं' इस प्रकाश को मानस प्रत्यक्ष मानते हैं। सुप्ति में मानस प्रत्यक्ष होता नहीं। अतएव सुप्ति में अहं अहं इस रूप से आत्मा का प्रकाश भी उन्हें नहीं मान्य है। यदि सुप्ति में अहं का प्रकाश होता तो नैयायिकों को भी उसकी उपपत्ति करनी पड़ती अतः यह अहं अहं रूप से सुप्ति में आत्मा का अनुभव होता नहीं, यह श्रुतिस्मृति से सिद्ध ही है। सुप्ति में स्वयं ज्योतिरूप से रहनेवाला साक्षी अहंकारविशिष्ट न होकर कारणभूत अविद्याविशिष्ट प्राज्ञरूप ही है। नैयायिक आत्मा को अचेतन

मानते हैं। सुप्ति में मानव प्रत्यक्ष न होने से अहंरूप से उसका अभाव बन सकता है। परन्तु जो अहमर्थ आत्मा को स्वप्रकाश मानते हैं उनके मत में सुप्ति में उसका अभाव उपपन्न नहीं होता।

तमोगुण से प्राकृत अहमर्थ का अभिभव हो सकता है परन्तु अप्राकृत स्वप्रकाश आत्मा का अभिभव नहीं हो सकता। अतएव प्रत्यक्त्व, एकत्व, अनुकूलत्वरूप धर्मों से विशिष्ट अहं का भान सुप्ति में होता है यह कहना नितान्त असंगत है। जब अहंरूप से भी उसका भान असिद्ध है तब फिर 'मैं एक हूँ, प्रत्येक हूँ, अनुकूल हूँ' इस रूप से अनुभव तो सर्वथा निराधार ही है। इसके अतिरिक्त जैसे कभी रूपादिधर्मरहित घटादि नहीं उपलब्ध होते, उष्णत्व-रहित अग्नि नहीं भासित होता, वैसे ही धर्मभूत ज्ञान के बिना अहमर्थ आत्मा भी प्रकाशित नहीं हो सकता। यदि धर्मभूत ज्ञान सहित ही अहमर्थ का सुप्ति में भान होता है तब तो इतर धर्मों से विशिष्ट अहमर्थ का सुप्ति में ग्रहण होना चाहिये और ऐसा होने पर फिर सुप्ति ही नहीं सिद्ध हो सकती। इसी तरह यदि धर्मभूत ज्ञान की उत्पत्ति और विनाश मान्य है तब उसका नित्यत्व एवं एकत्व मानना व्यर्थ ही है। फिर तो नैयायिकों के तुल्य आत्मा को अचेतन मानकर उसके ज्ञान को क्षणिक एवं अनन्त मानना ही ठीक है क्योंकि ऐसा अनुभवसिद्ध है। एक ही वस्तु को गुण एवं द्रव्य दोनों मानना भी निरर्थक है। संकोच विकास भी विकार ही है! अतएव संकोच विकास अवस्थावाली वस्तुयें अनित्य ही होती हैं। मृत्तिका द्रव्य भी अनित्य ही है। तभी तो श्रुति में उसकी उत्पत्ति श्रुत है। 'अद्भ्यः पृथिवी' इस तरह सत्कार्यवाद की दृष्टि से ज्ञान को नित्य कहा जायगा तब तो घटादि को भी नित्य कहा जा सकता है; फिर तो जो कार्य है वह अनित्य है यह लोक-प्रसिद्धि भी निरर्थक हो जायगी। श्रुतियों की व्यवस्था तो नैयायिक आदि भी अपने पक्ष में बिठला लेते हैं कारण वे भी वेद प्रामाण्यवादी ही हैं। आत्मा के धर्मभूत ज्ञान को नित्य मानकर ज्ञान सामग्रियों से उसका संकोच विकास मान, ज्ञानों की उत्पत्ति विनाश मानने की अपेक्षा कहीं अच्छा मार्ग है कि ज्ञान सामग्रियों से साभास अन्तःकरण की साभास वृत्तिरूप अनित्य ज्ञानों की ही उत्पत्ति आदि माना जाय। सत्त्व गुण को प्रकाशक माना जाता है। 'सत्त्वात्संजायते ज्ञानम्'; 'तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात् प्रकाशकमनामयम्'; 'सुखसङ्गेन बध्नाति ज्ञानसङ्गेन चानघ।' 'प्रकाशञ्च प्रवृत्तिञ्च मोहमेव च पाण्डव॥' 'मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनञ्च'। उपर्युक्त वचनों से स्पष्ट सिद्ध होता है कि

सत्व निर्मल एवं प्रकाशक है और उससे वृत्यात्मक ज्ञान की उत्पत्ति होती है। यहाँ स्मृति के समान ही ज्ञान की उत्पत्ति कही गई है। प्रतिवादी द्वारा उपस्थापित प्रमाणों से भी ज्ञान की उत्पत्ति ही सिद्ध होती है। अतः धर्मभूत ज्ञान को नित्य कहना सर्वथा असंगत है। 'ज्ञानविज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्म कर्मस्वभावजम्' से ज्ञान विज्ञान को कर्म ही कहा गया है, वह बुद्धि वृत्तिरूप होने से ही संगत है।

'कामः सङ्कल्पो विचिकित्सा श्रद्धा अश्रद्धा ह्रीर्धीर्भिः' इस श्रुति के अनुसार काम, सङ्कल्प, संशय, श्रद्धा, अश्रद्धा, लज्जा, ज्ञान और भय सब मन के ही धर्म हैं। इसी लिये दृष्टि विज्ञाति श्रुतिमति आदि दो प्रकार की होती है। एक बुद्धिवृत्तिरूप एवं बुद्धिवृत्ति पर अभिव्यक्त नित्य बोधरूप। बुद्धिवृत्तिरूप विज्ञाति दृष्टि अनित्य ही होती है। वृत्ति पर व्यक्त नित्य बोधरूप दृष्टि आदि नित्य होती है।

वृत्ति पर व्यक्त होनेवाली दृष्टि श्रुति आत्मा का स्वरूप ही है। पीछे कहा है कि आत्मा प्रज्ञा द्वारा चक्षु आदि पर उपारूढ होकर रूपादि सब विषयों को देखता है 'प्रज्ञया चक्षुरुपारुह्य'। आत्मस्वरूपभूत ज्ञान की नित्यता अवश्य है। उसी की अन्तःकरण वृत्तियों पर अभिव्यक्ति होती है। इसलिये उसमें अनित्यता की प्रतीति भी होती है। अतः यहाँ 'राहोः शिरः' के समान अभेद में ही षष्ठी है। जैसे राहु ही शिर है वैसे ही साक्षी का स्वरूपभूत ही नित्य दृष्टि है। दो प्रकार की दृष्टि होती है, एक लौकिकी दूसरी परमार्थिकी। चक्षुःसम्प्रयुक्त अन्तःकरण की वृत्ति लौकिकी है। वही दृष्टि कृत है, जन्य है, विनश्वर है परन्तु जो आत्मा की स्वरूपभूता दृष्टि है (जैसे अग्नि की उष्णता एवं प्रकाश) वह नित्य है, उसकी उत्पत्ति आदि नहीं होती। फिर भी उपाधिभूत क्रियमाण दृष्टि से संसृष्ट होने के कारण ही उसमें दृष्टि, श्रुति, मति, विज्ञाति आदि का व्यवहार होता है। चक्षुरादिजन्य रूपाद्याकारा वृत्तिरूप दृष्टि भी नित्य आत्मभूत दृष्टि से संसृष्ट ही रहती है। उसी दृष्टि का द्रष्टा साक्षी आत्मा कहा जाता है। 'न दृष्टेर्द्रष्टारं पश्येः, न श्रुतेः श्रोतारं शृणुयाः, न मतेर्मन्तारं मन्वीथा, न विज्ञातेर्विज्ञातारं विजानीयाः'।—बृ० ३।४। 'य द्वैतन्न पश्यति पश्यन् वै तन्न पश्यति'; 'नहि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वात्'; 'नतु तद्द्वितीयमस्ति ततोऽन्यद् विभक्तं यत्पश्येत्'।—बृ० ४।३।२३। इस श्रुति में स्पष्ट ही कहा गया है। सुषुप्ति में आत्मा नहीं देखता ऐसा जो कहा जाता है यह सही नहीं है। आत्मा त्रिकालाबाध्य बोधस्वरूप

है। अतः वह देखता हुआ ही नहीं देखता। चक्षुरादि करणों के उपरत हो जाने से और उससे विभक्त अन्य द्वितीय द्रष्टव्य विषय का अभाव होने से नहीं देखता। स्वतः बोधस्वरूप है। इसलिये वह सदा ही भासता रहता है। जैसे सूर्य अपने नित्य प्रकाश से सदा प्रकाशता है। इसी तरह अपनी स्वरूपभूत नित्य दृष्टि से आत्मा नित्य ही देखता (प्रकाशता) है। क्योंकि उसकी स्वरूपभूत नित्य दृष्टि का कभी विपरिलोप नहीं होता। यह वही नित्य दृष्टि है जिसके द्वारा जागर का अन्ध भी स्वप्न में रूप देखता है। यह वही श्रुति है जिससे बधिर भी स्वप्न में शब्द सुनता है। यही एकरस आत्मस्वरूपभूत दृष्टि विभिन्न अनित्य अन्तःकरणवृत्तिरूप दृष्टि, श्रुति, मति, विज्ञाति, घ्राति, रसयति, वक्ति, स्पृष्टि, विज्ञातिरूप उपाधियों के द्वारा दृष्टि, घ्राति, मति, श्रुति, विज्ञान आदि शब्दों से व्यपदिष्ट होती है।

यदि द्रष्टा विज्ञाता आदि शब्दों से अहङ्कारविशिष्ट आत्मा ग्राह्य हो तो 'द्रष्टा की दृष्टि' इसका अर्थ यह है कि द्रष्टा आदि को प्रकाशनेवाली द्रष्टृविषयिणी साक्षिरूपा दृष्टि नित्य ही है। उसका संकोच, विकास, उत्पत्ति, विनाश आदि कुछ न मानना पड़ेगा। अनुच्छित्तिधर्मा का यह अर्थ नहीं है कि उसके ज्ञानरूप धर्म का उच्छेद नहीं होता किन्तु उच्छित्ति का अर्थ उच्छेद है। उच्छेद जिसका धर्म नहीं है वह आत्मा ही अनुच्छित्तिधर्मा है। 'न उच्छित्तिर्धर्मो यस्य स अनुच्छित्तिधर्मा।' अविनाशी शब्द से विक्रिया का निषेध किया गया है। अनुच्छित्तिधर्मा शब्द से उच्छेदराहित्य कहा गया है। 'यथा न क्रियते ज्योत्स्ना' आदि वचन भी स्फुरणरूप नित्यबोध में ही सार्थक हैं। संकोच विकासशाली ज्ञान तो विकारी एवं अनित्य ही ठहरता है। प्रकाश और आकाशादि का दृष्टान्त उसमें संगत न होगा। जैसे मलक्षालन से रत्नप्रभा प्रकट होती है, कूप खनने से जल आकाशादि व्यक्त होते हैं, उसी तरह चक्षुरादि प्रमाणों तथा तज्जन्य वृत्तियों से अज्ञानरूपी 'मल के हटने पर आत्मा का स्वरूपभूत नित्यबोध प्रकट होता है—'तत्राज्ञानं धिया नश्येत् आभासेन घटः स्फुरेत्।'

अभेद होने पर भी अद्वैतवाद में सत्य, ज्ञान, आनन्दादि आत्मा के औपचारिक धर्म माने गये हैं। इस तरह यदि साभास बुद्धि वृत्तिरूप और नित्य बोधरूप दो ज्ञान मानते हैं तब तो ज्ञान की उत्पत्ति आदि का व्यवहार वृत्ति को लेकर सार्थक है। ज्ञाननित्यत्वबोधक श्रुतियों तथा सर्वभासकत्व, स्वयं-

प्रकाशत्वसाधक युक्तियों एवं अनुभूतियों की उपपत्ति नित्यबोध रूप आत्मा को लेकर उपपन्न हो जाती हैं। नित्य स्वप्रकाश अहमर्थ को आत्मा मानना और उसका भी सुप्ति में अप्रकाश मानना, अननुभूत, अप्रमाणिक, अंशतः प्रकाश अंशतः अप्रकाश मानना, धर्मभूत ज्ञान को नित्य भी कहना और उसकी उत्पत्ति-नाश का भी समर्थन करना, एक कहना और उसके अनेकत्व की उपपत्ति का ढूँढना, घटादि के समान उत्पत्ति मानकर भी सत्कार्य के सहारे उसकी नित्यता का समर्थन करना, यह सब आयास निरर्थक ही है। फिर तो नैयायिकों के समान कर्मसव्यपेक्ष, मनःसंयोगादिजन्य, क्षणिक, अनन्तगुणात्मक ज्ञान ही मानना श्रेष्ठ है। अतः श्रुति, युक्ति तथा अनुभूति के अनुसार साभास वृत्तिरूप ज्ञान अनित्य है। वृत्त्यादिभासक सर्वनिरपेक्ष स्वप्रकाश स्वतःसिद्ध ज्ञान नित्य है। वही आत्मा है।

कहा जाता है कि इष्टसिद्धि तथा ब्रह्मसिद्धि आदि प्राचीन ग्रन्थों में प्रकाशात्मक ज्ञान की उत्पत्ति विनाश का खण्डन करके लोकप्रसिद्ध ज्ञान को ही नित्य सिद्ध किया गया है। अतः प्रसिद्ध ज्ञान से भिन्न कोई नित्य ज्ञान मानना प्राचीन अद्वैत सिद्धान्त के विरुद्ध है। परन्तु यह कहना भी ठीक नहीं, क्योंकि पीछे कहा जा चुका है कि प्रसिद्ध देहादिविशिष्ट आत्मा को ही उपाधि-निरसन के द्वारा उपाधिनिष्कृष्ट शुद्ध असङ्ग चित् रूप सिद्ध किया जाता है। उसी तरह वृत्ति पर अभिव्यक्त स्फुरण या चित् को उपाधिनिरसन द्वारा उपाधि-निष्कृष्ट अनादि, अनन्त, नित्यबोध सिद्ध करने में कोई हानि नहीं है।

'वृत्तियाँ जड़ हैं, उनको ज्ञान कहना संगत नहीं' इत्यादि कथन भी निःसार है क्योंकि सत्व को प्रकाशक कहा ही गया है, सत्व से ज्ञान की उत्पत्ति मानी ही गयी है। फिर इसमें क्या आपत्ति हो सकती है? इसी तरह यह भी कहा जाता है कि अद्वैती मानते हैं कि "ज्ञान रूप ब्रह्म सदा अपने को प्रकाशित करता रहता है। वह सदा स्वानुभव में मग्न है। अध्यस्त वृत्ति से अवच्छिन्न जब होता है तब उस वृत्त्यवच्छिन्न चैतन्य से ही विषय का प्रकाश होता है। परन्तु जड़ वृत्ति से अनवच्छिन्न स्वरूपमात्र निर्विषय चैतन्य से विषयों का प्रकाश असंभव है।" यह कहना भी अशुद्ध और निःसार है। ज्ञानरूप ब्रह्म अपने को प्रकाशित करता है यह अद्वैती कभी नहीं मानते। स्व से स्व का प्रकाश अद्वैती को मान्य नहीं क्योंकि वहीं कर्ता, वहीं कर्म नहीं हो सकता, किन्तु स्वप्रकाश शब्द से ही प्रतिवादी को ऐसी भ्रान्ति हुई है। अद्वैती

तो अवेद्य होकर अपरोक्ष वस्तु को स्वप्रकाश कहते हैं। अनन्यावभास्य होकर स्वेतर सर्वभासक होना ही ज्ञान या ब्रह्म का स्वप्रकाशत्व है। स्वानुभाव में मग्न रहता है यह भी सुनीसुनायी बात है। ब्रह्म अनुभवरूप है, उसका न अनुभव ही होता है न वह अनुभव में मग्न ही होता है। हाँ, कोई ज्ञानी ब्रह्माकार चरमावृत्तिरूप अनुभव में मग्न हो सकता है और वह वस्तुतः ब्रह्मरूप होते हुए भी साधक दशा में अहङ्कारविशिष्ट अहमर्थ ही है। सत्त्व जैसे जड़ होते हुए भी पूर्वोक्त प्रमाणों से प्रकाशक है वैसे ही वृत्ति भी प्रकाशक है। वृत्ति-व्यक्त चैतन्य के प्रकाशकत्व में कोई विवाद ही नहीं। वह निरूपाधिकरूप से निर्विषय होने पर भी वृत्त्युपहित होकर प्रकाशक एवं सविषय होता ही है। जैसे प्रतिवादी अहमर्थ आत्मा को निर्विषय मानता हुआ धर्मभूत ज्ञान के द्वारा विषय का ग्राहक मानता है, वैसे ही अद्वैती ब्रह्मरूप ज्ञान को निर्विषय मानने पर भी बुद्धिवृत्ति के द्वारा उसे विषयग्राहक मानते हैं।

वस्तुतस्तु अहमर्थ कभी निर्विषय एवं निर्विशेष होता ही नहीं। अहमर्थ ज्ञाता, मन्ता, कामयिता आदि रूप से ही प्रसिद्ध है। उसको निर्विशेष न कोई भी दार्शनिक मानता है न लोक ही किन्तु ज्ञानरूप ब्रह्म में तो विषय अध्यस्त है। अधिष्ठान ज्ञान से अध्यस्त का बाध होने से उसकी निर्विषयता स्वाभाविक ही है। समाधि तथा मुक्ति में प्रपञ्चबाध होने पर पूर्ण निर्विषयत्व होता है। सुप्ति, मूर्छा आदि में यद्यपि अज्ञान, मोह आदि भास्य रहते हैं तथापि शब्दादि विषयविशेष न होने से उस समय भी निर्विशेष ज्ञान समझा जाता है। मोक्ष में धर्मभूत ज्ञान सर्वविषयक होता है यह मत अद्वैती को भी मान्य नहीं है। सर्वविषयक प्रकाश होने से अनुकूल-प्रतिकूल, सुख दुःख सबका ही अहमर्थ को अनुभव होगा तो उसे संसार की अपेक्षा भी अधिक बन्ध होगा फिर उसे कैसे मुक्ति कहा जाय? 'ज्ञान सामान्य का अभाव सुषुप्ति है' इसका अर्थ इतना ही है कि अन्तःकरणवृत्तिरूप ज्ञानसामान्य का सुप्ति में अभाव रहता है। कौपुस्तम और सुख का भासक साक्षिरूप ज्ञान तो सुप्ति में भी रहता है। तभी तो अवस्थात्रय साक्षी आत्मा सिद्ध होता है। फिर प्रतिवादी भी तो सुप्ति में अहमर्थ का प्रकाश मानते ही लगे हैं। फिर उनके मत से भी प्रकाश सामान्याभाव कैसे कहा जा सकता है? यह दूसरी बात है कि प्रतिवादी निर्विशेष प्रकाश न मानकर सविशेष प्रकाश मानता है। यद्यपि निर्विशेष प्रकाश के होने पर भी वृत्तिरूप सविशेष ज्ञान न होने से सुप्ति उपपन्न होती है, सविशेष ज्ञान के रहने से सुप्ति सिद्ध ही नहीं होती, इसी

लिये नैयायिक आदि ज्ञानसामान्य का अभाव मुक्ति मानते हैं। अहमर्थ होगा तो उसका धर्म भी अवश्य रहेगा और वैसा रहने पर मुक्ति बन ही नहीं सकती यह कहा जा चुका।

प्रतिवादी के यहाँ निर्विषयक ज्ञान होता है परन्तु उसका प्रकाश नहीं होता, किन्तु ज्ञान तो प्रकाशस्वरूप ही होता है। ज्ञान हो और प्रकाश न हो यह असंगत ही है। अतः अहमर्थ से भिन्न अहङ्कारादि का साक्षी अखण्डः बोध स्वरूप ही आत्मा है। सभी साध्य एवं विषय उसी में अध्यस्त हैं। अतः सर्वबाध होने पर सर्वनिरपेक्ष होकर आत्मा निर्विषय एवं निर्विशेष ही है।

"रूपं यत्तत्प्राहुरव्यक्तमाद्यं ब्रह्मज्योतिर्निर्गुणं निर्विकारम्।
सत्तामात्रं निर्विशेषं निरीहं सत्वं साक्षाद्विष्णुरध्यात्मदीपः॥"

श्रीमद्भागवत १०।३।२४।

———

ज्ञान का स्वप्रकाशत्व

अनुभव को भी व्यवसाय अनुव्यवसाय रूप से दो प्रकार का मानकर अनुभव विषयक अनुभव का समर्थन नैयायिक आदि मानते हैं, परन्तु यदि अनुभव विषयक अनुभव माना जायगा तो अनवस्था प्रसंग होगा साथ ही अनुभव की अविज्ञातता भी माननी पड़ेगी। परन्तु अनुभव की विद्यमानता में अनुभव का अज्ञान अनुभूत नहीं होता। यदि सुखादि के तुल्य ज्ञान की अनुभुत्सितग्राह्यता मानकर अनुभवविषयक अनुभव माना जायगा तो उसकी ही धारा चलती रहेगी। फिर अन्य विषयक ज्ञान ही न होंगे। जिस अन्तिम अनुभव का अनुभव न होगा वही अप्रामाणिक होगा। फिर अप्रामाणिक अनुभवों से सिद्ध पूर्व पूर्व अनुभव सभी अप्रामाणिक ठहरेंगे और उसका विषय भी अप्रामाणिक होने से सर्वशून्यता प्रसक्ति ही होगी। यदि किसी अन्तिम ज्ञान को स्वप्रकाश माना जाय तो पहले ही ज्ञान को स्वप्रकाश क्यों न माना जाय?

इसी तरह ज्ञान से घटादि में तथा ज्ञानान्तर से ज्ञान में कोई प्राकट्य या प्रकाशरूप धर्म उत्पन्न होता हुआ दृष्टिगोचर होता नहीं। इसी लिये ज्ञान होने पर हमें ज्ञान है या नहीं ऐसा संशय नहीं होता। जैसे रूपादि घटादि का चाक्षुषत्व सिद्ध करता हुआ अपना भी चाक्षुषत्व सिद्ध करता है उसी प्रकार ज्ञान घट एवं अपना दोनों ही के व्यवहार का हेतु होता है।

कुछ लोग कहते हैं—"मैं जानता हूँ इस अबाधित प्रतीति के अनुसार अहमर्थ में ज्ञान उत्पन्न होकर विषयों को प्रकाशित करता है। वह ज्ञान विषय प्रकाशन काल में उस अहमर्थ के प्रति स्वयं प्रकाशता रहता है। किन्तु अन्य समय में वह अहमर्थ के प्रति नहीं प्रकाशता। इसी तरह देवदत्त को होनेवाले ज्ञान यज्ञदत्त के प्रति नहीं प्रकाशते। अनुमान के द्वारा अन्य का ज्ञान जाना जाता है। अपने को भी अतीत ज्ञान के स्मरण से ही बोध होता है। अतः ज्ञान स्वप्रकाश है, इसका यही अर्थ है कि वह विषय प्रकाशने के समय अपने आश्रय के प्रति स्वयं प्रकाशता है। 'अनुभूति अनुभाव्य होगी तो उसमें अनुभूतित्व ही नहीं रहेगा।' यह कहना भी ठीक नहीं, कारण स्वगत अतीत अनुभव एवं परगत अनुभव अनुभाव्य होते ही हैं। फिर उनमें

भी अनुभूतित्व न होना चाहिये। इसलिये वर्तमान दशा में स्वसत्ता से स्वाश्रय के प्रति प्रकाशमानत्व ही अनुभूतित्व है।" परन्तु यह कहना ठीक नहीं क्योंकि प्रतिवादी के मत में ज्ञान नित्य द्रव्य होने से वह सदा ही वर्तमान होता है, फिर उसमें विषय वर्तमान दशा यह विशेषण व्यर्थ ही है।

कहा जाता है "वर्तमान दशा शब्द से विषय सम्बन्ध प्रसार की वर्तमानता इष्ट है।" पर यह भी ठीक नहीं, क्योंकि जब ज्ञान या अनुभव नित्य द्रव्य मान्य है तो फिर अनुभव की अतीतता कैसे कही जा सकती है? जो वस्तु पूर्व काल में रही हो अब न हो वही अतीत कही जा सकती है। 'अनुभव का विषय सम्बन्ध प्रसर अतीत है। इसलिए अनुभव में अतीतता का उपचार होता है।' यह कथन भी असंगत ही है क्योंकि यदि प्रदीप एवं प्रभा के तुल्य ज्ञान में दो अंश हों तभी यह उपपत्ति हो सकती है। अतः प्रश्न होगा प्रदीप स्थानीय नित्य ज्ञान द्रव्य क्या है और प्रभा स्थानीय क्या है और उसका प्रसर क्या है? यदि कहा जाय कि अन्तःकरण नित्य द्रव्य ज्ञानात्मक है, उसका विषय के साथ सम्बन्ध ही प्रसर है पर यह पक्ष ठीक नहीं क्योंकि पञ्चभूतों के समष्टि सत्वांश कार्य अन्तःकरण सादि है। यह नित्य नहीं हो सकता है 'तन्मनोऽकुरुत' छा० श्रुति में मन की कार्यता स्पष्ट रूप से उक्त है।

प्रतिवादी के मत में भी प्रकृति, पुरुष एवं ईश्वर इन तीन पदार्थों की ही नित्यता है अन्य की नहीं। यदि कहा जाय कि प्रकृति ही वह नित्य ज्ञान द्रव्य है तो यह भी ठीक नहीं, क्योंकि वह अनादि होने पर भी जड़ है। अतएव प्रकृति कार्य में सर्वत्र जड़ता दृष्ट है। ईक्षत्यधिकरण से भी उसकी जड़ता सिद्ध है। इस तरह जड़ होने से अन्तःकरण भी ज्ञान द्रव्य नहीं हो सकता। यदि प्रकृति या अन्तःकरण नित्य ज्ञान है तब तो 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इस श्रुति के अनुसार ब्रह्मलक्षण प्रकृति या अन्तःकरण में अतिव्याप्त होगा। यदि कहा जाय कि पुरुष ही नित्य ज्ञान द्रव्य है तो यह भी ठीक नहीं, क्योंकि प्रतिवादी के मत में पुरुष तो ज्ञाता है; ज्ञान उससे भिन्न ही उसे मान्य है। पुरुष में ज्ञातृत्व है, ज्ञानत्व नहीं। ईश्वर ही नित्य ज्ञान द्रव्य है यह भी पक्ष ठीक नहीं, क्योंकि ईश्वर ही तो ब्रह्म है और ब्रह्म और ज्ञान में प्रतिवादी को भेद ही मान्य है। इसलिये नित्य ज्ञान द्रव्य क्या है यह दुर्निरूप ही है।

कहा जाता है कि "जीव ईश्वर का स्वरूपभूत ज्ञान यहाँ अनुभव शब्द से नहीं कहा जाता है किन्तु दोनों का धर्मभूत ज्ञान ही अनुभव शब्द से कहा जाता

है। परन्तु यह भी ठीक नहीं, क्योंकि फिर तो धर्मभूत ज्ञान गुण ही होगा द्रव्य नहीं, क्योंकि नित्य ज्ञानानन्दादि गुणवाला ईश्वर है, यही प्रतिवादी को मान्य है। यदि कहा जाय कि जीव और ईश के स्वरूपभूत एवं गुणभूत ज्ञान से अन्य ही धर्मभूत ज्ञान है, वही नित्य द्रव्य है; तो यह भी ठीक नहीं, क्योंकि यह कल्पना निराधार है। अतः नित्य ज्ञान ब्रह्मस्वरूप ही है। जो गुणभूत ज्ञान है वह तो अनित्य ही है और वह है वृत्तिज्ञान, उसी में अतीतता आदि बन सकती है। उसी का स्मरण और अनुमान तथा शब्दबोध्यत्व आदि संभव है। सर्वथापि जन्म नाशवान् अनुभव वृत्तिज्ञान ही है, नित्यज्ञान नहीं और वह स्वयंप्रकाश भी नहीं है, ब्रह्म भी नहीं है। वह अनुभाव्य है। उसमें अननुभूतित्व इष्ट ही है।

अज्ञासिषम् (जाना था) यह प्रतीति उसी के संबंध में होती है। घटं जानामि यह प्रतीति वर्तमान घट विषयक है। घटमज्ञासिषम् यह प्रतीति अतीत घट विषयक है। वृत्तिज्ञान अद्वैत मत में मुख्य अनुभूति नहीं माना जाता। प्रतिवादी का अनुभूति लक्षण सुखादि में अतिव्याप्त है। सुखादि भी वर्तमान दशा में अपने आश्रय के प्रति स्वसत्ता से ही प्रकाशमान है। अप्रकाशमान सुख की सत्ता नहीं होती है। जब सुख उत्पन्न होता है तभी प्रकाशता है।

कुछ लोग कहते हैं सुखाकार अन्तःकरण वृत्ति से सुख का प्रकाश होता है। परन्तु यह ठीक नहीं; क्योंकि सुखरूप अन्तःकरण परिणाम ही तो सुख है। कहा जाता है कि अन्तःकरण की दो प्रकार की वृत्ति होती है। कोई काम क्रोधादि रूप और कोई तद् ज्ञान रूपा, अतः अन्तःकरण के सुखरूप परिणाम के साथ तदाकार वृत्ति भी उत्पन्न होती है, उसी वृत्ति से सुख भासमान होता है। परन्तु यह ठीक नहीं, क्योंकि फिर तो सुख के समान ही अन्तःकरण वृत्ति भी अपने तथा अन्य को नहीं प्रकाशन करेगी। अन्तःकरण जड़ है तब उसकी वृत्ति जड़ होनी ही चाहिये। यदि कहा जाय कि अन्तःकरण अजड़ (चेतन) है; फिर तो उसका परिणामभूत सुख भी अजड़ ही होना चाहिये और अन्तःकरण की उपादानभूता प्रकृति भी अजड़ ही होनी चाहिये। अतः यदि वृत्ति स्वसत्ता से ही प्रकाशमान होती है तब तो फिर सुख भी वैसे ही होगा। इस सुखादि में प्रतिवादी के ज्ञान का लक्षण अवश्य ही अतिव्याप्त होगा। किञ्च 'अनुभूति स्वाश्रय के प्रति स्वसत्ता से ही प्रकाशती है', इसका क्या अर्थ है ? क्या यह कि अनुभूति स्वाश्रय के प्रति स्वसत्ता से ही अपने को प्रकाशित करती है ? अथवा

अनुभूति के उत्पन्न होने पर मुझे अनुभूति हुई यह पुरुष स्वतः जान लेता है? पहले पक्ष में कर्मकर्तृ विरोध होगा; इसके अतिरिक्त ग्राह्य काल में ग्राहक न रहेगा और ग्राहक काल में ग्राह्य न रहेगा। दूसरा पक्ष भी ठीक नहीं, क्योंकि मुझे अनुभूति उत्पन्न हुई इस प्रकार जो पुरुष की अनुभूति होती है वह प्रथमानुभूति से भिन्न है अथवा अभिन्न? प्रथम पक्ष में अन्योऽन्याश्रय दोष होगा। द्वितीय पक्ष में आत्माश्रय। इस प्रकार अनुभूति की अनुभाव्यता कहना कठिन है। हां वृत्तिरूप अनुभूति तो चैतन्यावभास्य होने से अनुभाव्य है ही। परन्तु ज्ञानस्वरूप अनुभूति तो चैतन्यरूप ही है। अतः वह चैतन्यावभास्य नहीं। 'चैतन्य भी दूसरे चैतन्य से भास्य है' यह कहना ठीक नहीं, क्योंकि चैतन्यान्तर है ही नहीं। 'एकमेवाद्वितीयम्' इत्यादि श्रुति से चैतन्य की सर्वविध भेदशून्यता सिद्ध है। चैतन्य ही ब्रह्म है, वही आत्मा भी है। वृत्तिज्ञानों का नानात्व होने पर भी शुद्ध ज्ञान का नानात्व असिद्ध ही है। अतएव उसमें परानुभवत्व स्वानुभवत्व नहीं बन सकता। स्व एवं पर प्रमाताओं का वास्तविक अनुभव स्वरूप ही है। जैसे प्रतिवादी का ब्रह्म स्वतःसिद्ध है वैसे ही चैतन्य भी स्वतःसिद्ध है, वही स्वयं प्रकाश, अनन्त, अद्वितीय, नित्य अनुभव ही ब्रह्म है। विषयेन्द्रिय सन्निकर्षजन्य अनुभव वृत्तिरूप है, वह ब्रह्म नहीं है किन्तु वृत्ति एवं उसके जन्म एवं ध्वंस का साक्षिरूप अखण्ड बोध ही ब्रह्म है। नित्य वस्तु परतः सिद्ध नहीं होती, प्रकृति कालादि परतः सिद्ध वस्तुतः नित्य नहीं हैं। ब्रह्मभिन्न सब अनित्य ही है। अनुभाव्यत्व अनुभवत्व का सामानाधिकरण्य नहीं होता। अनवस्था भी इस तरह अनुभवान्तर से अनुभव का अनुभव मानने से होगी। वृत्तिरूप अनुभव का ब्रह्म से विषय विषयि भाव कथञ्चित् हो भी तो भी वह वास्तविक नहीं।

कहा जाता है कि ब्रह्म को ज्ञेय कहा गया है। ज्ञेय ज्ञान का विषय होता है। परन्तु यह ठीक नहीं, ज्ञान का ज्ञान विषय हो सकता है तो ऐसा हो सकता है। 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' यह श्रुति स्पष्ट ही ब्रह्म को ज्ञानरूप बतलाती है। अतः वृत्तिव्याप्यत्व रूप ज्ञेयत्व ब्रह्म में होने पर भी फलव्याप्यत्व रूप ज्ञेयत्व नहीं रहता। यदि कहा जाय कि वृत्ति भी अज्ञेय रहती है तो यह ठीक नहीं, वृत्ति सदा ही साक्षी से भास्यमान रहती है। अतएव वृत्ति स्वप्रकाश भी नहीं है। वृत्तिव्यक्त चैतन्यरूप ज्ञान ही स्वप्रकाश है। वृत्ति का जन्म नाश अनुभूत होता है। अनन्यावभास्य होकर जो स्वेतर सर्वभासक है वही स्वप्रकाश होता है, यह नित्यज्ञान में ही संभव है अनित्यवृत्ति में नहीं।

वृत्ति का जन्म नाश वृत्ति से नहीं विदित होता क्योंकि जन्म नाश दशा में वृत्ति होती ही नहीं। अतः किसी अन्य से ही वृत्ति का जन्म नाश विदित होना चाहिये। अन्यथा निःसाक्षिक जन्म नाश अप्रामाणिक ही होगा। जिससे वृत्ति का जन्म नाश विदित होता है वृत्ति भी उसी से विदित होती है। ज्ञान किसी से भासित नहीं होता और वह स्वभिन्न सबका प्रकाशन करता है। कुछ लोग कहते हैं वह स्वयं को भी प्रकाशता है परन्तु यह ठीक नहीं है। एक एवं निरंश में युगपत् भास्यत्व भासकत्व नहीं बन सकता। अतः ज्ञान स्वयं भासता है अपने से भासित नहीं होता।

कहा जाता है वृत्ति और वृत्त्यवच्छिन्न चैतन्य की कल्पना निराधार है परन्तु यह कहना ठीक नहीं, विषयेन्द्रियादि जनित उत्पत्ति विनाशशाली वृत्ति पदार्थ अत्यन्त प्रसिद्ध है। उसके बिना इन्द्रिय अन्तःकरणादि की सर्वथा निरर्थकता ही सिद्ध होती है। अहमर्थ का धर्मभूत ज्ञान तो प्रतिवादि के मतानुसार नित्य ही है। फिर उसमें इन्द्रिय, मन आदि का व्यापार व्यर्थ ही होगा। धर्मभूत ज्ञान सिद्ध नहीं होता यह पीछे कहा जा चुका। 'वृत्त्यवच्छिन्न चैतन्य स्वप्रकाश ब्रह्म ही है' अद्वैतियों के इस कथन का यही अर्थ है कि वृत्ति से उपलक्षित चैतन्य ब्रह्म है। वृत्तिविशिष्ट तो वृत्ति के अनित्य एवं प्रकाश्य होने से उस अंश में अनित्य एवं वेद्य होगा ही। स्वयंप्रकाश शुद्ध चैतन्य में कोई प्रमाण नहीं है यह कहना साहसमात्र है।

घटावच्छिन्न आकाश से भिन्न अनवच्छिन्न आकाश जैसे सिद्ध होता है वैसे ही वृत्त्यवच्छिन्न चैतन्य से भिन्न अनवच्छिन्न चैतन्यरूप ब्रह्म सिद्ध है। श्रुति स्पष्ट ही अनन्तज्ञान को ब्रह्म कहती है 'ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'; प्रत्युत अन्तःकरण वृत्ति से भिन्न विकासावस्था विशिष्ट धर्मभूत ज्ञान ही सर्वथा अप्रामाणिक है। जो वस्तु कभी विकासावस्था विशिष्ट होकर स्वप्रकाश और कभी विकासरहित होकर अस्वप्रकाश हो वह स्वयं अनेकरस विकारी तथा अनित्य ही सिद्ध होगी। जैसे संकोच विकासादि अवस्थायुक्त पुष्पादि अनित्य ही होते हैं वही दशा धर्मभूत ज्ञान की होगी। इससे अच्छा है कि सर्वसंमत साभास अन्तःकरण वृत्ति को ही ज्ञान माना जाय। उसी वृत्तिरूप ज्ञान का सुषुप्ति में अभाव अनुभूत होता है किन्तु वृत्तिज्ञान का अभाव एवं भावभूत अज्ञान का भासक नित्य चैतन्य तो सदा ही रहता है। जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति तीनों ही अन्तःकरण की वृत्ति हैं। ये सब जिससे भासित होती हैं वह साक्षी अध्यक्ष अति स्पष्ट है —

"जाग्रत् ,स्वप्न, सुषुप्त्याख्या वृत्तयो बुद्धिजाः स्मृताः।
ता येनैवानुभूयन्ते सोऽध्यक्षः पुरुषः परः॥" श्रीमद्भागवत्।

ज्ञान घटादि के तुल्य ज्ञेय होनेसे वैसे ही अनित्य और जड़ भी ठहरेगा अतः ज्ञान भासक ही है भासित नहीं होता। ज्ञान का प्रागभाव एवं ध्वंस भी नहीं होता। लौकिकों को साभास वृत्तियों में ही ज्ञान का भ्रम होता है, वृत्तियों का ही प्रागभाव आदि भासित होता है। शिष्यादि का ज्ञानप्रागभावादि भी वृत्ति का ही प्रागभाव है। इस तरह जितना भर भी ज्ञान के ज्ञान होने के सम्बन्ध में प्रपञ्च किया गया है वह सभी साभास वृत्ति को लेकर गतार्थ हो जाता है। अतीत ज्ञान का स्मरण, अन्य ज्ञान का अनुमान आदि सब वृत्तिज्ञान में ही शामिल है। नित्य एक अखण्ड ज्ञान में प्रागभाव, प्रध्वंस, अतीतता, अनागतता तथा भिन्नता आदि कुछ भी नहीं बनती है।

नित्य और अतीत यह कहना विरुद्ध है। विलक्षण प्रवृत्ति निवृत्ति देखकर ज्ञानों का अनुमान एवं संविद् अनुभूति आदि शब्दजन्य ज्ञानों की विषयता आदि सभी वृत्तिरूप ज्ञानों के सम्बन्ध में ही कहा जा सकता है। शुद्ध बोधरूप ब्रह्म तो सर्वथा अवाच्य एवं अविषय ही है। प्रवृत्ति निवृत्ति का हेतु विशिष्ट ज्ञान होता है। जिज्ञासा, संशय, अवगति, अनवगति आदि का विचार भी विशिष्ट ज्ञान के सम्बन्ध में ही होता है। वह विशिष्ट ज्ञान साभास वृत्ति ही है। उसी के स्मरणानुमानादि गोचर होने से प्रतिवादियों को ज्ञान के स्मरणादि का भ्रम होता है। इसी से वे ज्ञान को भी ज्ञेय मानने लगते हैं। उनका यह कथन भी निःसार है कि "ज्ञान को ज्ञेय न मानने से ब्रह्मप्रतिपादक शास्त्र व्यर्थ होंगे। क्योंकि अद्वैती के मत में ज्ञानस्वरूप ही तो ब्रह्म है। शास्त्रों में स्पष्ट कहा है कि ब्रह्म जाननेवाला ब्रह्म को प्राप्त होता है। 'वचसां वाच्यमुत्तमम्' इत्यादि वाक्य ब्रह्म को वाच्य ही कहते हैं। यदि ज्ञानस्वरूप ब्रह्म ज्ञेय न होगा तो वेदान्त प्रतिपाद्य क्या होगा? 'अथातो ब्रह्म जिज्ञासा' ब्रह्मसूत्र ने ब्रह्म को जिज्ञास्य (विचार्य) कहा है—'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः', 'तमेवं ततो विदुः' इत्यादि वचन ब्रह्मरूप ज्ञान को द्रष्टव्य, श्रोतव्य, निदिध्यासितव्य कहते हैं। यदि ब्रह्म ज्ञान का विषय ही नहीं तो उक्त वचन निरर्थक ही सिद्ध होंगे। शास्त्रयोनित्वात् सूत्र भी ब्रह्म को शास्त्रगम्य कहता है। 'तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि' परम पुरुष परमात्मा उपनिषदों से ही जाना जाता है। इस तरह ज्ञानरूपी ब्रह्म में ज्ञेयता स्पष्ट है।" कहना न होगा कि

उपर्युक्त कथन वचनों का तात्पर्य न जानने से ही हो सकता है क्योंकि सर्वत्र ही वेदान्तादि वाक्यजन्य अन्तःकरणवृत्ति व्यापता ही आवरण निवृत्यर्थ ब्रह्म में मान्य है। ब्रह्म स्वप्रकाश है अतः जैसे दीपक के प्रकाशनार्थ दीपान्तर अपेक्षित नहीं होता है वैसे ही स्वप्रकाश अनन्तज्ञान स्वरूप ब्रह्म के प्रकाशनार्थ वृत्तिव्यक्त फलरूप प्रकाश अपेक्षित नहीं होता है। विचार, दर्शन, श्रवण, मनन, निदिध्यासन सब अन्तःकरण वृत्ति ही हैं वही उत्पन्न होनेवाली चीज है। नित्य ज्ञान किसी साधन से उत्पन्न नहीं होता है, उपनिषदादि शास्त्र द्वारा ब्रह्माकार वृत्ति ही उत्पन्न होती है। वृत्ति से अनादि अनिर्वचनीय अज्ञानरूप आवरण भङ्ग होता है। स्वप्रकाश ब्रह्म स्वतः प्रकाशरूप है ही। जैसे घटादि प्रावरणों से प्रावृत दीपादि के प्रकाश के लिये प्रावरण भङ्ग ही अपेक्षित होता है दीपादि प्रकाश अपेक्षित नहीं होता, वैसे ही स्वप्रकाश ब्रह्म के प्रकाशार्थ आवरण भङ्ग ही अपेक्षित होता है प्रकाश नहीं, जैसे घटादि अस्वप्रकाश वस्तु के प्रकाशार्थ दीप अपेक्षित होता है वैसे ही वस्तु के प्रकाशार्थ ही वृत्तिव्यक्त चैतन्य की अपेक्षा होती है। ज्ञान या ब्रह्म किसी शब्द का शक्तिवृत्ति द्वारा वाच्य या प्रतिपाद्य न होने पर भी लक्षणा वृत्ति, तात्पर्य वृत्ति या अतद् व्यावृत्ति के द्वारा आवरण निवर्तक वृत्ति जनन करता है। इसी लिये उक्त श्रुतिसूत्र ब्रह्म को शास्त्रप्रतिपाद्य कहते हैं। इसी लिये श्रुति स्पष्ट कहती है कि जो सबका विज्ञाता है उसको किससे जाना जाय? मन के साथ वाणी जिसको प्राप्त न करके निवृत्त हो जाती है 'विज्ञातारमरे केन विजानीयात् येनेदं सर्वं विजानाति तं केन विजानीयात्', 'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह', 'यस्या मतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः', 'अविज्ञातं विजानताम् विज्ञातमविजानताम्।' जो ब्रह्म को मन बुद्धि आदि का विषय जानता है वह नहीं जानता; जो मन, बुद्धि के अविषय अतएव स्वप्रकाशरूप से जानता है वही जानता है।

प्रतिवादी उपर्युक्त वचनों के सम्बन्ध में कहते हैं कि "मतं विज्ञातम्' आदि शब्दों से ब्रह्म को मत और विज्ञात ही कहा गया है। ऐसे ही 'येन, तथ, यतः' आदि पदों से भी ब्रह्म का ज्ञान ही कहा गया है। उन पदों से वेद्य न होने पर ब्रह्म का अज्ञेयत्व भी सिद्ध नहीं होता। ब्रह्म अज्ञेय है इस कथन में भी ब्रह्म शब्द द्वारा ब्रह्म ज्ञेय ही होता है अन्यथा ब्रह्म की अज्ञेयता नहीं सिद्ध होगी। फिर भी 'अमतं मतं विज्ञातं अविज्ञातं' इन विरुद्ध धर्मों का समन्वय आवश्यक है। इस प्रकार से हो सकता है कि ब्रह्म उपनिषदुक्त गुण विभूति विशिष्ट रूप से ज्ञात होता है और रूपादि गुणों से रहित होने के कारण प्रत्यक्षादि प्रमाणों से

अमत एवं अज्ञात ही रहता है। तथा ब्रह्म कतिपय रूपविशिष्ट रूप में विदित होने पर भी परिपूर्ण रूप से ज्ञात नहीं होता अर्थात् किञ्चित् रूप से ब्रह्म जाना जा सकता है परिपूर्ण रूप से नहीं। 'विज्ञातारमरे' इत्यादि के सम्बन्ध में भी प्रतिवादी का कहना है कि जाननेवाले आत्मा को परिश्रम से जानना होगा। बाह्य पदार्थों के प्रकाशक चक्षुरादि से आत्मा नहीं जाना जाता। 'येनेदं विजानाति तं केन विजानीयात्' इसका अर्थ यह है कि जिस परमात्मा के अनुग्रह से जीव सब को जानता है उसके अनुग्रह बिना उसको कौन जान सकता है? 'यतो वाचो' का यह अर्थ है कि ब्रह्मानन्द इतना है ऐसा वाक् के द्वारा परिच्छेद करके नहीं कहा जा सकता। इतना है यह मन भी नहीं जानता। सर्वथा अज्ञेय होने पर तो 'आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्' इत्यादि से ब्रह्म का ज्ञान कहना असंगत ही होगा। 'न शब्द गोचरः' का यह अर्थ है कि देहादि सम्बन्ध रहित परिशुद्ध आत्मस्वरूप देवदत्त आदि शब्दों द्वारा नहीं बताया जा सकता। यदि सर्वथा अज्ञेय हो तो उसमें ध्येयता भी कैसे बनेगी?" परन्तु उपर्युक्त कथन श्रुतितात्पर्य विरुद्ध एवं अनेक अध्याहार करने पर भी असंगत ही है। श्रुतिसिद्ध गुणविभूतिविशिष्ट रूप से ब्रह्म विदित या मत है। रूपादिग्राहक प्रत्यक्षादि से अविदित है, यह कथन असंगत है क्योंकि अद्वैती भी श्रुतिसिद्ध गुणविभूतिविशिष्ट रूप से ब्रह्म को ज्ञेय मानते हैं। वे निर्गुण निर्विशेष रूप से ही ब्रह्म को अज्ञेय मानते हैं। 'निर्गुणं निष्क्रियं शान्तं' इत्यादि श्रुति प्रतिपादित ब्रह्म फिर किस प्रकार ज्ञात होगा? इसके अतिरिक्त यदि प्रत्यक्षादि में आगम भी ग्राह्य है तब यह तो आगमवेद्य प्रतिवादी को मान्य ही है, फिर वह प्रत्यक्षादि अवेद्य कैसे रहा? साथ ही विष्णु रामादि स्वरूप ब्रह्म तो प्रत्यक्षादि से भी वेद्य होते हैं। फिर क्या कारण है कि रूपादि गुण विशिष्ट ग्राहक प्रत्यक्षादि से ब्रह्म वेद्य नहीं हो। यदि कहा जाय कि ब्रह्म के गुण विभूति आदि अलौकिक हैं तब तो धर्मादि अलौकिक वस्तु भी प्रत्यक्षादि से नहीं विदित होते। प्रकृति आदि भी अलौकिक हैं फिर ब्रह्म ही क्यों अविदित हो? बहुत से ऐसे पदार्थ हैं जो वेद से वेद्य हैं प्रत्यक्षादि से अवेद्य।

ऐसे तो परमाणु आदि भी प्रत्यक्ष से अवेद्य अनुमानादि से वेद्य हैं। फिर ब्रह्म में ही वेद्यता अवेद्यता के कथन का क्या महत्त्व है? इसी तरह किञ्चित् रूप से ब्रह्म जाना जाता है परिपूर्ण रूप से नहीं जाना जाता यह कथन भी निःसार है। अद्वैती भी इस तरह सोपाधिक रूप से ब्रह्म को ज्ञेय तथा निरुपाधिक रूप से अज्ञेय मानते हैं। फिर रूपान्तर से उसी का तो समर्थन

हुआ। परिच्छिन्न रूप ही किञ्चित् है अपरिच्छिन्न ही परिपूर्ण रूप है। आत्मा को परिश्रम से ही जानना होगा यह अर्थ करना भी निःसार है। न्याय, व्याकरण भी परिश्रम बिना नहीं जाना जाता फिर ब्रह्म ही की क्या बात है? इसी तरह 'येनेदं सर्वं विजानाति' का अनुग्रह बिना कोई नहीं जानता यह अर्थ करना भी निःसार है। जब भगवदनुग्रह बिना जीव किसी चीज को नहीं जानता तो अनुग्रह बिना ब्रह्म के भी जानने का प्रसङ्ग ही कहाँ था जो उसका निषेध करते। ईश्वर के अनुग्रह बिना देह चक्षुरादि भी नहीं मिलते; फिर अनुग्रह बिना कोई भगवान् को नहीं जानता यह सिद्ध ही है। धर्म भी बिना अनुग्रह के नहीं जाना जाता, रूप भी बिना अनुग्रह के नहीं जाना जाता। इसके अतिरिक्त अनुग्रह की बात तो अद्वैती भी मानता है। अनुग्रह से मन एकाग्र होता है। अनुग्रह से निर्विघ्न श्रवणादि सम्पन्न होता है। अनुग्रह से ही अखण्डाकार वृत्ति उत्पन्न होती है। अनुग्रह से ही आवरण भङ्ग होता है। अनुग्रह से ही स्वप्रकाश रूप से भगवान् भासते हैं यह भी मालूम होता है।

"अथापि ते देव पदाम्बुज द्वय प्रसाद लेशानुगृहीत एव हि।
जानाति तत्त्व भगवन्महिम्नो नचान्य एकोऽपि चिरं विचिन्वन्॥"

'जेहि चाहहु तेहि देहु जनाई' इत्यादि वाक्यों का भी यही अर्थ है। भगवान् की कृपा से ही आवरण निवर्तक ब्रह्माकार वृत्ति पैदा होती है। इसका यह कभी अर्थ नहीं कि स्वप्रकाश स्वप्रकाश नहीं रह जाता, ज्ञान से ज्ञेय जड़ या अनित्य हो जाता है।

'आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्' का भी यही अर्थ है कि ब्रह्मानन्दाकार वृत्ति होती है। परन्तु यह इसका अर्थ नहीं कि स्वप्रकाश ब्रह्म के प्रकाशार्थ प्रकाश अपेक्षित होता है, या दीप के प्रकाशार्थ दीपान्तर अपेक्षित होता है। हाँ, दीप के प्रकाशार्थ यद्यपि चक्षुरादि विजातीय प्रकाश अपेक्षित होता है परन्तु स्वप्रकाश बोधरूप ब्रह्म के प्रकाशार्थ तो सजातीय विजातीय कोई भी प्रकाश अपेक्षित नहीं होता। सजातीय प्रकाश की अपेक्षा तो दीपादि दृष्टान्त से ही निरस्त है। ब्रह्म विजातीय प्रकाश तो जड़ ही होगा फिर जड़ से चेतन के प्रकाश की कल्पना भी असंगत ही होगी। अतः श्रुतियों का सीधा अर्थ यही है कि आत्मा वृत्तिव्याप्य होने से ज्ञेय या मत है। फलव्याप्ति का अविषय होने से अविज्ञात एवं अमत होता है। मन, वाणी आदि से उसका प्रकाश नहीं होता अतः वह अविषय एवं अवाच्य

है। वेदान्त वाक्यजन्य ब्रह्माकार वृत्ति से तद्विषयक आवरण निवृत्त होता है फिर ब्रह्म स्वतः भासता है।

"फल व्याप्यत्वमेवास्य शास्त्रकृद्भिर्निराकृतम्।
ब्रह्मण्यज्ञाननाशाय वृत्तिव्याप्यत्वमिष्यते॥"

प्रत्यक्षादि गोचर स्वरूप, जाति, गुण, क्रिया, सम्बन्ध ही शब्दप्रवृत्ति के निमित्त होते हैं। ब्रह्म के एक निर्गुण, निष्क्रिय एवं असङ्ग होने से उसमें शब्द की प्रवृत्ति नहीं हो सकती। गुण, योग और सम्बन्ध से ही लक्षणा और गौणी वृत्ति होती है।

मन, बुद्धि आदि कारण स्वयं दृश्य हैं। वे ज्ञान स्वरूप आत्मज्योति से दीपित होकर ही स्वविषयों को प्रकाशित करते हैं। अपने द्रष्टा प्रकाशक का प्रकाशन उनके द्वारा वैसे ही असंभव है जैसे रूप के द्वारा चक्षु का प्रकाशन। इसी युक्ति, श्रुति एवं अनुभवसिद्ध बात का वर्णन भगवतादि ग्रन्थों में स्पष्ट रूप से किया गया है—

"नैतन्मनो विशति वागुत चक्षुरात्मा,
प्राणेन्द्रियाणि च यथा नलमर्चिषः स्वाः।
शब्दोऽपि बोधक निषेधतयात्ममूल
मर्थोक्तमाह यदृते न निषेध सिद्धिः॥"

अर्थात् इस आत्मतत्त्व में मन, वाक् एवं चक्षु प्रकाशन के लिये नहीं प्रवृत्त होते, प्राण एवं इन्द्रियों का भी यही हाल है। जैसे अग्नि की ज्वालाएँ अग्नि को जला नहीं सकतीं वैसे ही प्राण, इन्द्रिय, मन आदि उससे प्रकाशित हैं, उसे प्रकाशित नहीं कर सकते। 'यन्मनसा न मनुते', 'येनाहुर्मनोमतम्', यद्वाचा न भ्युदितम् येन वागभ्युपद्यते।' शब्द भी निषेधरूप से अतद्व्यावर्तन के द्वारा ही निषेध की अवधि या अधिष्ठान अथवा साक्षी के रूप से तात्पर्य वृत्ति से ही उसका बोधक होता है। जो सर्वनिषेध का अधिष्ठान या साक्षी है वह अर्थात् सिद्ध होता है।

ब्रह्म असङ्ग है। अतः वास्तविक सम्बन्ध न होने पर भी ब्रह्म आदि शब्दों का वाच्य सविशेष ब्रह्म मान्य है। सविशेष का आध्यात्मिक सम्बन्ध शुद्ध ब्रह्म से भी है। इस तरह शक्यार्थ सम्बन्ध सम्पन्न हो जाने से शुद्ध ब्रह्म लक्ष्य होता है। लक्ष्यतावच्छेदक धर्म स्वरूप से अनतिरिक्त ही है। इसी लिये—

"ब्रह्मन् ब्रह्मण्य निर्देश्ये निर्गुणे गुणवृत्तयः।
कथं चरन्ति श्रुतयः साक्षात् सदसतः परे।"

भागवत के वेदस्तुति के प्रसङ्ग में यह प्रश्न है कि स्वरूप जात्यादि गुणों से ही प्रवृत्त होनेवाली श्रुतियाँ अनिर्देश्य कार्यकारणातीत निर्गुण ब्रह्म में कैसे बोधकरूप से प्रवृत्त हो सकती हैं? वेदस्तुति में इसका उत्तर यही दिया है कि माया के योग से ही श्रुतियाँ ब्रह्म में प्रवृत्त होती हैं। शुद्ध ब्रह्म में तो अतन्निरसन या लक्षणा आदि द्वारा ही पर्यवसित होती हैं—

क्वचिदजयाऽत्मना च चरतोऽनुचरेन्निगमः।
त्वयि फलन्त्य तन्निरसनेन भवन्निधना''' ॥

इसी तरह यह भी कहना निरर्थक है। अन्तःकरण प्राकृत है, जड है, वृत्ति भी जड़ है, यह सब मान्य ही है। परन्तु वह चिदाभास युक्त होने से विषय के विशेष प्रकाश का हेतु होता है। वृत्ति जड़ होने से ब्रह्म का प्रकाशक नहीं हो सकती यह भी इष्ट है। परन्तु उसके द्वारा आवरण भङ्ग होता है। ब्रह्म तो स्वयंप्रकाश होने से ही प्रकाशता है। अन्तःकरण वृत्ति निर्विषय पदार्थ है यह कहना निराधार है। क्योंकि योग, साङ्ख्य, वेदान्त सभी दार्शनिक वृत्ति को सविषय मानते हैं। शब्दाकार वृत्ति स्पर्शाकार वृत्ति आदि प्रसिद्ध ही है। जब चक्षु आदि सविषय हैं तो तज्जन्य वृत्तियों के सम्बन्ध में तो कहना ही क्या है? इच्छा भी अन्तःकरण वृत्ति ही है तो भी सविषय होती ही है। अतएव सविषयत्व प्रकाशत्व प्रयुक्त नहीं होता। प्रकाश ब्रह्म भी है पर वह निर्विषय ही है। इच्छा में प्रकाशत्व नहीं है तो भी सविषयत्व है। जैसे दीप के प्रकाशार्थ दीप की आवश्यकता नहीं होती वैसे ही स्वप्रकाशबोध ज्ञान या ब्रह्म के प्रकाशार्थ भी बोधान्तर, ज्ञानान्तर या ब्रह्मान्तर नहीं अपेक्षित होता। ज्ञान को कभी स्वप्रकाश कभी परप्रकाश्य मानना अर्धजरतीय ही है। फिर जो प्रतिवादी ज्ञान को आत्मा का धर्म मानता है उसके यहाँ ज्ञान नित्य ही होगा। उसका नाश न होने से संस्कार और स्मरणादि न हो सकेंगे। चक्षु श्रोत्रादि बाह्यकरण, मन बुद्धि आदि अन्तःकरण व्यर्थ ही होंगे। अतः अन्तःकरण परिणामभूत वृत्ति ही साभास होकर विषयों को प्रकाशती है। चक्षुरादि का वृत्तिजनन में उपयोग होता है। अतएव बौद्ध बोध या बौद्ध प्रमा से भिन्न पौरुषेय बोध या पौरुषेय प्रमा सांख्य योग में मान्य होती है। पौरुषेय बोध के प्रति बौद्ध बोध प्रमाण होता है। बौद्ध के प्रति चक्षुरादि प्रमाण होते हैं।

———

ज्ञान-निर्विशेषत्ववाद

यदि स्वप्रकाश ज्ञान में जड़रूप धर्म कहा जाय तो वह जड़ मिथ्या ही है। फिर मिथ्याभूत धर्म से स्वप्रकाश ज्ञान की सविशेषता कैसे कही जा सकती है? स्वप्रकाश बोध में जड़धर्म दोष से ही भासित होता है। यदि अजड़ धर्मों के साथ ज्ञान भासता है ऐसा कहा जाय, तो वे दोनों ही प्रकाशात्मक होने से अभिन्न ही हैं फिर उनमें धर्म धर्मिभाव कैसे सिद्ध होगा। ज्ञान के द्वारा ज्ञान के कोई धर्म नहीं प्रकाशते फिर उन धर्मों का सद्भाव कैसे माना जाय।

कहा जाता है मैं इस पदार्थ को जानता हूँ इस प्रकार अहमर्थाश्रित विषय-प्रकाशक रूप से ही ज्ञान प्रकाशित होता है। इस तरह ज्ञान द्वारा ही अहमर्थ धर्मत्व और सविषयकत्व धर्म ज्ञान में भासित होते हैं। ज्ञान का अहमर्थानाश्रितत्व निर्विषयत्व विदित नहीं होता अतः ज्ञान सधर्मक ही है। जागर स्वप्न में सभी ज्ञान सकर्तृक एवं सकर्मकरूप से ही भासित होते हैं। परन्तु यह ठीक नहीं, क्योंकि वृत्तिरूप ज्ञान की ही उक्त सकर्तृकता एवं सकर्मकता भासित होती है। जो कहा जाता है कि निर्विषय ज्ञान कहीं भासता नहीं यह ठीक नहीं, समाधि आदि में निर्विषय ही ज्ञान भासता है। सुप्ति में भी अज्ञान एवं सुख के साक्षिरूप में भासमान ज्ञान सकर्तृक नहीं है।

कहा जाता है यदि सुप्ति में ज्ञान विषयाश्रयशून्य होकर भासता है ऐसा ज्ञान होगा तो सुप्ति ही नहीं होगी। क्योंकि उक्त विशिष्ट ज्ञान उस समय है ही। यदि सुषुप्ति दशा में निर्विशेष ज्ञान का अनुभव हुआ होता तो जागर में स्मरण अवश्य होता। भले किसी विशेष कारण से अनुभूत वस्तु का भी स्मरण न हो परन्तु यदि सदा ही सुप्ति में निर्विशेष ज्ञान अनुभूत होता है तो उसका कभी स्मरण न हो यह नहीं हो सकता। सुप्ति में ज्ञान का अभाव और आत्मा का सद्भाव ही सिद्ध होता है, किसी निर्विशेष ज्ञान की सिद्धि नहीं होती। परन्तु यह सब कहना निराधार है। 'यद्वै तन्न पश्यति पश्यन्वै तन्न पश्यति', 'नतु तद्द्वितीयमस्ति' यह श्रुति द्रष्टा आत्मा को ही विषयाभावात् निर्विषय ज्ञानरूप बतलाती है। ज्ञा धातु से निष्पन्न होने पर भी ज्ञान शब्द लक्षणा से वृत्तिभासक नित्य चैतन्य का ही बोधक है। वृत्तिरूप ज्ञान ही क्रिया है, नित्य ज्ञान

क्रिया नहीं। 'जैसे घट चेष्टायां' धातु से निष्पन्न होने पर भी चेष्टामात्र घट नहीं है वैसे ही ज्ञा धातु से निष्पन्न होने पर भी ज्ञान शब्द क्रियाबोधक न होकर नित्य ज्ञान का ही बोधक है।

कहा जाता है यदि निर्विशेष स्वप्रकाश ज्ञान स्वयं अपने को बतलाता है, तब तो अपने स्वरूप को बतलाना आदि विशेषण उसके सिद्ध ही हो गए। यदि दूसरा कोई निर्विशेष ज्ञान को जानकर उपदेश करता है तब तो यह भी प्रश्न होगा कि वह दूसरे ज्ञान से जानकर उपदेश करता है अथवा निर्विशेष ज्ञान से ही उसको जानकर बतलाता है। पहला पक्ष इसलिये ठीक नहीं क्योंकि अद्वैती ज्ञान को ज्ञानान्तर का विषय नहीं मानते। द्वितीय पक्ष में प्रश्न होगा कि लोकप्रसिद्ध ज्ञान को ही निर्विशेष जानना है या लोकोत्तीर्ण ज्ञान को? प्रथम पक्ष ठीक नहीं क्योंकि लोकप्रसिद्ध ज्ञान आश्रय विषयमुक्त होकर कभी नहीं भासता है और वह प्रत्यक्षत्व परोक्षत्वादि अनेक विशेषों से युक्त ही रहता है। दूसरा पक्ष भी ठीक नहीं क्योंकि लोकप्रसिद्ध ज्ञान से भिन्न दूसरे ही ज्ञान को निर्विशेष मानकर दूसरों को बतलाता है। यहाँ प्रश्न होगा कि यदि लोकप्रसिद्ध ज्ञान किसी दूसरे के समक्ष निर्विशेष बतलाता है, उसे जैसे उसी का सुख उसे ही अनुभव में आता है, वैसे उसे ही निर्विशेष ज्ञान प्रतीत होता है या अन्य को भी। यदि उसे ही हो तो उसके कथन पर कौन विश्वास करेगा। दूसरों के सुख दुःख दूसरों को अनुमान से विदित होते हैं। परन्तु दूसरे निर्विशेषानुभव को सिद्ध करनेवाला कोई हेतु नहीं। ऐसी स्थिति में वह निर्विशेषानुभव जो अनुमान द्वारा भी नहीं समझा जा सकता, कैसे स्वीकृत हो सकता है? अतः जो कहता है हमें निर्विशेषानुभव हो रहा है वह झूठ ही बोलता है, यही क्यों न समझा जाय? यदि निर्विशेषानुभव दूसरों के भी जानने योग्य पदार्थ है तो दूसरों को भी अनुभव में आना चाहिये परन्तु किसी को भी निर्विशेष ज्ञान का अनुभव होता नहीं। क्या वह निर्विशेष ज्ञान ऐसा पदार्थ है जो किसी अनुभव में नहीं आता केवल अपने ही लिए प्रकाशता है। परन्तु इससे यही क्यों न समझा जाय कि निर्विशेष हम सभी अहमर्थ हैं, उससे हम सभी भिन्न हैं, हम सभी के समक्ष वह नहीं प्रकाशता है तो प्रमाण बिना वह हमें कैसे मान्य हो सकता है?

अनुभूति निर्विशेष है। अनुभूति होने से जो अनुभूति नहीं वह निर्विशेष भी नहीं यथा घटादि। यह अनुमान भी अनुभूति की निर्विशेषता नहीं सिद्ध कर सकता। क्योंकि पक्षता, साध्यता, हेतुता आदि विशेषों के बिना कोई अनुमान नहीं होता, यदि अनुभूति में पक्षता आदि है तब तो वह सधर्मक हो हुई।

यदि पक्षता आदि नहीं है तो अनुभूति की निर्विशेषता भी कैसे सिद्ध होगी। अनुमान के आधार पर धर्मों को पक्ष मानकर उनके अनुभूतिधर्मत्व का निषेध करने पर भी अनुभूति की निर्विशेषता नहीं सिद्ध होती। भेद आदि धर्म अनुभूति के नहीं हैं क्योंकि धर्म दृश्य है। जो जो धर्म है, ज्ञान का विषय है वह अनुभूति का धर्म नहीं है जैसे रूपादि। इस तरह कोई दृश्य धर्म अनुभूति के धर्म न होंगे तो अनुभूति की निर्धर्मकता अपने आप सिद्ध हो जाती है। फिर भी अनुभूति में एकत्व, नित्यत्व आदि धर्म अद्वैती को भी मानना ही पड़ेगा। यदि उपर्युक्त अनुमान से अनुभूति के एकत्व, नित्यत्व आदि धर्म का भी निषेध अभीष्ट है तो निर्विशेषत्व अपसिद्धान्त होगा, क्योंकि अनुभूति नित्यत्व आदि मान्य है।

यदि एकत्व आदि धर्म मिथ्या है तो यह भी मानना होगा कि अनुभूति वस्तुतः एक एवं नित्य नहीं है; फिर अनुभूति का अनित्यत्व एवं नानात्व मानने-वालों से अद्वैती का विवाद भी क्यों होना चाहिये। अद्वैती नित्यत्व, एकत्व को अनुभूति का स्वरूप ही मानते हैं, तो बौद्ध भी अनित्यत्व, अनेकत्व को अनुभूति का स्वरूप ही मानते हैं, क्योंकि दोनों ही के मत में अनुभूति के निर्धर्मक हैं। स्वीकृत एवं विवादास्पद अर्थ भिन्न ही होते हैं। अनुभूति दोनों की मान्य वस्तु है। एकत्व, अनेकत्व; नित्यत्व, अनित्यत्व विवादास्पद हैं, अतः वे दोनों एक नहीं हो सकते। अतः नित्यत्व आदि अनुभूति के धर्म ही होने चाहिये स्वरूप नहीं। स्वरूप मानने पर उन धर्मों को लेकर विप्रतिपत्ति नहीं हो सकती। नित्यत्वादि धर्म अनुभूति में स्वीकार करने पर उपर्युक्त अनुमान में अनैकान्तिकता व्यभिचार दोष होगा। नित्यत्वादि न स्वीकार करने से अपसिद्धान्त होगा। यदि पक्षभूत अनुभूति लोकप्रसिद्ध ही ग्राह्य है तब उसमें सकर्तृकत्वादि विशेष प्रसिद्ध है अतः बाध दोष होगा। यदि अनुभूति शब्द से श्रुतिसिद्ध ब्रह्म ग्राह्य है तो वह भी श्रुतिसिद्ध अनन्त विशेषों से युक्त ही है। इस तरह किसी प्रकार की अनुभूति में निर्विशेषता नहीं सिद्ध हो सकती। इसी तरह अनुभूति सधर्मक है प्रकाशमान होने से घटादि के समान। एकत्व नित्यत्व आदि अनुभूति के धर्म हैं प्रमाणसिद्ध होने से, जैसे नीलत्वादि घट के धर्म हैं।

शब्द भी निर्विशेष का बोधक नहीं हो सकता क्योंकि यहाँ प्रश्न होगा पद रूप में शब्द निर्विशेष अनुभूति का बोधक होगा या वाक्यरूप में? अन्विताभिधान केवल पदबोधक होता ही नहीं। अतः उस पक्ष में पद से निर्विशेष पदार्थ का

बोध हो ही नहीं सकता। अभिहितान्वयवाद में प्रत्येक पद अर्थ का स्मारक ही होता है। इस दृष्टि से पद प्रमाण नहीं हो सकते अतः पदात्मक शब्द निर्विशेष पदार्थ में प्रमाण नहीं हो सकते। प्रत्येक पद प्रकृति प्रत्यय के योग से ही बनता है। अतः प्रकृत्यर्थ विशिष्ट प्रत्ययार्थ ही प्रत्येक शब्द का अर्थ है। ऐसे पदों से निर्विशेष पदार्थ की प्रतीति नहीं संभव होती। इस तरह जैसे वाक्यजन्य बोध में वैशिष्ट्य अवर्जनीय है वैसे पदजन्य बोध में भी वैशिष्ट्यभान होगा ही। वस्तुतस्तु पद रूप से निर्विशेष शब्द किसी अर्थ का बोधक नहीं होता। हाँ वाक्यस्थ होकर अन्यान्य पदों से उपस्थापित विशेषों का निराकरण न करके विवक्षित विशेष रहित वस्तु का बोध करा सकता है, जैसे राजा अद्वितीय है, नगरी विशेष रहित है। इन वाक्यों का यही अर्थ है कि राजा के समान दूसरा व्यक्ति नहीं है। यहाँ राजत्वादि धर्मों का निषेध नहीं है, नगरी निर्विशेष है इसका भी अर्थ विशेष वृत्तान्त का राहित्य ही है; यह नहीं कि उसमें गृह, प्रासाद, मार्ग आदि हैं ही नहीं। वाक्यों का संसर्ग ही अर्थ होता है अतः वाक्यरूपी शब्द से निर्विशेष वस्तु सिद्ध नहीं होती। पदार्थविशिष्ट संसर्ग या संसर्गविशिष्ट पदार्थ यही वाक्यार्थ होता है।

वस्तुतः नित्य ज्ञान ब्रह्मस्वरूप है, सर्वकारण है एवं सर्वाधिष्ठान है। कार्यों में विशेषता, कारण में अपेक्षाकृत निर्विशेषता प्रसिद्ध है। घट में कंबुग्रीवादि विशेष होता है परन्तु मृत्तिका में नहीं। मृत्तिका में गन्धरूप विशेष होता है परन्तु तत्कारण जल में वह नहीं होता। पृथिवी में शब्द, स्पर्श, आदि पाँच विशेष होते हैं। जल में गन्ध को छोड़कर चार, तेज में तीन, वायु में दो, आकाश में केवल शब्द विशेष रहता है। अहं में वह भी नहीं रहता। इस तरह अवान्तर कारणों में आपेक्षिक निर्विशेषता प्रसिद्ध है। सर्वकारण में पूर्ण निर्विशेषता न्यायप्राप्त होती है। वह अन्तिम कारण ही निर्विशेष ज्ञान है। वह अवेद्य होकर अपरोक्ष है इसी लिये स्वप्रकाश है। प्रत्यक्षानुमानादि द्वारा तत्तदाकार वृत्ति होती है एतावता वह प्रामाणिक भी होता है, अतएव उसमें अस्तित्व का अपलाप भी नहीं किया जा सकता। सकर्मकत्व, सकर्तृकत्व वृत्तिरूप ज्ञान में ही होता है ब्रह्मरूप ज्ञान में नहीं, यह प्रतिवादी को भी मानना ही पड़ता है। सुषुप्ति में, समाधि में, कर्तृत्व, भोक्तृत्वादि विशेषों से रहित बोधरूप साक्षी स्मरणादि से भी सिद्ध होता ही है। वृत्तिव्याप्तिरूप ज्ञेयता उसमें मान्य होने पर फलव्याप्तिशून्यता मात्र से उसे अज्ञेय कहा जाता है।

———

सुषुप्ति एवं आत्मा

सुप्ति दशा में भी यद्यपि अहमर्थ नहीं होता तथापि अज्ञान सुखादि का प्रकाशरूप ज्ञान होता है। साक्षिरूप ज्ञान में सकर्तृकत्वादि नहीं होता। "ज्ञा धातु प्रतिपाद्य ज्ञान विषयाश्रयसापेक्ष ही होता है" यह कहना भी ठीक नहीं, क्योंकि 'ज्ञायते अनेनेति ज्ञानम्' इस करण व्युत्पत्ति से निष्पन्न ज्ञान का उक्त स्वभाव होने पर भी 'ज्ञप्तिर्ज्ञानम्' इस भाव व्युत्पत्ति से निष्पन्न ज्ञान सर्व-निरपेक्ष नित्य ब्रह्म ही है। वही ज्ञान 'सत्यं ज्ञानम्' इत्यादि श्रुति से कहा गया है। यहाँ ज्ञान छेदनादि क्रिया के तुल्य नहीं है कि जिससे उसे आश्रय एवं विषय की अपेक्षा अनिवार्य हो, किन्तु सूर्य के स्वरूपभूत प्रकाश के तुल्य स्वतः सिद्ध है। सूर्य का स्वरूपभूत प्रकाश कर्तृव्यापार निरपेक्ष ही है। उसके सन्निधान मात्र से प्रकाश्य वस्तुओं का प्रकाश होता है परन्तु वह प्रकाश्यसापेक्ष नहीं होता है। वैसे ही आत्मस्वरूप ज्ञान भी निरपेक्ष ही है। सुप्ति में आत्मा का धर्मभूत ज्ञान निर्विषय रहता है इतना तो प्रतिवादी को भी मान्य है। धर्मभूत ज्ञान यद्यपि साश्रय है तथापि मुक्ति में धर्मिभूत ज्ञानरूप आत्मा तो निराश्रय भी है ही। निर्विशेष ज्ञान प्रकाशता है। इस प्रकार सुषुप्ति दशा में उल्लेख न होने पर भी सुप्ति में अहमर्थ नहीं रहता और शब्दादि विषय नहीं रहता। फिर भी सुप्तिसाक्षिस्वरूप बोध रहता है। एतावता उसकी निराश्रयता निर्विषयता सिद्ध हो जाती है। सुप्ति समय में सविषय ज्ञान का अभाव होने पर भी सब प्रकार के ज्ञान का अभाव नहीं कहा जा सकता क्योंकि श्रुति स्वयं कहती है कि द्रष्टा की स्वरूपभूत दृष्टि नित्य है उसका विपरिलोप नहीं होता—'नहि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यते'।

शास्त्रों एवं आचार्यों के उपदेश से साधन चतुष्टय सम्पन्न व्यक्ति निर्विशेष ब्रह्मरूप बोध को जानता है। जानने का भी अर्थ है वृत्तिज्ञान। वृत्तिव्याप्यता में कोई बाधा नहीं है यह कहा जा चुका है। लौकिक ज्ञान एवं लोकोत्तीर्ण ज्ञान दो नहीं हैं। वस्तुतः लोकोत्तीर्ण ज्ञान ही माया से लौकिक ज्ञान एवं ज्ञेय प्रपञ्च के रूप में व्यक्त होता है, परमार्थतः वह सदा लोकोत्तीर्ण ही रहता है।

कहा जाता है 'सभी वस्तु सविशेष ही होती है, ब्रह्म में भी नित्यत्वादि विशेष तो रहते ही हैं' परन्तु उक्त कथन ठीक नहीं है क्योंकि यहाँ विचार

होगा कि क्या निर्विशेष वस्तुसत्ता मानकर उसका निषेध किया जाता है या उसका असत्त्व मानकर निषेध है? यदि निर्विशेष वस्तु की सत्ता मान्य ही है तब उसका निषेध कैसे होगा? यदि नहीं तो भी निषेध कैसे बनेगा? क्योंकि अत्यन्तासत् शशशृङ्गादि का निषेध नहीं होता। यदि कहा जाय कि ब्रह्म की ही निर्विशेषता का निषेध अभीष्ट है तो वहाँ भी वही प्रश्न होगा कि निर्विशेषता का सत्त्व मानकर निषेध किया जा रहा है या असत्त्व मानकर? दोनों ही पक्ष में पूर्वोक्त युक्ति से निषेध नहीं हो सकता।

कहा जा सकता है कि ब्रह्म की निर्विशेषता भ्रान्तिसिद्ध है, उसी का निषेध किया जाता है। अद्वैती भी तो भ्रान्तिसिद्ध द्वैत का निषेध करता है परन्तु यह भी ठीक नहीं क्योंकि द्वैत का सत्त्व भ्रान्तिसिद्ध है यह तो वेदान्तों से विदित होता है। परन्तु ब्रह्म का निर्विशेषत्व भ्रान्तिसिद्ध है—यह तुमने कैसे जाना?

कहा जा सकता है कि सविशेष ब्रह्म में निर्विशेषत्व की स्थिति का व्याघात होने से ही निर्विशेषत्व भ्रान्तिसिद्ध है परन्तु यह भी ठीक नहीं। यद्यपि सविशेष ब्रह्म में निर्विशेषत्व व्याहत है तथापि निर्विशेष ब्रह्म में निर्विशेषत्व की स्थिति में कोई बाधा नहीं है। फिर उसे भ्रान्ति कैसे कहा जा सकता है? प्रत्युत सविशेषत्व ही भ्रान्तिसिद्ध है। कहा जाता है 'सत्यत्व, ज्ञानत्व, अनन्तत्व आदि विशेष ब्रह्म में रहते ही हैं,' परन्तु यह भी ठीक नहीं, क्योंकि विशेष सविशेष में होते हैं या निर्विशेष में; द्वितीय पक्ष तो व्याहत ही है। सविशेष में विशेष रहता है यह मानने पर भी प्रश्न यह होगा कि 'विशेषेण सह वर्तते सविशेषः सविशेषत्व विशेषः', यहाँ प्रथमान्त विशेष वस्तु के विशेषणीभूत तृतीयांत विशेषसे भिन्न है या अभिन्न? अन्तिम पक्ष मानने में आत्माश्रय दोष होगा क्योंकि वही तृतीयान्त होकर आश्रय होगा और वही प्रथमान्त होकर आश्रित होगा। प्रथम पक्ष अर्थात् भिन्न मानने पर प्रश्न होगा कि उस भिन्न विशेष को भी किसी सविशेष के ही आश्रित मानना पड़ेगा; तथा च उस विशेष के आश्रयभूत वस्तु की सविशेषता जिस विशेष से हुई, वह प्रथमान्त विशेष से भिन्न है या अभिन्न? अभिन्न मानने में चक्रक दोष होगा क्योंकि प्रथमान्त विशेष को लेकर तृतीयान्त विशेष के आश्रयभूत वस्तु की सविशेषता होगी और तभी तृतीयान्त विशेष की स्थिति होगी। तृतीयान्त विशेष की स्थिति होनेपर ही प्रथमान्त विशेष के आश्रयभूत वस्तु की सविशेषता होगी और तभी प्रथमान्त विशेष की स्थिति होगी। प्रथमान्त विशेष सिद्ध हो तभी उसको लेकर तृतीयान्त विशेष के आश्रयभूत वस्तु की सविशेषता होगी। यदि प्रथमान्त विशेष से भिन्न विशेष द्वारा ही तृतीयान्त विशेष के आश्रय

की सविशेषता हो तब तो उस विशेष का भी कोई सविशेष आश्रय होगा और उस सविशेष के लिये किसी अन्य विशेष की आवश्यकता होगी तथा च अनवस्था दोष होगा। इसलिये नित्यत्वादि विशेषवान् ब्रह्म में नित्यत्वादि विशेष रहते हैं या नित्यत्वादि विशेषरहित ब्रह्म में? इसका उत्तर देना कठिन है अतः सविशेषत्व भ्रान्तिसिद्ध है, स्वतः ब्रह्म निर्विशेष ही है। किञ्च जो कहते हैं निर्विशेष कोई वस्तु होती ही नहीं उन्हें यह भी सोचना होगा कि नित्यत्वादि विशेष क्या निर्विशेष है या सविशेष? यदि प्रथम पक्ष मान्य है तब तो निर्विशेष वस्तु सिद्ध ही हो गयी; यदि सविशेष है तो भी नित्यत्वादि विशेष में होनेवाले विशेष भी निर्विशेष हैं या सविशेष। प्रथम पक्ष में निर्विशेष वस्तु सिद्ध होती है। सविशेष मानने पर अनवस्था प्रसङ्ग होगा। कुछ लोग कहते हैं कि 'धर्म को लेकर धर्मी सविशेष है और धर्मी को लेकर धर्म सविशेष है। जो किसी का धर्म न हो या किसी का धर्मी न हो ऐसी कोई भी वस्तु प्रमाणसिद्ध नहीं है' परन्तु यह भी ठीक नहीं। क्योंकि क्या धर्म धर्मी में वर्तमान होकर धर्मी के सविशेषत्व का संपादक होता है अथवा अधर्मी में भी सविशेषत्व सम्पादक होता है? अन्तिम पक्ष तो व्याहत है। प्रथम पक्ष भी ठीक नहीं क्योंकि धर्मी में धर्म रहता है। यहाँ भी धर्मि शब्दगत तृतीयान्त धर्म प्रथमान्त से भिन्न है या अभिन्न। अन्त्य में आत्माश्रय, आद्य में अन्योऽन्याश्रय आदि दोष होंगे। इसी तरह धर्मि का धर्म है यह कथन भी सदोष ही है। धर्म का धर्मी यह भी सदोष ही है। पूर्वोक्त विकल्प सर्वत्र प्रसृत होते हैं। अपि च जिसका जो धर्म है उससे उसका विवेचन करने पर वस्तु निर्धर्मक ही अवशिष्ट रहती है। जैसे शुक्ल घट से बुद्धि से शुक्ल गुण के पृथक् करने पर घट निर्गुण ही ठहरता है। उस घट से कम्बुग्रीवादि आकार के पृथक्करण करने पर निराकार घट मृत्तिकारूप ही ठहरता है। मृत्तिकारूप घट से मृत्तिका को पृथक् करने पर निर्विशेष सन्मात्र ही वस्तु अवशिष्ट रहती है। तथा घटोऽयम् यह अनुभव भी निर्विशेष सन्मात्र वस्तु के सद्भाव में प्रमाण है। किञ्च धर्म का ज्ञान होने पर ही धर्मविशिष्ट धर्मी का ज्ञान होता है। इसी तरह धर्मी का ज्ञान होने पर ही अमुक धर्मी का यह धर्म है ऐसा बोध होता है। इस तरह अन्योऽन्याश्रय दोष होता है अतः निर्धर्मक ही वस्तु ठहरती है। धर्मत्व धर्मित्व यह दोनों भाव में रहते हैं या अभाव में? यदि भाव में तो वही भाव जो न किसी का धर्म है, न धर्मी है, वही निर्विशेष सत् है। दूसरा पक्ष भी ठीक नहीं, क्योंकि फिर तो शशशृङ्ग में भी धर्मित्व धर्मत्व व्यवहार होना चाहिये।

कहा जाता है ऐसी कोई भावभूत वस्तु नहीं है जो किसी का धर्म या धर्मी न हो परन्तु यहाँ भी प्रश्न होगा—तुम ऐसी वस्तु को जानकर उसका निषेध करते हो या बिना जाने ? यदि पहला पक्ष है तब तो तुम्हारा ज्ञान ही निर्विशेष वस्तु सत्ता में प्रमाण है। अन्तिम पक्ष ठीक नहीं क्योंकि अज्ञ का वचन कैसे ग्राह्य होगा ? यदि कहा जाय कि निर्विशेष वस्तु का अभाव जानकर ही मैं कहता हूँ तो यह भी ठीक नहीं, क्योंकि तादृश वस्तु के सत्त्व होने पर उसका अभाव जाना या असत्त्व से अभाव जाना। यदि सत्त्व है तो उसका अभाव कैसे ? असत्त्व होने पर भी अभावज्ञान नहीं हो सकता क्योंकि अभावज्ञान में प्रतियोगी ज्ञान की अपेक्षा होती है, अतएव तादृश वस्तुज्ञान बिना अभावज्ञान हो ही नहीं सकता। 'ऐसी कोई वस्तु नहीं जो किसी का धर्म या धर्मी न हो' यह कथन स्वतन्त्र रूप से है या किसी प्रमाण के बल पर। प्रथम पक्ष इसलिये ठीक नहीं कि भ्रम प्रमादादि दोषों से दूषित पुरुषों का वचन ग्राह्य नहीं होता। यदि वेदान्त प्रमाण कहें तो कोई भी ऐसा वचन वेदान्त वाक्य नहीं है जो कहता हो कि ब्रह्म निर्विशेष नहीं है। अनुमान भी प्रमाण नहीं। क्योंकि वह पुरुषबुद्धि पर निर्भर होने से वेदान्तविरुद्ध प्रमाण नहीं; निर्विशेष ब्रह्म तत्त्व का अविद्वत्प्रत्यक्षगम्य न होने पर भी अपलाप नहीं किया जा सकता। विद्वत्प्रत्यक्षगम्यता तो उसमें मान्य है ही। निर्विशेष चिन्मात्र वस्तु धर्म धर्मित्व विनिर्मुक्त सिद्ध ही है। 'स वै ममाशेष विशेषमाया निषेध-निर्वाण सुखानुभूति', 'सत्तामात्रं निर्विशेषं' इत्यादि श्रीमद्भागवतादि ग्रंथों में भगवान् व्यास के वाक्य निर्विशेषत्व के सद्भाव में प्रमाण हैं ही। नेति नेति अस्थूल अनणु आदि निषेधबोधक वाक्य भी निर्विशेष वस्तु की सत्ता में प्रमाण हैं।

कहा जाता है कि उक्त वाक्यों से मायामय विशेषों का ही निषेध किया गया है। एतावता दिव्य गुणादि विशेषों का निषेध नहीं अभीष्ट है। परन्तु यह ठीक नहीं क्योंकि उक्त निषेधों से सर्व निषेधावधि निर्विशेष्य ब्रह्म ही विवक्षित है। जो भी निषेध के योग्य है उस सब का निषेध करने पर निर्विशेष ब्रह्म ही अवशिष्ट रहता है।

कहा जाता है "ब्रह्म को निषेधावधि कहीं नहीं कहा गया है" परन्तु यह भी ठीक नहीं। 'निषेधशेषोजयतादशेषः' इत्यादि भागवत के पद्य से ब्रह्म को निषेधशेष स्पष्ट रूप से कहा गया है। यदि ब्रह्म किसी का धर्म या धर्मी होता तो तब तो उसका भी निषेध ही होता, फिर वह निषेधशेष नहीं हो सकता है। अतएव

भगवान् व्यास ने ब्रह्म के सम्बन्ध में कहा है कि यह न गुण है, न कर्म है, न सत् (कार्य) है, न असत् (कारण) है—'नायं गुणः कर्म सन्नचासत्'।

यदि ब्रह्म सविशेष होता तो उसी विशेष के द्वारा उसका निरूपण उचित था फिर नेति नेति वाक्यों से निषेधमुख से प्रतिपादन व्यर्थ ही था। इसलिये 'यतो वाचो निर्वतन्ते अप्राप्य मनसा सह' यह श्रुति ब्रह्म को मनोवचनागम्य बतलाती है। जो वस्तु सविशेष है वह तो 'इदमित्थं' यह ऐसी वस्तु है इस रूप से मन द्वारा जानी जा सकती है। वाणी द्वारा उसका निर्वचन भी हो ही सकता है। निर्विशेष वस्तु के सम्बन्ध में ही यह सब अशक्य होता है। इसी लिये 'अवचनेनैव प्रोवाच' इस वाक्य के द्वारा तूष्णीं भाव से ही ब्रह्म का निरूपण कहा गया है। जैसे नवोढ़ा कुलवधू सखियों द्वारा पति सम्बन्धी प्रश्न होने पर, वह सखियों के अंगुली निर्दिष्ट तत्तत् व्यक्तियों का निषेध करती हुई, ठीक पति के अंगुल्या निर्देश पर तूष्णीं रहकर ही उसे स्वपति बतलाती है, इसी तरह श्रुति भी अतत् का व्यावर्तन करती हुई सर्वनिषेधावधि भूत ब्रह्म को अवचन से ही बोधित करती है।

जो कहा जाता है कि मायामय सर्वविशेषों के निषेध के बाद भी स्वाभाविक विशेष ब्रह्म में होते ही हैं; यह ठीक नहीं। स्वतः निर्विशेष में माया से ही सविशेषत्व होता है।

कहा जाता है कि सत्य, नित्य, ज्ञान, अनन्त, आनन्दरूप ब्रह्म में सत्यत्व आदि विशेष तो रहते ही हैं, सत्यत्व आदि मायामय नहीं कहे जा सकते। परन्तु यह भी ठीक नहीं, कारण क्या? यहाँ सत्यत्वादि व्यावर्तक विशेष हैं अथवा धर्म हैं? प्रथम पक्ष में भी क्या वे पारमार्थिक हैं अथवा व्यावहारिक। पहला पक्ष ठीक नहीं है क्योंकि परमार्थ दशा में व्यावर्त्य ही नहीं फिर व्यावर्तक ही कैसे होगा? उस समय भी व्यावर्त्य रहता है यह नहीं कहा जा सकता है। 'नेह नानास्ति किञ्चन' इस श्रुति से सब प्रकार की वस्तु का निराकरण किया गया है। 'नात्र काचन भिदास्ति' इस श्रुति से ब्रह्म में किसी प्रकार का भेद नहीं है यह कहा गया है। किसी प्रकार की भी वस्तु या भेद रहने पर काचन किञ्चन इन दोनों शब्दों का स्वारस्य भङ्ग होता है। 'यत्रत्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्' यह श्रुति सर्वप्रपञ्च को आत्मा ही कहती है। द्वितीय पक्ष के अनुसार व्यवहार दशा में व्यावहारिक मायामय विशेषों से ब्रह्म की सविशेषता तो मान्य है। ब्रह्मभिन्न सब कुछ मिथ्या है, द्वैत व्यावर्त्य है। उसी दशा में सत्यत्वादि में व्यावर्तक धर्म मान्य होते हैं।

परमार्थ दशा में तो धर्म धर्मि भाव होता ही नहीं। सुषुप्ति, मृत्यु आदि में भी धर्मि धर्म भाव प्रतीत नहीं होता। सुषुप्ति में आत्मा का यह धर्म है, इस धर्मी का यह धर्म है इत्यादि प्रतीति नहीं होती।

कहा जाता है कि सुप्त पुरुष को ज्ञान न होने पर भी द्वैत प्रपञ्च रहता है; पर यह नहीं कहा जा सकता क्योंकि दृष्टिसृष्टि के अनुसार सम्पूर्ण द्वैत प्रातीतिक ही है। अतः प्रतीति न होने पर उसके होने में कोई प्रमाण नहीं। कुछ लोग कहते हैं रज्जु सर्प के तुल्य प्रपञ्च प्रातीतिक नहीं है किन्तु सर्प के तुल्य ही है। सर्प भी पक्ष ही है, सपक्ष कोई न होने से दृष्टान्त सिद्ध नहीं होता है। किन्तु यह ठीक नहीं क्योंकि व्यवहार भी प्रतीतिरूप ही होता है अतः वह भी प्रातीतिक ही है। अतः व्यावहारिक मायामय सत्यत्वादि ही व्यवहार दशा में ब्रह्म में होते हैं, परमार्थतः सत्यत्वादि भी नहीं ही हैं। प्रश्न होता है है कि 'ब्रह्म परमार्थतः सत्य, ज्ञान एवं आनन्द है या नहीं? यदि प्रथम पक्ष मान्य है तो सत्यात्वादि का अभाव कैसे? यदि नहीं तो यह कहना पड़ेगा कि ब्रह्म परमार्थतः सत्य, ज्ञान एवं आनंद नहीं है। इसे इष्टापत्ति नहीं कहा जा सकता क्योंकि फिर तो ब्रह्म भी घटादि तुल्य ही ठहरेगा।' परन्तु यह सब कथन ठीक नहीं, क्योंकि परमार्थतः ब्रह्म निर्धर्मक परमानन्द बोधरूप है। व्यवहारतः सत्यत्व अनन्तत्वादि धर्मवान् भी है। एतावतापि ब्रह्म में पारमार्थिक सत्यत्वादि नहीं है क्योंकि ब्रह्म परमार्थतः निर्धर्मक है यह कहा जा चुका है। फिर निर्धर्मक में सत्यत्वादि धर्म कैसे हो सकते हैं? फिर भी प्रश्न होता है कि निर्धर्मक ब्रह्म में निर्धर्मकत्व, परमानन्दत्व आदि धर्म होते हैं या नहीं, यदि हैं तो निर्धर्मक ब्रह्म कैसा? यदि नहीं तो निर्धर्मक परमानन्द ब्रह्म की सिद्धि कैसे होगी। परन्तु यह कथन भी व्यर्थ ही है। निर्धर्मक ब्रह्म में निर्धर्मकत्व धर्म नहीं होता क्योंकि ऐसा होने पर व्याघात दोष होगा। जैसे निर्गुण में गुणरूप धर्म नहीं है वैसे निर्धर्मक में कोई भी धर्म नहीं हो सकता। जैसे गुण में गुणान्तर स्वीकार करने से अनवस्था प्रसक्त होता है वैसे ही प्रकृत में भी समझना चाहिये। इसी तरह निर्धर्मक होने से ही ब्रह्म में बोधत्व आनन्दत्वादि धर्म मान्य नहीं होते। निर्धर्मक में धर्मस्थिति व्याहत ही है। सावयव वस्तु की विश्रान्ति किसी निरवयव वस्तु में मान्य होती है। अन्यथा अनवस्था दोष होता है। जैसे घट सावयव है क्योंकि वह कपालद्वय संयोग से निष्पन्न होता है। वह कपाल भी सावयव है क्योंकि मृत्पिण्ड से बनता है। मृत्पिण्ड भी सावयव है क्योंकि वह भी चूर्णपुञ्जमय ही है। चूर्ण भी सावयव है क्योंकि

वह भी त्रसरेणुमय है। त्रसरेणु भी सावयव है क्योंकि वह द्वयणुकों से आरब्ध होता है। द्वयणुक भी सावयव है क्योंकि दो परमाणुओं से वह भी बनता है। वह परमाणु निरवयव है यदि उसे भी सावयव मानेंगे तो अनवस्था प्रसङ्ग होगा। इसी तरह घटादि में भी समझना चाहिये। जैसे घटत्व होता है उसी तरह घटत्व में घटत्वत्व आदि मानने से भी अनवस्था होती है वैसे ही निर्धर्मकत्व की विश्रान्ति भी ब्रह्म में ही है। इस तरह निरवयव निधर्मक ब्रह्म की सिद्धि होती है। स्वमत से निरवयव परमाणु के स्थान में निरवयव ब्रह्म ही सिद्ध होता है। स्वमत में ब्रह्म से अप्यादिक्रमेण घटादि की उत्पत्ति होती है। सविशेष जगत् का पर्यवसान निर्विशेष ब्रह्म में ही होता है।

सांख्यमतानुसार भी जैसे जगत् का अन्तिम मूल अमूल होता है वैसे ही अन्तिम आधार निराधार, अन्तिम विशेष निर्विशेष, अन्तिम प्रकाशक अप्रकाश्य या स्वप्रकाश मान्य होता है। सविशेष पृथ्वी गन्धहीन आपेक्षिक निर्विशेष जल में विश्रान्त होती है, रसादि विशेषवान् जल रसहीन निर्विशेष तेज में पर्यवसित होता है। रूपादि विशेषवान् तेज रूपरहित निर्विशेष वायु में, वायु स्पर्शशून्य आकाश में; आकाश अहं में, अहं महान् में, महान् अव्यक्त में, अव्यक्त अत्यन्त निर्विशेष ब्रह्म में ही विश्रान्त होता है। वह ब्रह्म अपने में ही विश्रान्त है, यदि वह भी सविशेष होता तो पृथिव्यादि के तुल्य उसकी भी किसी अन्य में ही विश्रान्ति होती।

कहा जाता है कि प्रत्यक्षादि प्रमाण तो सविशेष वस्तु में ही प्रवृत्त होते हैं। साथ ही शब्द भी सविशेष वस्तु का ही बोधक होता है। शक्यता लक्ष्यता आदि के बिना शब्द की प्रवृत्ति ही नहीं हो सकती। युक्तियाँ भी सविशेष वस्तु में ही पर्यवसित होती हैं। परन्तु यह सब कथन निराधार ही है क्योंकि सविशेष वस्तु के तुल्य ही निर्विशेष वस्तु में भी प्रत्यक्षादि प्रमाण संगत होते हैं। सुषुप्ति काल में किसी विशेष का ग्रहण नहीं होता। सुषुप्ति काल का प्रत्यक्ष भी निर्विशेष तत्त्व का ही बोधक है। सुषुप्ति काल में 'नाहं किञ्चिदवेदिषम्' सुप्ति में मैं कुछ नहीं जानता था इत्याकारक सुप्तोत्थ स्मरण से सौषुप्त प्रत्यक्षानुभूति का परिज्ञान होता है क्योंकि अनुभव के बिना स्मरण सिद्ध नहीं होता। सुप्ति काल में तुमने किन किन विशेषों को जाना ऐसा पूछने पर मनुष्य ही कहता है कि सुप्ति में मैंने किन्हीं विशेषों को नहीं जाना। सुषुप्ति में विशेषों का अनुभव अनुभवविरुद्ध भी है; हाँ यह विचारणीय अवश्य है कि मैंने सुप्ति में किन्हीं विशेषों का अनुभव नहीं किया, यह वचन क्या अनुभवपूर्वक है या अननुभवपूर्वक ?

पहला पक्ष मान्य है तो किंविषयक अनुभव उक्त वाक्य का मूल है? यदि विशेषाभाव विषयक अनुभव कहा जाय तो भी विचारणीय है कि वह विशेषाभाव साधिकरण है या अनधिकरण? प्रथम पक्ष में भी विचारणीय है कि जहाँ विशेषाभाव अनुभूत हुआ है वह अधिकरण सविशेष है या निर्विशेष? प्रथम पक्ष व्याहत है क्योंकि जो सविशेष है वह विशेषाभाव का अधिकरण कैसे होगा। यदि द्वितीय पक्ष मान्य है तब तो निर्विशेष वस्तु सिद्ध ही है। यदि उक्त वचन अननुभव पूर्वक है तब तो उक्त वचन अप्रमाण ही है। इस तरह सुषुप्त्यादि प्रत्यक्ष से निर्विशेष वस्तु सिद्ध होती है। इसी तरह पूर्वोक्त अनुमान भी निर्विशेष में प्रमाण है।

कहा जाता है निर्विशेष में अनुमान प्रवृत्ति नहीं हो सकती परन्तु उक्त वचन निराधार है क्योंकि ब्रह्म निर्विशेष ही है। सुषुप्ति आदि में ब्रह्म में किसी विशेष का अनुभव नहीं होता। जो निर्विशेष नहीं है उसमें विशेषाभाव का दर्शन नहीं होता। जैसे घट इत्यादि दृष्टान्त से निर्विशेष कि सिद्धि होती ही है। इसी तरह शब्द भी निर्विशेष वस्तु बोधक होता ही है।

कहा जाता है प्रत्यक्ष विरुद्ध अर्थ अनुमान एवं शब्द से नहीं सिद्ध होता। ब्रह्म की सविशेषता प्रत्यक्ष सिद्ध है। जागर में प्रत्यक्ष से ही सविशेषता सिद्ध है। सुप्ति में भी सविशेष ही ब्रह्म रहता है। वहाँ मन आदि करण न होने से विशेषों का स्पष्ट उल्लेख नहीं होता। परन्तु यह भी ठीक नहीं, क्योंकि जिसका सद्भाव गृहीत नहीं उस विशेष के होने में कोई प्रमाण नहीं। यदि अगृहीत होने पर विशेष मान्य हो तब तो शशशृङ्ग का भी सद्भाव माना जाना चाहिये।

कहा जाता है कि शशशृङ्ग तो कभी नहीं गृहीत होता परन्तु ब्रह्म के विशेष तो जागर में गृहीत होते हैं, अतः सुप्ति में भी विशेषों का सद्भाव मानना चाहिये। परन्तु यह ठीक नहीं क्योंकि फिर तो भ्रम काल में गृहीत रज्जु सर्प का भ्रम मिटने पर भी सद्भाव मानना चाहिये।

कहा जाता है कि जागर भ्रम काल नहीं है पर यह ठीक नहीं क्योंकि भ्रम हेतु अज्ञान होने से जागर को भ्रम ही मानना उचित है। कहा जाता है सुषुप्ति में भी अज्ञान तो रहता ही है, ठीक है, परन्तु सुषुप्ति में विक्षेपशक्तियुक्त अज्ञान नहीं रहता। अतएव अन्यथाग्रहणरूप भ्रम नहीं कहा जा सकता।

यदि ब्रह्म सविशेष है तब भी सभी विशेषों का सर्वथा सद्भाव होता नहीं। आगमापायी विशेषों से ब्रह्म भी विकारी होगा परन्तु कूटस्थ प्रतिपादक श्रुतियों

से यह विरुद्ध होगा। यदि सभी विशेष नित्य ही हों तब तो सदा स्रष्टृत्व, सदा संहर्तृत्वादि रहने से सब समय परस्पर विरुद्ध सृष्टि संहारादि कार्य होने चाहिये। इसके अतिरिक्त सविशेष होने से घटादि के तुल्य ब्रह्म में अनित्यता भी प्रसक्त हो सकती है।

कहा जाता है ब्रह्म निर्विशेष नहीं है, नित्यत्वादि विशेषवान् होने से घटादि के तुल्य है। परन्तु यह भी ठीक नहीं क्योंकि दृष्टान्त में नित्यत्वादि विशेष का अभाव होने से ब्रह्मभिन्न किसी भी पदार्थ में नित्यत्वादि विशेष असिद्ध ही है। अतएव कालवत् दृष्टान्त भी असिद्ध है क्योंकि वेदान्त मत में काल भी अनित्य ही है। आत्मवत् दृष्टान्त भी असिद्ध है क्योंकि वह तो ब्रह्मरूप पक्ष से अभिन्न ही है। विशेषवत्वात् यह हेतु भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि ब्रह्म में विशेषवत्व असिद्ध ही है। नित्यत्वादि विशेष भी पक्ष में असिद्ध ही हैं क्योंकि नित्यत्वादि ब्रह्म से भिन्न न होने से विशेष नहीं हैं। नित्यत्व नित्य शब्दार्थ होने से नित्य से अभिन्न ही है। जैसे तच्छब्दार्थ तत्त्व ही तत्त्व होता है वैसे यहाँ भी समझना चाहिये। 'ॐतत्सदिति निर्देशः तत्त्वं नारायणः परः' इत्यादि स्मृति श्रुति से यही मालूम पड़ता है कि तत्त्व और तत् एक ही है। नित्य शब्द नित्यत्ववाची नहीं है यह भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि गवादि शब्द भी गोत्वादि के ही वाचक होते हैं। कहा जाता है जाति में शक्ति माननेवालों के यहाँ यह ठीक भी है परन्तु अद्वैती तो जाति ही नहीं मानता; पर यह कहना ठीक नहीं। व्यक्ति से अतिरिक्त जाति मान्य न होने पर भी अनुवृत्तत्व रूप से व्यक्ति को ही जाति मानने में कोई आपत्ति नहीं। व्यक्ति के ही अनुवृत्त एवं व्यावृत्त दो रूप होते हैं। अनुवृत्तत्व रूप से गोत्व ही व्यक्ति है, व्यावृत्त रूप से गो व्यक्ति है अतः नित्य एवं नित्यत्व दोनों ही व्यक्ति ही हैं। व्यक्ति एक ही है अतः नित्यत्व नित्य से अभिन्न ही है, इसी तरह सत्यत्वादि भी सत्य ब्रह्मरूप ही हैं। श्रुतिसिद्ध एवं अनुभवानुसारी ही तर्क मान्य होता है, तद्विरुद्ध तर्क मान्य नहीं। ब्रह्म का निर्विशेषत्वानुमान श्रुति एवं अनुभव के अनुसार है, सविशेषत्वानुमान उभयविरुद्ध है। इसलिये अनुमान से ब्रह्म की सविशेषता नहीं सिद्ध होती है, 'श्रुतियुक्त्यनुभूतिभ्यो वदतां किन्तुऽःशकम्'।

कुछ लोग कहते हैं कि निर्विकल्पक ज्ञान भी सविशेष विषयक ही होता है। एकजातीय द्रव्य में प्रथम पिण्ड ग्रहण ही निर्विकल्पक ज्ञान है, द्वितीयादि पिण्ड ग्रहण सविकल्पक ज्ञान है। परन्तु यह ठीक नहीं, क्योंकि प्रथम गो पिण्ड ग्रहण के तुल्य ही द्वितीयादि भी गो पिण्ड ग्रहण होते हैं अतः प्रथम भी सविकल्पक

ही है। 'खण्डोऽयम् शुक्लोऽयं मुण्डोऽयं रक्तो गौः' इस तरह नाम जात्यादि सहित होने से प्रथम पिण्ड ग्रहण भी सविकल्पक ही है। जिस ज्ञान में नाम, जाति, गुण आदि विकल्प विषय होते हैं वह सविकल्प और जिसमें उक्त विकल्प विषय नहीं होते वही ज्ञान निर्विकल्प होता है। अतः 'डित्थोऽयं ब्राह्मणोऽयं श्यामोऽयं' इस प्रकार एकजातीय द्रव्य में प्रथम पिण्ड ग्रहण भी सविकल्प ही है। यही तार्किकों ने भी कहा है। विशेषण विशेष्य सम्बन्धानवगाहि ज्ञान ही निर्विकल्प है अर्थात् तदवगाहि ज्ञान सविकल्प है। अद्वैतियों का भी यही कहना है—'संसर्गानवगाहि ज्ञानं निर्विकल्पम्, वैशिष्ट्यावगाहि ज्ञानं सविकल्पम्'।

कहा जाता है लोक में कतिपय विकल्परहित ही ज्ञान प्रसिद्ध है, सर्व विकल्परहित कोई ज्ञान प्रसिद्ध नहीं है फिर अप्रसिद्ध निर्विकल्पक ज्ञान कैसे सिद्ध होगा। परन्तु यह भी ठीक नहीं है, अविद्वानों के लिये सुषुप्ति में, विद्वानों के लिये निर्विकल्प समाधि में निर्विकल्प ज्ञान प्रसिद्ध है।

कहा जाता है 'संसर्गानवगाहि' ज्ञान का कोई करण नहीं हो सकता क्योंकि निर्विकल्प ज्ञान अतीन्द्रिय ज्ञान है। इन्द्रियों से अतीन्द्रिय ज्ञान जन्य नहीं हो सकता। व्याप्ति ज्ञान भी उसका कारण नहीं है क्योंकि ऐसा व्याप्ति ज्ञान भी अदृष्ट है।

कहा जाता है "गौ यह विशिष्ट ज्ञान विशेषण ज्ञान से जन्य होता है, विशिष्ट ज्ञान होने से, दण्डी इस ज्ञान के तुल्य। यह अनुमान निर्विशेष विशेषण ज्ञान का साधक है" पर यह भी ठीक नहीं; क्योंकि सविशेष ज्ञान विशेषण ज्ञान जन्य होता है यह बात अमान्य है। इसके अतिरिक्त विशेषण ज्ञान के निर्विकल्पक होने में कोई प्रमाण नहीं। कहा जाता है 'सविकल्पक बुद्धि विशिष्ट बुद्धि है तो विशेषण बुद्धि को सुतरां निर्विकल्प बुद्धि मानना उचित है।' पर यह भी ठीक नहीं, क्योंकि यदि निर्विकल्पक ज्ञान में विशेषण बुद्धित्व सिद्ध हो तभी सविकल्पक ज्ञान का विशिष्ट बुद्धित्व भी सिद्ध होता है; और इसी तरह सविकल्पक ज्ञान में विशिष्ट बुद्धित्व सिद्ध हो तभी निर्विकल्प में विशेषण बुद्धित्व सिद्ध होता है, इस तरह अन्योऽन्याश्रय दोष होता है। इस तरह विशिष्ट ज्ञान के विशेषण ज्ञान जन्य होने पर भी विशेषण ज्ञान निर्विकल्प ज्ञान नहीं सिद्ध होता है। यह भी नहीं कहा जा सकता कि निर्विकल्पक ज्ञान से ही सविकल्प का उदय होता है, अतः सविकल्पक ज्ञान कार्यरूप लिंग से निर्विकल्पक

ज्ञानरूप कारण का अनुमान होता है। क्योंकि उक्त प्रकार का नियम असिद्ध है। निर्विकल्प ज्ञान भी ज्ञान ही है अतः ज्ञान का करण नहीं हो सकता। इसी तरह शब्द भी निर्विकल्प ज्ञान का करण नहीं हो सकता। क्योंकि प्रकृति प्रत्यय योग से पदत्व सम्पन्न होता है। प्रकृति प्रत्यय दोनों के अर्थों में भेद होता ही है इसलिये पद के द्वारा विशिष्टार्थ का ही प्रतिपादन होता है। पदभेद भी अर्थभेद के ही कारण होता है। अतः पद संघात रूप वाक्य का भी अनेक पदार्थ संसर्ग विशेष ही अर्थ होता है। अतः संसर्गानवगाहि निर्विकल्प ज्ञान शब्द से नहीं उत्पन्न हो सकता। परन्तु अद्वैतवादी की दृष्टि से उपर्युक्त आक्षेपों का समाधान यही किया जाता है कि सविकल्पक प्रत्यक्ष ज्ञान ही इन्द्रियजन्य होता है, निर्विकल्प ज्ञान तो अतीन्द्रिय होता है। यह तार्किकों का ही कहना है। वेदान्त मत में तो निर्विकल्पक ज्ञान के इन्द्रियजन्य होने से प्रत्यक्षत्वानुपपत्ति नहीं होती। निर्विकल्प ज्ञान के प्रति प्रत्यक्ष प्रमाण करण होता है। यदि कहा जाय कि निर्विकल्प प्रत्यक्ष प्रमा का करण तो अन्तःकरण वृत्ति ही है, परन्तु यह ठीक नहीं, क्योंकि फलभूत सभी ज्ञानों में अन्तःकरण वृत्ति ही करण होती है।

कहा जाता है कि इस तरह तो सर्वप्रमाण सांकर्य होगा। परन्तु यह भी ठीक नहीं; वृत्तिभेद से प्रमाणभेद की व्यवस्था उपपन्न हो जाती है। जैसे परमत में प्रत्यक्ष प्रमाण इन्द्रिय के एक होने पर भी चक्षुरादि भेद से भिन्नता होती है वैसे ही प्रकृत में समझना चाहिये। जैसे त्वाच, चाक्षुप, रासनादि प्रत्यक्ष प्रमाओं का जैसे एक ही प्रत्यक्ष प्रमाण करण है, उसी तरह प्रत्यक्षानुमिति आदि प्रमाओं की एक ही अन्तःकरण वृत्ति करण होती है, अतएव प्रमाता प्रमाण प्रमेय त्रिपुटी कहलाता है। प्रमाता अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य है। वृत्त्यवच्छिन्न चैतन्य प्रमाण है। विषयावच्छिन्न चैतन्य प्रमेय चैतन्य है। अज्ञात विषय चैतन्य प्रमेय है। ज्ञात विषय चैतन्य फल कहा जाता है। इस तरह सविकल्प ज्ञान के तुल्य ही निर्विकल्प ज्ञान का भी अन्तःकरण वृत्ति ही करण है।

कहा जाता है भले ही अन्तःकरण वृत्ति निर्विकल्प ज्ञान के प्रति करण हो, वह अन्तःकरण वृत्ति इन्द्रिय द्वारा निर्गत होकर निर्विकल्प ज्ञान का करण बनती है, या व्याप्तिज्ञानरूपा ही वृत्ति करण बनती है, अथवा शब्दज्ञानरूपा। परन्तु यह ठीक नहीं, क्योंकि इन्द्रियानिर्गता वृत्ति ही करण है और वह निर्विकल्प विषयरूपा वृत्ति होती है। यदि कहा जाय कि निर्विकल्प विषय है

ही नहीं, तो यह भी ठीक नहीं, पूर्व में निर्विषय वस्तुतत्त्व प्रतिपादन किया जा चुका है।

कहा जाता है अन्तःकरण निर्विशेषाकार नहीं हो सकता पर यह ठीक नहीं। जैसा विषय होता है वैसे ही अन्तःकरण का आकार बनता है। अतः यदि सविकल्प विषय के अनुसार अन्तःकरण की सविशेषाकारता संभव है तो निर्विशेषाकारता में क्या आपत्ति हो सकती है? इसी लिये विष्णु ध्यान से भक्त का चित्त विष्णुमय हो जाता है।

कहा जाता है जब ब्रह्म निराकार है तब चित्त में ब्रह्माकारता कैसे होगी, पर यह ठीक नहीं क्योंकि चित्त भी निराकार ही है। यदि ब्रह्म का चिदानन्द रूप आकार होता है तो चित्त भी चिदानन्दाकार ही बनता है। कहा जाता है ब्रह्म तो चित्त का अविषय है, फिर चित्त ब्रह्माकार कैसे होगा, परन्तु यह भी ठीक नहीं। संस्कृत चित्त का विषय ब्रह्म होता है यह सिद्धान्त मान्य है। इसलिये निर्विकल्पक ब्रह्मविषयक अन्तःकरणवृत्ति से जन्य निर्विकल्पक ज्ञान होता है। यदि निर्विकल्प ज्ञान वृत्तिज्ञान नहीं किन्तु चैतन्य ही अभीष्ट है तब तो चैतन्य ही ज्ञान है और वह निर्विकल्प है ही और साक्षि चैतन्यरूप ही है। निर्विकल्प अन्तःकरण वृत्ति विचारित वेदान्त वाक्य से ही उत्पन्न होती है। अतः उसमें शब्द ही प्रमाण है।

यहाँ प्रश्न होता है कि 'शब्द ही करण है या शब्दज्ञान करण है?' यदि पहला पक्ष मान्य हो तब तो पुस्तकस्थ शब्द से किसी को ज्ञानोदय होना चाहिये। दूसरा पक्ष भी ठीक नहीं क्योंकि शब्दज्ञान भी ज्ञान ही है अतः वह ज्ञान का करण नहीं हो सकता। पर यह ठीक नहीं, ज्ञान के ज्ञानकरणत्व में कोई आपत्ति नहीं है अतएव व्याप्तिज्ञान से अनुमितिज्ञान होता है। पदार्थज्ञान से वाक्यार्थज्ञान होता है, शब्दज्ञान निर्विकल्प ज्ञान में करण हो सकता है। पदसंघातरूप वाक्य के संसर्गानवगाहि ज्ञानजनन में यद्यपि दोष कहा गया है तथापि ब्रह्माकार वृत्तिजनन में कोई दोष नहीं। यहाँ प्रश्न होता है कि 'तत्त्वमसि' इत्यादि वाक्य श्रुत एवं विचारित होकर संसर्गानवगाहि ज्ञान जनन करके ब्रह्माकार अन्तःकरण वृत्ति पैदा करता है या संसर्गानवगाहि ज्ञान बिना पैदा किये ही? प्रथम पक्ष में उक्त दोष लागू होगा ही क्योंकि पदसंघातरूप वाक्य पदार्थ संसर्ग विषयक ही ज्ञान जनन करेगा। दूसरा पक्ष भी ठीक नहीं क्योंकि ब्रह्माकार वृत्ति वाक्य से कैसे

होगी ?' परन्तु यह सब कथन ठीक नहीं क्योंकि तत्त्वमसीत्यादि वाक्यों से ब्रह्माकार वृत्ति उत्पन्न होना ही वाक्यों की संसर्गानवगाहिजनकता है। पद एवं पद समुदायरूप वाक्य तात्पर्य विषय अर्थ का ही बोधन करते हैं; 'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः' यह न्याय है। शब्द का जिसमें तात्पर्य होता है वही शब्दार्थ होता है। तात्पर्य विषय अर्थसंसर्ग ही हो यह नियम नहीं, अन्यथा 'विषं भुङ्क्ष्व' इस आप्त वाक्य से अनभिमत संसर्ग का भी प्रतिपादन होना चाहिये। 'गङ्गायां घोषः' यहाँ घोष गङ्गा में रह नहीं सकता है अतः संसर्ग यहाँ प्रत्यक्ष बाधित हो जाता है; 'सोऽयं देवदत्तः' यहाँ तत् परोक्ष एवं इदम् अपरोक्ष काल का संसर्ग अयुक्त ही है। अतः तात्पर्य विषय अर्थसंसर्ग ही हो यह नियम नहीं बन सकता। अतः 'प्रकृष्टप्रकाशश्चन्द्रः सोऽयं देवदत्तः' इत्यादि वाक्य स्वरूपमात्र के बोधक होते हैं क्योंकि उतने में ही उनका तात्पर्य है।

जैसे घटः पटः इत्यादि पद घटादि स्वरूपमात्र के बोधक होते हैं उसी तरह 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्य भी ब्रह्मस्वरूप मात्र के बोधक होते हैं, क्योंकि उपक्रमादि लिङ्गों से उसी में इनका तात्पर्य निर्धारित है। अतएव 'गामानय' इत्यादि वाक्यों के समान 'तत्त्वमसि' इत्यादि वाक्यों का संसर्ग रूप कोई अर्थ नहीं प्रतीत होता। अतः पद या वाक्य का संसर्गावगाहिजनकत्व नियम नहीं किन्तु स्वतात्पर्य विषयार्थ ज्ञानजनकत्व ही नियम है। पद या वाक्य अपने तात्पर्य विषय अर्थ का ही ज्ञान उत्पन्न करते हैं यही नियम है। 'विषं भुङ्क्ष्व' इस वाक्य से शत्रुगृह भोजन निवृत्ति रूप अर्थ प्रतीत होता है। यह भुजि प्रकृति या प्रत्यय किसी का भी अर्थ नहीं है किन्तु प्रकृति प्रत्ययार्थ से अतिरिक्त ही अर्थ का बोधक है, भले ही वह अर्थ भी प्रकृत्यन्तरार्थ प्रत्ययान्तरार्थ से विशिष्ट ही हो। परन्तु 'प्रकृष्टप्रकाशश्चन्द्रः' इस वाक्य का तो चन्द्रस्वरूप प्रतिपादन में ही तात्पर्य है। यदि कहा जाय कि यहाँ भी प्रकृति प्रत्यय के योग से आह्लादन क्रिया का कर्ता ही चन्द्र का अर्थ है तो यह ठीक नहीं। चन्द्र शब्द का शब्दशक्ति से वैसा अर्थ होने पर भी वक्ता का उसमें तात्पर्य नहीं है, अतः उक्त वाक्य स्वरूपमात्र पर्यवसायी ही है। इसी तरह घट शब्द का क्या अर्थ है यह पुत्र के पूछने पर पिता अंगुली से निर्दिष्ट करता हुआ कहता है 'अयं घटः' यह घट है, पुत्र जान लेता है। क्या यहाँ प्रकृति प्रत्यय का अर्थ जानकर पुत्र घट समझता है। वस्तुतः पुत्र को वैसा ज्ञान हो भी नहीं सकता और न वक्ता पिता को ही वैसा इष्ट है।

कितने ही वक्ता भी प्रकृति प्रत्यय का अर्थ नहीं जानते अतः भले ही प्रकृति एवं प्रत्यय के अर्थ का भेद हो और भले ही पद विशिष्टार्थ का ही अभिधायी हो तो भी तात्पर्यवशात् स्वरूपमात्रवाची घटादि शब्द होते हैं।

कहा जाता है फिर भी घट पद किसी नाम एवं किसी आकार से विशिष्ट ही अर्थ का बोधक होता है, निर्विशेष अर्थ का बोधक नहीं होता। परन्तु यह भी ठीक नहीं क्योंकि नाम तो पुत्र ने पहले सुना ही है। अतः 'अयं घटः' इस पितृवाक्य का नामविशिष्ट घट प्रतिपादन में तात्पर्य नहीं। अज्ञात अर्थ में ही शब्द का तात्पर्य मानना चाहिये। अतः वस्तुमात्र बोधन में वक्ता का तात्पर्य है। आकारबोधन में भी वक्ता का तात्पर्य नहीं है क्योंकि वह तो प्रत्यक्ष सिद्ध ही है।

कहा जाता है कि "पुत्र ने नाम सुन ही लिया, आकार भी उसके सामने प्रत्यक्ष ही है, अतः दोनों ही अप्रतिपाद्य हैं। केवल वह नाम नामी के सम्बन्ध को नहीं जानता अतः संसर्गबोधन में ही पिता का तात्पर्य है", पर यह ठीक नहीं क्योंकि 'अयं घटः' इस वाक्य से घट शब्द एवं कम्बुग्रीवाद्याकार का संसर्गरूप अर्थ प्रतीत नहीं होता। यदि कहा जाय कि 'घट नाम एवं कम्बुग्रीवाद्याकार विशिष्ट वस्तु की प्रतिपत्ति घट शब्द से होती है तो भी विशिष्टबोधकत्व ही हुआ'। परन्तु यह भी ठीक नहीं, क्योंकि उक्त रीति से घट शब्द के विशिष्ट बोधक होने पर भी दोनों ही विशेषण तो पूर्व से ही ज्ञात हैं। उनके बोधन में वाक्य का तात्पर्य नहीं कहा जा सकता, अतः विशेष्य मात्र बोधन में ही वाक्य का तात्पर्य मानना उचित है।

कहा जा सकता है कि "विशिष्टवाचि पद विशेष्यमात्र परक कैसे माना जाय"? परन्तु तात्पर्यानुपपत्ति से विशिष्टवाचक पद भी लक्षणा से विशेष्य मात्र का प्रतिपादन करता ही है। जैसे परमत में 'घटोऽनित्यः' यहाँ यद्यपि घट पद घटत्वविशिष्ट का वाचक है तथापि अनित्य के साथ अन्वयानुपपत्ति के कारण व्यक्तिभूत घट का ही प्रतिपादन करता है। घटत्व जाति होने से नित्य है। उसका अनित्य के साथ अन्वय नहीं हो सकता। इस तरह 'अयं घटः' इस वाक्य को विशेष्यमात्र पर्यवसायी मानना ठीक है। वह विशेष्य मृत्तिका नहीं क्योंकि मृत्तिका भी किसी का विशेषण ही है किन्तु; मृत्तिका भिन्न घट स्वरूप ही वह विशेष्य है। वह क्या है, कहा जाता है, यह कहना कठिन है; परन्तु क्यों कठिन है? अनुभव नहीं है या वस्तु अनिर्वचनीय है। पहला पक्ष ठीक नहीं, आत्म

सात्विक अनुभव का अपलाप नहीं किया जा सकता। दूसरा पक्ष तो इष्ट ही है। इसी तरह 'पटोऽयम्' यह अनुभव भी निर्विकल्प वस्तु सत्ता में प्रमाण है। अतः निर्विकल्प में कोई प्रमाण नहीं यह कहना मोहमूलक ही है। आनयनादि क्रिया रहित सभी सिद्ध वस्तु के प्रतिपादक विशिष्टार्थ बोधक वाक्य भी तात्पर्यतः विशेष्यभूत वस्तुमात्र पर्यवसायी होता है। वह विशेष्य वस्तु निर्विकल्पक वस्तु ही है। महावाक्य द्वारा उसी का प्रतिपादन होता है। अतएव 'सभी शब्द ब्रह्म के प्रतिपादक हैं' यह भी कहा जाता है। 'वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः', 'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति' इत्यादि श्रुति स्मृति भी ऐसा ही कहती हैं। क्रियापर वाक्यों में भी गौ क्या है यह विचार करने पर गो शब्द भी ब्रह्म में ही पर्यवसित होता है। इस तरह पद एवं पद समूह से तात्पर्य वृत्ति द्वारा ब्रह्म प्रतिपादन संभव है। अभिधा शक्ति अवश्य ब्रह्म में संभव नहीं क्योंकि शब्द प्रवृत्ति, विभिन्न जाति, गुण, क्रिया आदि ब्रह्म में नहीं है।

कहा जाता है ब्रह्म ईश्वर सच्चिदानन्द आदि सब ब्रह्म के ही नाम हैं फिर ब्रह्म नामरहित है ऐसा क्यों कहा जाता है? परन्तु यह ठीक नहीं, क्योंकि परमार्थतः शब्द एवं उसका ब्रह्मवाचकत्व दोनों ही नहीं, व्यवहारतस्तु ब्रह्म के अनन्त नाम हैं ही। सभी नामरूप ब्रह्म में ही कल्पित हैं, जैसे घटादि नाम एवं कम्बुग्रीवादि रूप मृत्तिका में कल्पित है। नामरूप कल्पित ही हैं। अतएव 'मृत्तिकेत्येव सत्यम्' श्रुति में मृत्तिका को ही सत्य कहा गया है। मृत्तिका कारण है, कार्यापेक्षया कारण सत्य है। यही श्रुति का तात्पर्य है। स्वकारण जल की अपेक्षा मृत्तिका भी मिथ्या ही है।

कहा जाता है ब्रह्म नामरहित है इसमें कोई प्रमाण नहीं, परन्तु 'अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययम्' इत्यादि श्रुति स्पष्ट ही ब्रह्म को अशब्द या अनाम कहती है। 'न नामरूपे गुण कर्म एव वा' यह भागवत पद्य भी इसी अर्थ में प्रमाण है। किन्तु यह भी प्रश्न होगा कि जिसका नाम आप कहते हैं वह नाम ही है या नामवाली वस्तु है अथवा नामरहित है। पहला पक्ष ठीक नहीं, नाम का आश्रय नाम नहीं हो सकता, जैसे घटवान् घट नहीं होता। दूसरा पक्ष भी ठीक नहीं, सविशेष का विशेष है या निर्विशेष का इत्यादि प्रश्न के तुल्य ही नामवान् का नाम है तो आत्माश्रय, अन्योऽन्याश्रय दोष होंगे। तृतीय पक्ष तो अनाम वस्तु सिद्ध ही हो गयी। इसी तरह रूप, जाति आदि के सम्बन्ध में भी समझना चाहिये।

कहा जाता है कि फिर नामादि रहित वस्तु में नामादि सहितत्व कैसे होगा ? परन्तु यह ठीक नहीं, जैसे नीरूप गगन में भ्रान्ति से नीलरूप की प्रतीति होती है वैसे ही प्रकृत में भी समझना चाहिये। कहा जाता है तो इस तरह तो सभी वस्तु नामादि रहित ही ठहरेगी। परन्तु यह तो इष्ट ही है। अतएव सब कुछ ब्रह्म ही है।

कहा जाता है निर्विशेष में सर्वत्व भी कैसे बनेगा, पर यह कुछ नहीं, क्योंकि सर्वरूप सब नाम जिसमें कल्पित हैं वही सर्व है। सर्वाध्यास की अधिष्ठानता ही सर्वता है वह भी व्यवहारतः परमार्थतः नहीं; परमार्थतः अधिष्ठान भी नहीं अधिष्ठानता भी नहीं। इस तरह निर्विशेष ब्रह्म है, तद्विषयक ज्ञान ही निर्विकल्प ज्ञान है और वह ज्ञान शब्द से होता है।

कहा जाता है "समाधि में भले ही ब्रह्माकार वृत्ति बन जाय परन्तु सुप्ति में निर्विशेष वृत्ति कैसे होगी ? क्योंकि उस समय तो अन्तःकरण ही नहीं होता।" यह कथन व्यर्थ है, क्योंकि उस समय अविद्या है अतः ब्रह्माकार अविद्या वृत्ति ही होती है। वस्तुतः अविद्या एवं अन्तःकरण की निर्विशेष ब्रह्माकार वृत्ति स्वाभाविक ही होती है। उसके उदय के लिये किसी प्रमाण की आवश्यकता है ही नहीं। यदि कहा जाय कि 'फिर तो वेदान्त व्यर्थ होंगे' परन्तु यह कथन ठीक नहीं, क्योंकि सविकल्पक वृत्ति हटाने के लिये ही वेदान्त का उपयोग है। वही निदिध्यासन का भी उपयोग है। उसी से दर्शन, स्मरणादि वृत्ति रहित चित्त बनता है। इस सविशेषाकारता के हटने पर ब्रह्माकारता चित्त की स्वतः व्यक्त होती है। उस समय आत्मा स्वयं स्फुरित होता है, यही भागवत में कहा है:—

"यदोपरामो मनसो नामरूपस्य दृष्ट स्मृति सम्प्रमोषात्।
य ईयते केवलया स्वसंस्थया हंसाय तस्मै शुचिसद्मने नमः॥"

यद्यपि निर्विशेष वृत्ति सदा ही रहती है परन्तु सविशेष वृत्ति से प्रतिबद्ध होने के कारण वह असती सी लगती है। जैसे मेघाच्छन्न आकाश में रहता हुआ भी अरुण नहीं प्रतीत होता है वैसे ही प्रकृत में भी समझना चाहिये। अथवा यों समझिये कि चित्त का निर्विशेष वृत्ति जनन स्वभाव है। सविशेष वृत्ति से वह स्वभाव प्रतिबद्ध रहता है। कहा जाता है कि यदि समाधि के तुल्य सुप्ति में भी निर्विशेष ब्रह्माकार वृत्ति होती है तब तो सब को ही मुक्त होना

चाहिये, परन्तु यह ठीक नहीं, क्योंकि सुप्त में अज्ञान भी रहता है। इसी लिए सर्वमुक्ति नहीं होती।

कहा जाता है कि "जब उस समय निर्विशेष ब्रह्माकार वृत्ति है ही तब अज्ञान भी क्यों नहीं निवृत्त होता?" परन्तु यह ठीक नहीं, क्योंकि अन्तःकरण वृत्ति में ही अज्ञान की निवृत्ति होती है। अविद्या वृत्ति से यह कार्य नहीं होता। कहा जाता है अन्तःकरण वृत्ति भी तो जड़ ही है परन्तु चैतन्य के प्रतिफलन की महिमा से उस वृत्ति में अज्ञाननिवृत्ति करने की शक्ति होती है। अविद्या की अपेक्षा अन्तःकरण अति स्वच्छ होता है। इसी लिये वहाँ चैतन्य का स्फुट अवभास होता है, जैसे जल की अपेक्षा दर्पण में भी सूर्य का प्रतिबिम्ब अति स्पष्ट होता है। कहा जाता है जब चैतन्य में ही अज्ञान-निवर्तकता नहीं तो उसके प्रतिबिम्ब से वृत्ति में वह सामर्थ्य कैसे होगी। परन्तु जैसे सूर्य के तूलराशि का दाहक न होने पर भी सूर्यकान्ता संश्लिष्ट सूर्य की रश्मियों से तूलराशि का नाश होता है वैसे ही प्रकृत में भी समझना चाहिये। सुप्ति में साक्षिरूप भी ज्ञान है, अविद्या वृत्तिरूप भी ज्ञान है तभी सुप्तोत्थित की स्मृति उपपन्न होती है। सुप्ति में अविद्या वृत्तियों के द्वारा ही साक्षी को आनन्द एवं अज्ञान का अनुभव होता है।

कहा जाता है 'निर्गता विशेषा यस्मात् स निर्विशेषः' इस तरह निर्विशेष भी सविशेष ही ठहरता है। बहुव्रीहि समास के अनुसार निर्विशेष शब्द अन्य पदार्थवाची होता है। परन्तु यह तो अद्वैती मानता ही है कि विशेषरहित अन्य पदार्थ को ही निर्विशेष शब्द कहता है। जिससे विशेष निकल गये हों उसे सविशेष नहीं ही कहा जा सकता। इसी तरह कहा जाता है यदि प्रत्यय सविशेष विषय न होगा तो उसमें प्रत्ययत्व ही न रहेगा। परन्तु इसी तरह यह भी कहा जा सकता है कि यदि निर्विकल्प ज्ञान सविशेष विषयक होगा तो उसमें निर्विकल्पत्व भी न रहेगा।

कहा जाता है कतिपय विकल्पराहित्य होने मात्र से निर्विकल्पत्व बन जायगा; परन्तु यह ठीक नहीं, क्योंकि इस स्थिति में निर्विकल्प सविकल्प दोनों शब्दों का पृथक् अर्थ ही न रह जायगा। यदि कहा जाय कि सर्व विकल्प सहित सविकल्प है, कतिपय विकल्परहित निर्विकल्प है; पर यह भी ठीक नहीं, क्योंकि सर्व विकल्प सहित कोई वस्तु होती ही नहीं, एक घट में सब विशेष कहाँ रहते हैं? घट में ज्ञातृत्वादि विशेष नहीं है, जीव में जड़त्वादि नहीं, ईश्वर में दुःखादि नहीं होते, प्रत्युत यही कहा जा सकता है कि सर्व विशेषों का आस्पद ब्रह्म ही है।

यद्यपि निर्विशेष में सविशेषत्व नहीं बनता तथापि माया से सब कुछ संभव है ही। इस तरह कतिपय विकल्प सहित ही घटादि सविकल्प वस्तु है, वही सविकल्प ज्ञान में विषय होता है। अतः कतिपय विकल्परहित ज्ञान ही निर्विकल्प ज्ञान है यह कथन निःसार ही है।

कहा जाता है फिर सविशेष विषय न होने से प्रत्यय प्रत्यय ही न रहेगा। इसका क्या समाधान है? पर यह भी तो कहा जा सकता है कि यदि प्रत्यय निर्विशेष विषयक न हो तो भी प्रत्यय का प्रत्ययत्व न रहेगा। फिर भी कहा जाता है 'प्रतीयतेऽनेनेति प्रत्यय' इस व्युत्पत्ति के अनुसार पदार्थ प्रतीत हो जिससे वही प्रत्यय है। निर्विकल्प प्रत्यय से तो किसी की भी प्रतीति नहीं होती इसलिये निर्विकल्प प्रत्यय में प्रत्ययत्व की हानि होती है। परन्तु सविकल्प प्रत्यय में भी यही बात कही जा सकती है। यदि कहा जाय कि सविकल्प प्रत्यय से घटादि सविकल्प वस्तु की प्रतीति होती ही है तो यह भी कहा जा सकता है कि निर्विकल्प प्रत्यय से भी निर्विकल्प वस्तु प्रतीत होती है। पर कहा जा सकता है कि निर्विकल्प में तो प्रतीयमानत्व ही नहीं होता, यदि प्रतीतत्व हो तब तो उसी प्रतीयमानत्वरूप विकल्प से युक्त होने के कारण वह सविकल्प ही होगा।

यद्यपि यह ठीक है कि स्वप्रकाश होने से निर्विकल्प वस्तु में प्रतीयमानत्व नहीं होता तथापि निर्विकल्प वस्तु को ढाँकनेवाले अज्ञान का नाश निर्विकल्प वस्त्वाकार वृत्ति से ही होता है। इसी लिये निर्विकल्प वस्तु भी उपचार से वृत्तिवेद्य कही जाती है। इसी लिये 'मनसैवानुद्रष्टव्यम्' इत्यादि श्रुति ब्रह्म को मनोवेद्य कहती है। फलव्याप्य न होने से मनोवचनातीत भी वही वस्तु कही जाती है। वृत्तिप्रतिफलित चैतन्यव्याप्यता ही फलव्याप्यता है, यह जड़ में ही होती है। ब्रह्म तो स्वतः भासमान होता है अतः उसमें वह नहीं होती। यही बात 'तमेवभान्तमनुभाति सर्वम्' से कही गयी है। फिर भी सूर्य में उलूक अनुभव-सिद्ध अन्धकार के तुल्य स्वतो भासमान ब्रह्म में ही अज्ञानावरण माना जाता है। इस तरह निर्विकल्प वस्तु भी वृत्तिवेद्य है अतः निर्विकल्प बोधक वृत्ति में प्रत्ययत्व उपपन्न ही है। कहा जाता है कि यदि ब्रह्म में वृत्तिव्याप्यता है तब तो वह सविकल्प ही हो गया। परन्तु यह ठीक नहीं, परमार्थतः वृत्ति एवं वृत्ति-व्याप्यता दोनों ही नहीं हैं अतः निर्विकल्पत्व की हानि नहीं होती, व्यवहारतः सविकल्पकत्व ब्रह्म में मान्य ही है। किञ्च अयं घटः इस अनुभव को प्रतिवादी यद्यपि सविकल्प ही मानता है परन्तु वह भी निर्विकल्प में ही पर्यवसित होता है यह पीछे कहा ही जा चुका।

कहा जाता है सविकल्पक प्रत्यय में निर्विकल्पक प्रत्ययानुभूत अर्थविशिष्ट की प्रत्यभिज्ञा होती है अतः निर्विकल्प ज्ञान भी सविशेष विषयक ही होता है। पर यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि वस्तुतः प्रमाता, प्रमाण और प्रमेय यह त्रिपुटी जिस ज्ञान में भासित होती है वही ज्ञान सविकल्प होता है। जैसे 'घटमहं जानामि' इस ज्ञान में घट प्रमेय, जानामि प्रमाण, अहं प्रमाता भासित होता है। अतः यह सविकल्प ज्ञान है, उससे भिन्न ज्ञान निर्विकल्प है। इदमित्थं रूप से उसका निर्वचन नहीं होता है। निष्प्रकारक ज्ञान दुर्वच होता है। किसी प्रकार भी निर्वचन विशिष्ट का ही होता है। इसी लिये 'अतीन्द्रियं ज्ञानं निर्विकल्पम्' यह तार्किकों का कहना है। मनसा, वाचा, अचिन्त्य अवाच्य ही अतीन्द्रिय ज्ञान है। तार्किक मत में मन भी इन्द्रिय ही है। अतीन्द्रिय ज्ञान में विषयभूत अर्थ अगर किसी विशेषण से विशिष्ट हो तब तो अवश्य ही इदं इत्थं रूप से वाच्य ही हो सकता है। अतएव सुप्तोत्थित का प्रत्यभिज्ञान सविकल्प ही है। क्योंकि उसमें 'सुखमहमस्वाप्सम्, न किञ्चिदवेदिषम्, मामप्यहं नाज्ञासिषम्' त्रिपुटी भासित होती है।

ज्ञान का निर्विकारत्व

अद्वैत अनन्त एक ज्ञान ही ब्रह्म है। वही लौकिक ज्ञानों के रूप में प्रस्फुरित होता है। इतना ही क्यों वही सम्पूर्ण प्रपञ्चरूप में भी प्रस्फुरित होता है। फिर भी आरोपित प्रपञ्च से अनारोपित ब्रह्म या ज्ञान लौकिक ज्ञानों से वैसे ही पृथक् करके समझना है जैसे मुञ्जसे इषीका निकाला जाता है। वृत्ति के संसर्ग से वृत्तिगत उत्पत्ति आदि वृत्तिव्यक्त स्फुरण में भी प्रतीत होते हैं। आरोपित धर्मों को बाधित कर देने पर अनारोपित ज्ञान ब्रह्म स्वरूप ठहरता है। योगवाशिष्ठकार का कहना है कि अपार अपरिच्छिन्न ज्ञान स्वरूप ब्रह्म समुद्र में मनाक् मननी शक्ति के योग से मन का आविर्भाव होता है—

"स आत्मा सर्वगोराम नित्योदितवपुर्महान्।
समनाङ्मननीं शक्तिं धत्ते तन्मन उच्यते॥"

इसी लिए कहा जाता है कि अखण्डज्ञान में विषयों का अध्यास ही चित्त है विषयाध्यास तकार को हटा देने पर चित्त चित् (अखण्ड ज्ञान) ही हो जाता है— 'चित्तं चिद्विजानीयात्तकाररहितं यदा'। इसी तरह अनुमानों के आधार पर वेदान्तवेद्य ब्रह्म को अद्वैती निर्विकार सिद्ध करते हैं यह भी कल्पना सर्वथा निराधार है। अद्वैतियों के अनुसार सोपाधिक ब्रह्म सर्व लौकिक प्रमाणों का गोचर होता हुआ भी निर्विकार, निरुपाधिक, अशेषविशेषातीत ब्रह्म वेदान्तवेद्य ही है। जैसे चक्षुर्मात्रगम्य रूप को चाक्षुष कहा जाता है उसी तरह उपनिषन्मात्र-गम्य होने के कारण ब्रह्म औपनिषद् पुरुष कहा जाता है। फिर भी ब्रह्म विद्या अनुभवावसाना होती है अतः शास्त्रैकगम्य अर्थ को बुद्धया रूढ़ करने के लिए उपपत्तियाँ भी अपेक्षित होती हैं। इसी लिए 'श्रोतव्यः' से उपक्रमादि षड्विध लिङ्गों द्वारा उपनिषदों का ब्रह्म में तात्पर्यनिर्धारणरूप विचार का विधान है। 'मन्तव्यः' से श्रुत अर्थ का श्रुत्यविरुद्ध तर्कों द्वारा व्यवस्थापनरूप मनन का विधान है। 'निदिध्यासितव्यः' से श्रुत एवं व्यवस्थित अर्थ का विजातीय प्रत्ययानन्तरित सजातीय प्रत्यय प्रवाहरूप ध्यानाभ्यास विहित है। इस तरह मनन निदिध्यासनरूप अङ्गों से युक्त श्रवण ही ब्रह्मानुभूति का हेतु होता है।

इसी लिए अनुमानादि का प्रयोग नित्यत्वादि सिद्धि में किया जाता है। इस दृष्टि से ज्ञानों में स्वप्रकाशत्व, अनुत्पन्नत्व, निर्विकारत्व, अनानात्व, आत्मत्व आदि सिद्ध करना युक्त ही है। लौकिक ज्ञानों में विषयप्रकाशकत्व प्रसिद्ध ही है। ज्ञान के स्वप्रकाश होने से ही विषय का प्रकाश सिद्ध होता है। अवेद्य होकर अपरोक्ष होने से ही ज्ञान का स्वप्रकाशत्व सिद्ध है।

ज्ञान दो प्रकार का होता है, एक सोपाधिक या साभास वृत्तिरूप और दूसरा निरुपाधिक ब्रह्मरूप। पहले की ही उत्पत्ति आदि होती है दूसरे की नहीं, यह विस्तार से कहा गया है। उपाधिबाधित होने पर सोपाधिक ज्ञान भी निरुपाधिक ब्रह्म ही ठहरता है। उपाधिरहित ज्ञान में ही वेदान्ती अनुत्पन्नत्व, निर्विकारत्व आदि सिद्ध करते हैं। उनमें स्वरूपा सिद्धि आदि दोष दिखाना निरर्थक प्रयास है। प्रतिवादी के ही मत में आत्मधर्मभूत ज्ञान नित्य भी है और उसमें अनुभवत्व, स्मृतित्व, परोक्षत्व, अपरोक्षत्व आदि अवस्थारूप विकार भी होता है परन्तु दार्शनिकों की दृष्टि से विकारी सभी अनित्य ही होता है। एक में अनेकत्व, नित्य में विकारित्व बिना भ्रान्ति के नहीं हो सकता। उत्पत्ति-विनाशवाला सब ज्ञान साभास वृत्तिरूप है, वह शुद्ध ब्रह्म नहीं है यह मान्य ही है। उसी आत्मधर्म का व्यवहार बन सकता है, वही ज्ञान आश्रय विषय-सापेक्ष हो सकता है, ब्रह्मरूप ज्ञान निराश्रय, निर्विषय मान्य ही है। वेदान्तवेद्य ब्रह्म ज्ञान स्वरूप ही है। उसमें द्रष्टृत्व ज्ञातृत्व का व्यवहार वैसे ही औपचारिक है जैसे आदित्य में प्रकाशकत्व का व्यवहार। स्वरूपभूत नित्य प्रकाश के द्वारा आदित्य प्रकाशक कहा जा सकता है, वैसे ही स्वरूपभूत नित्य प्रकाश के द्वारा आत्मा भी द्रष्टा कहा जा सकता है। अन्य में वास्तविक द्रष्टृत्व नहीं होने से वही मुख्य द्रष्टा भी माना जाता है। जैसे तरङ्गादि कार्यों की स्थिति गति समुद्र के परतन्त्र होती है उसी तरह चेतनाचेतन सर्व प्रपञ्च की स्थिति गति ब्रह्म के परतन्त्र होती है। इसी लिए सप्रपञ्चावस्था में ब्रह्म चेतनाचेतन का अन्तर्यामी एवं चिदचिद्विशिष्ट या चिदचिच्छरीरक कहा जा सकता है। किन्तु सभी प्रपञ्च वाचारम्भण होने से कार्य हैं और कार्य होने से अनित्य एवं अनृत हैं, अतः सदा ही ब्रह्म सप्रपञ्च नहीं रहता, इसी लिए वह सदा विशिष्ट भी नहीं रहता। सभी कार्यों को कारण से अनन्य कहा गया है, अर्थात् कारणातिरिक्त कार्य को मिथ्या कहा गया है, कारण को ही सत्य कहा गया है। अवान्तर कारणों में भी 'मृत्तिकेत्येव सत्यम्' सत्यत्व कहा गया है, परन्तु परम कारण परमेश्वर में ही मुख्य सत्यत्व होता है। इसी लिए 'सदेव सत्यम्' कहा गया है, अतः यावत्पर्यन्त शुद्ध ब्रह्म

का प्रबोध नहीं होता तब तक ही ब्रह्म की सप्रपञ्चता मान्य है। तत्त्वप्रबोध होने पर अशेष विशेषातीत ही तत्त्व ठहरता है। प्रकृति और पृथ्वी के दृष्टान्त से कहा जाता है कि जैसे वे विकारवान् होने पर भी नित्य हैं वैसे ही ज्ञान विकारवान् होने पर भी नित्य हो सकता है। परन्तु यह ठीक नहीं, प्रकृति एवं पृथ्वी भी नित्य नहीं है, ब्रह्मातिरिक्त सब विनश्वर है—'अतोन्यदार्तम्'-श्रुति। तभी तो 'एकमेवाद्वितीयं', 'नेहनानास्ति किञ्चन' आदि श्रुतियाँ ब्रह्म को सजातीय विजातीय स्वगतभेदशून्य कहती हैं।

उत्पत्ति षड्विध भाव विकारों का उपलक्षण है। जिसकी उत्पत्ति न भी होती हो किन्तु विनाश होता हो वह भी सविकार ही है। जिसमें जायते, अस्ति, वर्धते, विपरिणमते, अपक्षीयते, विनश्यति ये विकार होते हैं, वह विकारी एवं अनित्य ही होता है। प्रकृति में विकार होने से वह भी अनादि होते हुए भी सांत ही है। परिणामिनी होने के कारण उत्पत्ति विनाशशालिनी होने पर भी अविच्छिन्न प्रवाहवती होने के कारण ही प्रकृति अनादि कही जाती है। प्रतिवादी ईश्वर में भी संकल्प आदि को विकार रूप में मानते हैं और उन विकारों को गुण मानकर सन्तोष कर लेते हैं, परन्तु विकार तो स्वयं ही दोष है। कई लोग 'अकायम्' का अर्थ करते हैं कि ईश्वर का देह सदोष नहीं निर्दोष होता ही है, पर इस तरह 'अव्रणम्' का भी यही अर्थ करना होगा कि ईश्वर में सदोष नहीं निर्दोष व्रण है। यों व्यावहारिक दृष्टि से जैसे ईश्वर में देह श्रुत है वैसे ही संग्राम आदि के प्रसंग से व्रण भी श्रुत है, पर वस्तुतः नित्य, निर्विकार ईश्वर में ही माया या लीला से अवास्तव ही विकार भासित होते हैं। 'अज' परमेश्वर में माया से ही जन्म आदि भी भासित होते हैं। 'अकाय' में भी अचिन्त्य दिव्य लीला शक्ति के योग से देहवत्ता की प्रतीति होती है। निष्कर्ष यह कि नित्य, निर्विकार, सच्चिदानन्द ब्रह्म ही दिव्यलीला शक्ति से भक्तप्रेमपरवश होकर अदेह होता हुआ भी देहवान्, निर्विकार होता हुआ भी विकारवान् प्रतीत होता है, जैसा कि श्री तुलसीदासजी ने कहा है—

> व्यापक ब्रह्म निरञ्जन, निर्गुण विगत विनोद।
> सोइ अज भक्त प्रेमवश, कौशल्या की गोद॥

सांख्य, योग, वेदांत, सभी दर्शन पुरुष को असङ्ग निर्विकार एवं चेतन मानते हैं। प्रकृति एवं प्रकृति बुद्धि द्वारा ही सब विकार, व्यवहार उपपन्न होता

है। परन्तु पुरुष में, तत्रापि ईश्वर में स्वाभाविक विकार मानना और उसे गुण मानना यह संगत नहीं है। परमेश्वर की दिव्य अचिंत्य शक्ति के योग से निर्गुण ब्रह्म वैसे ही सगुण साकार बनता है जैसे शैत्य के योग से जल बर्फ बन जाता है। हिम (बर्फ) यद्यपि जल ही है तथापि शैत्य उपाधि के द्वारा ही वह विकार है। विकार का पर्यवसान उपाधि में ही है। उसी तरह सगुण, साकार भगवान् शुद्ध, निर्गुण, निर्विकार ब्रह्म ही है। विकार का पर्यवसान उस शक्ति में ही है, उपहित निर्विकार ब्रह्म में नहीं। वह शक्ति परम शुद्ध भगवान् की दिव्य अन्तरङ्ग शक्ति है। वह भगवान् के समान सत्तावाली नहीं है। सर्वापेक्षया उत्कृष्ट होने पर भी भगवान् की अपेक्षा किञ्चित् न्यून सत्तावाली है इसी लिये वस्तुतः ब्रह्म में निर्विकारता, निर्विशेषता, अद्वितीयता तथा शुद्धता बनी रहती है।

आत्मा उत्पाद्य, आप्य, संस्कार्य, विकार्य नहीं है—'अविकार्योऽयमुच्यते'। फिर आत्मा को विकार्य सिद्ध करने का प्रयत्न करना कहाँ तक ठीक है यह विचारणीय है।

'भवो निरोधोस्थितिरप्यविद्यया कृता यतस्त्वय्यभयाश्रयात्मनि।'

औपाधिक ज्ञानभेद

कहा जाता है कि ज्ञान का आश्रय ज्ञाता (अहमर्थ) तथा विषय घटादि के भेद से ज्ञान का भेद ही मानना चाहिये। यदि ज्ञानभेद को घटाकाश मठाकाश के भेद के तुल्य औपाधिक भेद माना जाय तो संयोगभेद, क्रियाभेद तथा इच्छादि भेद का भी औपाधिक भेद मानना पड़ेगा। परन्तु यह किसी को भी मान्य नहीं है। अद्वैती भी पटद्वय के संयोग से घटद्वय संयोग को भिन्न ही मानते हैं। इसी तरह मोक्षकामना और पुत्रादिकामना को सभी भिन्न ही मानते हैं। इस भेद को औपाधिक भेद कोई नहीं मानता है। इसी प्रकार गमनादि क्रिया भेद भी स्वाभाविक ही माना जाता है। यहाँ यह कोई नहीं मानता कि संयोग, इच्छा तथा क्रियादि एक ही वस्तु है। उसमें उपाधिभेद से संयोगादि भेद होता है। काम्य पदार्थों के भेद से कामना का भेद, संबन्धि-भेद से संयोग का भेद, गन्ता गन्तव्य आदि के भेद से गमनादि क्रिया का भेद औपाधिक भेद होता है। जहाँ सम्बन्धी सत्ता का हेतु होता है, वहाँ भेद वास्तविक होता है। जैसे संयोग, इच्छा तथा गमनादि क्रिया संबन्धियों से उत्पन्न होती हैं। जहाँ सम्बन्धि अभिव्यक्ति के ही हेतु होते हैं वहाँ भेद औपाधिक होते हैं। जैसे घटादि घटाकाश आदि के उत्पत्ति के हेतु नहीं हैं किन्तु अभिव्यक्ति के ही हेतु हैं। क्योंकि घटादि के बिना भी आकाश की सत्ता प्रमाणित है। परन्तु घटद्वय, पटद्वय इत्यादि सम्बन्धी पदार्थों के पहले घटद्वय संयोग की सत्ता प्रमाणित नहीं है। जैसे घटाभाव काल में आकाश रहता है वैसे ही घटद्वय के अभाव में घटद्वय संयोग की सत्ता प्रमाणसिद्ध नहीं होती। इसी तरह गन्ता गन्तव्य के बिना गमन क्रिया की सत्ता भी प्रमाणित नहीं होती। इसी तरह ज्ञाता और ज्ञेय के बिना ज्ञान क्रिया भी प्रमाणित नहीं होती, क्योंकि निर्विषय और निराश्रय ज्ञान की सत्ता अत्यन्त अप्रसिद्ध ही है। अतः ज्ञान, इच्छा, क्रिया आदि का भेद स्वाभाविक ही है। गन्ता, गमन, छेदक, छेद्य आदि के भेद से गमन, छेदनादि क्रिया के समान ज्ञानादि ज्ञाता एवं ज्ञेय के भेद से भिन्न ही हैं। परन्तु यह सब कथन ठीक नहीं है. क्योंकि जैसे प्रकाश के अभिन्न होने पर भी प्रकाश्यभेद से औपाधिक प्रकाशभेद मान्य है वैसे ही ज्ञान के एक होने पर भी ज्ञेयादि भेद से ज्ञान का औपाधिक भेद

मान्य है। गन्ता आदि के बिना जैसे गमन क्रिया की सत्ता असिद्ध है वैसे ही विषयादि के बिना ज्ञान की सत्ता असिद्ध नहीं कही जा सकती, किन्तु आकाशादि के तुल्य ज्ञाता एवं ज्ञेय के न रहने पर भी समाधि एवं मुक्ति दशा में नित्यज्ञान सिद्ध है। पीछे कहा ही गया है कि 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' श्रुति के अनुसार ज्ञान स्वरूप आत्मा नित्य है। प्रतिवादी भी नित्य आत्मा को ज्ञान स्वरूप मानता है। यह अन्य बात है कि वह ज्ञान का आश्रय भी है। हाँ वृत्तिरूपज्ञान ज्ञाता एवं ज्ञेय के अधीन होता है। अतः उसका स्वाभाविक भेद मान्य है ही। परन्तु ज्ञाता अहमर्थ ज्ञानवृत्ति ज्ञेय विषय का भासक नित्यज्ञान रूप आत्मा नित्य सिद्ध है ही। 'त्रितयं तत्र यो वेद स आत्मा' (श्रीमद्भागवत)। सबकी सत्ता अनुभवाधीन है परन्तु अनुभव की सत्ता अन्याधीन नहीं होती, प्रत्युत अनुभव स्वतःसिद्ध स्वप्रकाश मान्य होता है। इन्द्रियादि के न रहने पर भी स्वाप्निक घटादि प्रत्यक्ष ज्ञान होता ही है। यदि अबाधित ज्ञान के सम्बन्ध में विषय सम्बन्ध अनिवार्य कहा जाय तो यह भी ठीक नहीं, क्योंकि घटादि ज्ञान भी वस्तुतः बाधित ही होते हैं। वस्तुतः जैसे मृत्तिका के रहने पर ही घटादि का उपलम्भ होता है, वैसे ही प्रतीति होने पर ही विषयोपलम्भ होता है अतः प्रतीतिमात्र ही विषय है। फिर विषयाधीन प्रतीति की सत्ता कैसे कही जा सकती है? वस्तुतस्तु प्रतिवादी भी धर्मभूत ज्ञान को एक मानता हुआ स्मृतित्वादि अवस्थाभेद से ही उसका भेद मानता है। यदि भेद मानना हो तो नैयायिकों के समान रूपादि ज्ञानों का स्वतःसिद्ध ही भेद मानना चाहिये। धर्मभूत ज्ञानरूप से अभिन्न एवं स्मृतित्वादि धर्मरूप से भिन्न मानने में अनेकान्तवाद की प्रसक्ति होगी अतः इस अर्धजरतीय को छोड़कर श्रुतिप्रमाण के अनुसार ज्ञान को नित्य ही मानना ठीक है। नित्य में अवस्थाभेद बन नहीं सकता अतः उपाधिभेद से ही भेदव्यवस्था करनी उचित है। यदि -'तदस्य हरति प्रज्ञाम्', 'तेनास्य क्षरति प्रज्ञा दृतेः पात्रादिवोदकम्', 'प्रज्ञा प्रसृता पुराणी' इत्यादि प्रमाणों के अनुसार ज्ञान का विकास सङ्कोच या उत्पत्ति विनाश माना जाय तो ज्ञान की नित्यता कथमपि सिद्ध नहीं हो सकेगी। यदि 'सत्यं ज्ञानमनन्तं' के अनुसार ज्ञान नित्य माना जाय तो उसकी उत्पत्ति आदि नहीं बन सकेगी। प्रकृति, पृथ्वी आदि ब्रह्मभिन्न सब पदार्थ अनित्य ही हैं अतः उनके दृष्टान्त से ज्ञान में नित्यता अनित्यता दोनों का समन्वय नहीं हो सकता। जो परिणामी हैं वे अवश्य अनित्य हैं। अमुक पदार्थ देखा जाता है अमुक नहीं देखा जाता इससे ज्ञान की अनित्यता सिद्ध

नहीं होती, किन्तु विषयविशिष्ट प्रकाश की ही आगन्तुकता प्रतीत होती है। विषयाकार वृत्ति की अनित्यता से ही नित्यज्ञान में भी अनित्यता भ्रम होता है। वृत्तिज्ञान के ही विकास एवं सङ्कोच या स्फुरण का भ्रम नित्य बोध में होता है। वृत्तिभेद बोधभेद का नियामक है, इसी लिये एक ज्ञान में सब विषय का स्पष्टोल्लेख नहीं होता है। वैसे ही एक अखण्ड बोध में ही सब अर्थ अध्यस्त होकर भासित होते हैं यह सब प्रमाणों से सिद्ध ही है।

"ज्ञानमेकं पराचीनैरिन्द्रियैर्ब्रह्म निर्गुणम्।
अवभात्यर्थरूपेण भ्रान्त्या शब्दादि धर्मिणा॥"

अहङ्कार की अभिव्यञ्जकता

अहङ्कार चित् का अभिव्यञ्जक होता है। कहा जाता है कि "अभिव्यक्ति पदार्थ क्या है ? उत्पत्ति अभिव्यक्ति नहीं कही जा सकती है क्योंकि चित् स्वतः सिद्ध है, उसकी उत्पत्ति अमान्य ही है। प्रकाशन अभिव्यक्ति है यह भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि अद्वैती संविद् को अनुभाव्य नहीं मानते। इसी लिये अनुभव साधनों का अनुग्रह अभिव्यक्ति है यह भी नहीं कहा जा सकता। अनुभव के साधन दो प्रकार के होते हैं करणभूत एवं कर्तृभूत। परन्तु उन दोनों में अहङ्कार के द्वारा कोई अनुग्रह नहीं हो सकता।" परन्तु यह कथन असंगत है क्योंकि उत्पत्ति ही अभिव्यक्ति मानें तो भी कोई दोष नहीं। यद्यपि संविद् स्वतः सिद्ध है तथापि वृत्त्यवच्छिन्न रूप से उसकी उत्पत्ति मान्य है। इसी तरह प्रकाशन भी अभिव्यक्ति मानी जा सकती है। सामान्याकारेण भासमान संविद् अहङ्कार के सम्बन्ध से विशेषाकारेण भासमान होती है। अहङ्कार के सम्बन्ध से साभास अहङ्काररूप से संविद् भासने लगती है। आत्मदर्शन साधन, चित्त की एकाग्रता संपादन द्वारा साभास अहङ्काररूप प्रमाता अनुभवसाधन का अनुग्राहक होता है। आत्मदर्शन के इच्छुक साधक को चित्त को शुद्ध करके एकाग्र बनाना पड़ता है। कहा जाता है 'आत्मा अतीन्द्रिय है फिर आत्मदर्शन में करण क्या हो सकता है' ? परन्तु यह ठीक नहीं, क्योंकि अतीन्द्रिय होने पर भी आत्मा मनोवेद्य है। मन अनिन्द्रिय ही है, वेदान्तपरिभाषा आदि ग्रंथों में यह स्पष्ट है। कहा जाता है 'अनुभूति को अनुभाव्य मान भी लिया जाय तो भी अहमर्थ के द्वारा अनुभव साधन का अनुग्रह नहीं हो सकता, क्योंकि अनुग्रह का प्रकार यही है कि रूपादिग्रहण की उत्पत्ति का विरोधी तम होता है। दीपादि उस तम का निरसन करके रूपादिग्रहण का अनुग्राहक होता है। इस तरह अनुभाव्य की अनुभवोत्पत्ति का विरोधी कोई प्रसिद्ध नहीं, फिर किसका निरसन करके अहङ्कार अनुभवसाधन का अनुग्रह करेगा ? कहा जा सकता है कि अज्ञान ही ज्ञानोत्पत्ति का विरोधी है। परन्तु वह तो ज्ञाननिवर्त्य है, अहङ्कार के द्वारा निवर्त्य नहीं होता।' परन्तु यह सब कथन निःसार है। एकाग्रचित्त आत्मदर्शन का साधन है। 'दृश्यतेत्वग्रया बुद्ध्या' श्रुतिः। अनन्त जन्म सञ्चित पुण्यापुण्यरूप दुरित ही लय विक्षेप का जनक होने से चित्त की एकाग्रता का बाधक है।

साभास अहङ्काररूप प्रमाता के द्वारा ईश्वरभक्ति आदि द्वारा उसी दुरित का निवर्हण किया जाता है। साथ ही जैसे घटज्ञान में घटावरक अज्ञान की निवृत्ति अपेक्षित होती है वैसे ही आत्मज्ञान में भी आत्मावरक अज्ञान की निवृत्ति अपेक्षित होती है। तदर्थ ज्ञातारूप अहङ्कार के द्वारा वृत्तिज्ञान उत्पन्न किया जाता है। वह ज्ञान स्वतः नहीं उत्पन्न होता। इस तरह संविद्रूप आत्मा के आवरक अज्ञान के निवर्तक ज्ञान का कर्ता होने से अहमर्थ आत्मानुभव साधन का अनुग्राहक है ही।

कुछ लोग कहते हैं कि "जो ज्ञान का आश्रय होता है वही अज्ञान का भी आश्रय होता है, क्योंकि ज्ञान एवं अज्ञान का विषय आश्रय समान ही होता है। जो घटादि ज्ञान के आश्रय नहीं हैं वे अज्ञान के भी आश्रय नहीं होते। अद्वैत मत में संविद् ज्ञान स्वरूप ही है, वह ज्ञान का आश्रय नहीं। फिर वह अज्ञान का भी आश्रय कैसे होगी।" परन्तु ऐसा मान लिया जाय तो भी कोई हानि नहीं, संविद्रूप आत्मविषयक ज्ञान अज्ञान दोनों तो मान्य ही हैं। मुझे आत्म साक्षात्कार नहीं है, मुझे आत्म साक्षात्कार है, ऐसा अविद्वान् एवं विद्वान् को अनुभव होता है। ये ज्ञान तथा अज्ञान कर्ता अहङ्कार के आश्रित रहते हैं। वह ज्ञान का आश्रय है। अतः अज्ञान का भी आश्रय वही होता है। इस तरह अहङ्काराश्रित ज्ञान का विषय होने से आत्मा में जैसे विदितत्व का व्यवहार होता है वैसे अहङ्काराश्रित अज्ञान का विषय होने से आत्मा में अविदितत्व व्यवहार भी बनता है। यही अज्ञानविषयता ही अज्ञानावृतत्व है। इस तरह संविद् के अज्ञानाश्रय न होने पर भी अहङ्काराश्रित अज्ञान का विषय होने से ही अज्ञानावृतत्व का व्यवहार बनता है। फिर भी कई आचार्य शुद्ध चैतन्य को ही अज्ञान का आश्रय कहते हैं। अनादि अज्ञान किसी कार्यभूत वस्तु के आश्रित नहीं हो सकता; अतएव 'अहङ्काराश्रित अज्ञान है' इस कथन का भी यही अर्थ है कि अहङ्कारावच्छिन्न चैतन्य के आश्रित ही अज्ञान है और वह अज्ञान चैतन्य विषयक भी है। घटादि अज्ञान के विषय न होकर घटादि अवच्छिन्न चैतन्य ही अज्ञान का विषय मान्य है। पूर्वसिद्ध तम का आश्रय या विषय पश्चाद्भावी कोई वस्तु नहीं हो सकती। ज्ञान तो वृत्तिरूप होने से अहङ्कार के आश्रित और घटादि को विषय करनेवाला हो सकता है।

कहा जाता है "अहङ्काराश्रित ज्ञान से संविदाश्रित अज्ञान की निवृत्ति कैसे हो सकती है? लोक में चैत्राश्रित ज्ञान से मैत्राश्रित अज्ञान की निवृत्ति नहीं

होती।" इसपर समाधान किया जाता है कि भले ही अनादि अज्ञान चैतन्याश्रित ही है परन्तु सादि अज्ञान अहङ्काराश्रित होता है; मूलाज्ञान अनादि है, अवस्था (तूला) अज्ञान सादि है। चैतन्याश्रय, चैतन्यविषयक मूलाज्ञान एक ही है। घटादि अवच्छिन्न चैतन्य के आश्रित घटादिविषयक अज्ञान नाना हैं। वे अज्ञान अहङ्काराश्रित भी होते हैं। एतद्विरोधी वृत्तिज्ञान भी अहङ्काराश्रित होते हैं। अखण्डात्माकार वृत्तिज्ञान भी अहङ्काराश्रित ही होता है। घटाद्यवच्छिन्न चैतन्याश्रित, घटाद्यवच्छिन्न चैतन्यविषयक अज्ञान और अहङ्काराश्रित घटादि विषयावच्छिन्न चैतन्यविषयक अज्ञान ये दोनों ही अहङ्काराश्रित घटाद्यवच्छिन्न विषयक ज्ञान से निवृत्त होते हैं। अथवा जैसे जन्य ज्ञान अहङ्काराश्रित होता है वैसे ही सादि अज्ञान भी अहङ्काराश्रित ही होता है। चैतन्याश्रित चैतन्यविषयक अनादि अज्ञान अहङ्काराश्रित भी होता है क्योंकि अहङ्कारावच्छिन्न चैतन्य में उसका उपलम्भ होता है। तथा च अहङ्काराश्रित तत्तद् वृत्तिज्ञान से तद्विषयक अज्ञान की निवृत्ति होती है।

कहा जाता है "जैसे सूर्य में तम नहीं हो सकता है वैसे ही चित्स्वरूप आत्मा या ब्रह्म में अज्ञान कैसे रह सकता है?" पर यह ठीक नहीं है क्योंकि सूर्य और तम जैसे चित् एवं अज्ञान का विरोध है ही नहीं क्योंकि चित् से अज्ञान का प्रकाश होता है। सुप्ति में पुरुष अज्ञान का अनुभव करता है। ज्ञान-अज्ञान का विरोध होता है इस कथन में ज्ञान का अर्थ वृत्तिरूप ही है। कहा जाता है 'अज्ञान का ही कार्य अन्तःकरण है फिर अन्तःकरण वृत्ति और अज्ञान का विरोध कैसे हो सकता है?' परन्तु यह भी ठीक नहीं, कारण संघटित लकड़ियों से पैदा हुई अग्नि ही लकड़ियों को नष्ट करती है। अथवा केवल चैतन्य एवं केवल वृत्ति दोनों ही अज्ञानविरोधी नहीं हैं किन्तु वृत्तिप्रतिफलित चैतन्य ही अज्ञानविरोधी होता है अथवा साभासवृत्ति ज्ञान अज्ञान विरोधी है। जैसे केवल सौरालोक तूल राशि का भासक होता हुआ भी सूर्यकान्त मणि पर संसृष्ट होकर वही तूलराशि का दाहक होता है, सूर्य तृणादि का दाहक नहीं होता है परन्तु दर्पणविशेष पर प्रतिफलित वही सूर्य तृणादि का दाहक हो जाता है।

कहा जाता है "यदि आत्मा अज्ञान का द्रष्टा है तो वह अज्ञान का आश्रय कैसे हो सकता है? लोक में घटद्रष्टा घट का आश्रय नहीं होता है।" परन्तु यह भी ठीक नहीं क्योंकि प्रतिवादी भी आनन्दादि द्रष्टा के आश्रित आनन्दादि को

मानता है। सिद्धान्तानुसार तो कहा जा सकता है कि वस्तुतः अज्ञान संविद् में नहीं है। व्यवहार दृष्टि से जब तक व्यवहार है आत्मा में अज्ञान अनुभवसिद्ध है। जैसे उलूक दृष्टि से सूर्य में अनुभवसिद्ध अन्धकार है वैसे ही यहाँ भी समझना चाहिये। जैसे आत्मा में ज्ञान आनन्दादि की कल्पना है वैसे ही अज्ञान की भी कल्पना है ही, इसलिये वस्तुतः आत्मा ज्ञान अज्ञान दोनों का ही आश्रय नहीं है। व्यवहारतः स्वतः अज्ञान का आश्रय है। स्वाध्यस्त अन्तःकरण के द्वारा ज्ञान का आश्रय है।

संसार में चित् अचित् दो पदार्थ अनुभवसिद्ध हैं। चित् स्वतःसिद्ध अनन्याश्रित है अचित् परतःसिद्ध अन्याश्रित है। सब अचित् का मूल अज्ञान ही है वही अचित् शक्ति है। वह अपने कार्य के आश्रित भी नहीं हो सकती, निराश्रय भी नहीं हो सकती। तब सुतरां अचित् चित् की ही शक्ति है। अतएव उसी के आश्रित है। जैसे वह्निशक्ति वह्निविलक्षण है वैसे ही चित् की शक्ति चित् से विलक्षण होने से ही अचित् एवं त्रिकालाबाध्य सत् से भिन्न होने के कारण सत् से विलक्षण है। विश्वप्रपञ्च का मूल होने से खपुष्पादिवत् असत् भी नहीं है यही उसकी सदसद्विलक्षणता अनिर्वचनीयता है। ज्ञेयत्व एवं ज्ञातृत्व धर्म से शून्य ज्ञानमात्र साक्षी में अज्ञान कैसे हो सकता है; इत्यादि आक्षेप व्यर्थ ही हैं, क्योंकि अज्ञानावच्छिन्न चैतन्य ही साक्षी होता है। शुद्ध चैतन्य तो अद्वितीय ही है। वह साक्षी नहीं हो सकता। तब भी अज्ञानोपहित चैतन्य के आश्रित ही अज्ञान रहता है। अज्ञानवशात् ही विषयता भी चैतन्य में बनती है। अज्ञानोपहित ही अहङ्काररूप उपाध्यन्तर के योग से ज्ञाता भी होता है।

कहा जाता है "अज्ञान स्वावच्छिन्न चैतन्य का आश्रयण कैसे कर सकेगा क्योंकि इसमें आत्माश्रय दोष होगा। अज्ञान के आश्रयण से पहले अज्ञानावच्छिन्न चैतन्य ही नहीं हो सकता"। पर यह ठीक नहीं क्योंकि अज्ञान एवं तदाश्रयण एवं तदवच्छेद सब अनादि हैं अतः अज्ञान आश्रयण से पहले और पीछे का प्रश्न नहीं हो सकता। अज्ञान स्वावच्छिन्न चैतन्य के आश्रित ही होता है अपने आश्रित नहीं रहता, अतः आत्माश्रय नहीं होगा।

वस्तुतस्तु चैतन्य का अज्ञानावच्छिन्न होना ही अज्ञान का आश्रय होना है और वह अज्ञानावच्छिन्नता अनादि ही है; अतएव अज्ञानावच्छेद के प्रथम चैतन्य शुद्ध था, यह नहीं कहा जा सकता। अतः शुद्ध चैतन्य में अज्ञान कैसे

हो सकता है ? इस प्रश्न का अवकाश ही नहीं। इसी तरह अनादि चैतन्य का अवच्छेदक अनादि अज्ञान भी ब्रह्मज्ञान से निवृत्त होता है। 'तरत्यविद्यां विततां' इत्यादि शास्त्रप्रमाण से यह सब संभव है। प्रतिवादी के मत में भी अनादि-प्रागभाव की निवृत्ति मान्य ही है। इसी लिये जब तक व्यवहार है तब तक अज्ञानावच्छिन्न चैतन्य के आश्रित ही अज्ञान होता है। फिर भी कहा जाता है कि 'किसी तरह संविद् को अज्ञान का आश्रय मान भी लिया जाय परन्तु आत्मरूप से स्वीकृत संविद् ज्ञान का विषय नहीं होती अतः ज्ञान से अज्ञान की निवृत्ति नहीं हो सकती। ज्ञान स्वविषय में ही अज्ञान का निवर्तक होता है। जैसे रज्जु विषयक ज्ञान से रज्जु का अज्ञान निवृत्त होता है। अतः संविदाश्रित अज्ञान किसी ज्ञान से कभी नहीं निवृत्त होगा।' परन्तु यह भी ठीक नहीं, क्योंकि सिद्धान्त में संविद् ज्ञान का आश्रय नहीं होती यही कहा गया है। वृत्तिरूप ज्ञान की विषयता तो संविद्रूप आत्मा में मान्य ही है। अतएव संविद्विषया अखण्डाकारावृत्ति मान्य है। यथा घटानाश्रित घटविषयक ज्ञान से घटाज्ञान की निवृत्ति होती है उसी तरह संविद् के अनाश्रित (प्रमाता के आश्रित) ज्ञान से भी संविद् के अज्ञान की निवृत्ति हो ही सकती है। इस तरह आत्मभूता संविद् ज्ञान का विषय होती है। इसमें 'अहमात्मानं जानामि' मैं आत्मा को जानता हूँ यह अनुभव प्रमाण है। ज्ञान से अज्ञान की निवृत्ति में 'अहं ब्रह्मास्मि' यह अनुभव प्रमाण है। पहला प्रमाण सर्वसाधारण है दूसरा ब्रह्मविद् के लिये ही है।

फिर भी कहा जाता है कि "एक ही ब्रह्मविद् के ज्ञान से संविद् ज्ञान की निवृत्ति हो जायगी क्योंकि संविद् घटादि के तुल्य अनेक नहीं है, फिर तो सभी प्रमाताओं की अयत्नसिद्ध मुक्ति हो जायगी। इसे इष्टापत्ति नहीं कहा जा सकता क्योंकि फिर तो शुकादि की मुक्ति से ही जगत् मिट जाना चाहिये था। इस समय जगत् का उपलम्भ न होना चाहिये। यदि शुकादि की मुक्ति अर्थवाद है तब तो किसी की मुक्ति भी संभव नहीं है। फिर वेदान्त विचार व्यर्थ ही होगा।" परन्तु यह ठीक नहीं, क्योंकि विषय के अभिन्न होने पर भी प्रमातृ-भेद से विषयावरक अज्ञान का भेद मानने से सब व्यवस्था बन जाती है। अन्यथा एक व्यक्ति को घट का साक्षात्कार होने से सभी को उस घट का साक्षात्कार मानना चाहिये; तथाच एक व्यक्ति के ज्ञान से उसके प्रति घट का आवरक मिट जाने पर भी इतर व्यक्तियों के प्रति घट का आवरक अज्ञान बना ही रहता है। कहा जाता है 'अज्ञान तो एक है फिर अनेक अज्ञान

कैसे'? परन्तु एक अज्ञान होने पर भी उपाधि से अज्ञान में औपाधिक भेद मान्य है।

यह भी कहा जाता है कि यदि संविद् ज्ञान निवर्त्य अज्ञान का आश्रय होगी तो संविद् ज्ञान का विषय ठहरेगी, पर यह कथन व्यर्थ है। वृत्तिरूप ज्ञान की विषयता संविद् में मान्य ही है। स्वरूपज्ञान फलव्याप्ति का विषय नहीं होता परन्तु वृत्ति का विषय तो मान्य ही है। कहा जाता है 'अविषय ब्रह्म कैसे विषय बन सकेगा।' परन्तु यह भी ठीक नहीं, वस्तुतः संविद्रूप आत्मा के अविषय होने पर भी उसमें माया से कल्पित विषयता हो सकती है। इसी तरह आश्रयत्व विषयत्वादि धर्मों के शून्य होने पर ब्रह्म में माया के द्वारा उसमें अनेक धर्मों की कल्पना होती है और माया के द्वारा ही उसमें भूत भौतिक प्रपञ्च की भी कल्पना होती है।

कहा जाता है "कोई अभिव्यञ्जक स्वाश्रयरूप से अभिव्यङ्ग्य का अभिव्यञ्जक नहीं होता। प्रदीपादि व्यञ्जकों में ऐसा नहीं देखा जाता अतएव अहङ्कार स्वात्मस्थ अनुभूति का व्यञ्जक नहीं हो सकता।" परन्तु यह भी ठीक नहीं, प्रश्न हो सकता है कि क्या प्रदीप स्वात्मस्थ अरुणिमा आदि का व्यञ्जक होता है या नहीं? प्रथम पक्ष मान्य है तब तो वैसे ही अहङ्कार भी स्वात्मस्थ अनुभूति का व्यञ्जक हो ही सकता है। यदि दूसरा पक्ष है तब तो 'अरुणो दीपः' दीप अरुण है यह प्रतीति कैसे होगी?

जैसे दर्पणादि स्वात्मस्थ प्रतिबिम्ब का व्यञ्जक होता है वैसे ही अहङ्कार स्वात्मस्थ अनुभूति का व्यञ्जक होता है। कहा जाता है "दर्पणादि मुखादि का अभिव्यञ्जक नहीं होता किन्तु चाक्षुष तेज ही दर्पण में प्रतिफलित होता है। उसी प्रतिफलन दोष के कारण अन्यथा ही प्रतीति होती है। व्यञ्जक तो आलोकादि ही है, स्वप्रकाश संविद में अहङ्कार के द्वारा तादृश दोष का उपपादन नहीं हो सकता है।" परन्तु यह ठीक नहीं है, क्योंकि दर्पण में मुख का प्रतिबिम्बन नहीं होता चाक्षुष तेज ही प्रतिफलित होता है, यह सब अनुभवविरुद्ध है। सभी लोग दर्पणादि में मुखादि का प्रतिबिम्ब मानते हैं। अचाक्षुष की छाया नहीं होती यह प्रतिवादी मानता है। चाक्षुष तेज चक्षु से नहीं गृहीत हो सकता क्योंकि स्वात्मस्थ व्यङ्ग्य का स्वयं व्यञ्जक नहीं होता है, यह प्रतिवादी का ही कहना है। यदि चक्षुर्भिन्न से चक्षु का आलोक गृहीत होता है यह कहा जाय तो यह ठीक नहीं, क्योंकि इस रीति से तो अचाक्षुष ही ठहरेगा;

फिर प्रतिवादी के अनुसार अचाक्षुप की छाया कैसे बन सकेगी ? कहा जा सकता है कि वादी अचाक्षुप आकाश का प्रतिबिम्ब मानता है, वैसे ही यहाँ भी समाधान होगा। परन्तु यह ठीक नहीं, क्योंकि अनुभव और शास्त्र के अनुसार किसी अर्थ की सिद्धि की जाती है केवल अनुमान से नहीं। जानुपरिमित जल में गंभीरता की प्रतीति होती है अतः गगन प्रतिबिम्ब का निश्चय होता है। 'त्रिविधं नभः' इत्यादि अध्यात्म रामायण वचन से भी गगन प्रतिबिम्ब सिद्ध होता है। प्रकृत में दर्पण में चाक्षुप तेज का प्रतिफलन (प्रतिबिम्बन) नहीं प्रतीत होता, वैसा कोई शास्त्र भी नहीं है, अन्यथानुपपत्ति भी कोई नहीं। ग्राह्य चाक्षुप तेज के प्रतिफलन का ग्राहक भी कोई नहीं। यदि कहा जाय कि चक्षु का तेज ही उसे ग्रहण करता है तो भी ठीक नहीं, क्योंकि एक में ही ग्राह्यता एवं ग्राहकता होने से कर्मकर्तृ विरोध होता है। कहा जा सकता है कि बिम्ब प्रतिबिम्ब दो वस्तु हैं अतः ग्राह्य ग्राहक भाव बन जायगा। परन्तु यह भी ठीक नहीं क्योंकि स्वप्रतिबिम्ब में स्वव्यापार नहीं हो सकता। कहा जा सकता है मुख ही प्रतिमुख का ग्राहक होता है, परन्तु यह ठीक नहीं, क्योंकि वहाँ चक्षु ही ग्राहक है मुख नहीं। कहा जा सकता है चक्षु चक्षु के प्रतिबिम्ब का ग्राहक होता है। परन्तु यह भी ठीक नहीं, चक्षुर्गोलक का ही प्रतिबिम्ब होता है, अतीन्द्रिय चक्षु इन्द्रिय का नहीं अतः गोलक का प्रतिबिम्ब चक्षु से ग्राह्य हो सकता है। कहा जा सकता है जैसे चिदाभास का ग्रहण चित् करता है वैसे चक्षु आलोक से आलोक प्रतिबिम्ब का ग्रहण हो सकता है पर यह भी ठीक नहीं, क्योंकि चित् स्वयं ज्ञान स्वरूप है वह ज्ञान का आश्रय नहीं होता। कहा जाता है कि 'स्व में स्वव्यापार हो सकता है फिर स्वप्रतिबिम्ब में बिम्ब का व्यापार क्यों नहीं होगा ? छेत्ता के हाथ का व्यापार छेत्ता के हाथ में होता है।' पर यह भी ठीक नहीं, क्योंकि वहाँ छेदक भाग से छेद्य भाग में भेद ही है अभेद नहीं। अतः कर्मकर्तृ विरोध का कोई भी प्रसङ्ग नहीं।

कहा जाता है "जैसे साक्षी के द्वारा गगन और गगन के प्रतिबिम्ब का बोध होता है उसी तरह साक्षी के द्वारा चाक्षुप तेज एवं उसके प्रतिबिम्ब का ग्रहण हो सकता है, अतः ग्राहकाभाव नहीं कहा जा सकता।" पर यह कहना ठीक नहीं क्योंकि अनुभव का जो सर्वथा अविषय है उसमें साक्षिवेद्यत्व की कल्पना नहीं की जा सकती। अन्यथा शशशृङ्गादि को भी साक्षिवेद्य कहा जा सकेगा। यदि दर्पण में मुख का प्रतिफलन न हो तब तो सूर्य का भी दर्पण में प्रतिफलन (प्रतिबिम्बन) न हो सकेगा ? इसे इष्टापत्ति नहीं कहा जा सकता क्योंकि 'अतएव

चोपमा सूर्यकादिवत्' इत्यादि ब्र० सू०, 'एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत्' श्रु० से सूर्य चन्द्र आदि का प्रतिबिम्ब मान्य है। कहा जाता है 'दर्पणादि में मुखादि का प्रतिफलन नहीं होता, यह नहीं कहा जा रहा है क्योंकि वह तो चाक्षुष है। चाक्षुष की छाया तो मान्य है ही किन्तु दर्पण में प्रतिफलित प्रतिमुख का व्यञ्जक दर्पण नहीं है किन्तु दर्पण में प्रतिफलित चाक्षुष तेज ही प्रतिमुख का ग्राहक है'। परन्तु यह कथन भी ठीक नहीं क्योंकि चाक्षुष तेज का प्रतिफलन नहीं हो सकता यह कहा ही जा चुका है। किञ्च यदि चाक्षुष तेज ही दर्पणस्थ प्रतिबिम्ब का ग्राहक हो सकता है तो चाक्षुष तेज के प्रतिबिम्ब को मुखादि प्रतिबिम्ब ग्राहक मानना व्यर्थ ही है। फिर भी कहा जाता है 'दर्पण में मुखादि का ही प्रतिफलन हो, चाक्षुष तेज का प्रतिफलन न हो तो भी दर्पण स्वात्मस्थ प्रतिबिम्ब का ग्राहक या व्यञ्जक नहीं सिद्ध होता किन्तु आलोकादि ही उसका व्यञ्जक है'। परन्तु यह कथन भी ठीक नहीं क्योंकि सिद्धान्त में आलोकादि सहकृत ही दर्पण प्रतिबिम्ब का व्यञ्जक मान्य है। आलोकादि न रहने पर केवल दर्पण मात्र प्रतिबिम्ब का ग्राहक कभी भी नहीं होता।

कहा जाता है "भले ही आलोकादि सहकृत दर्पण में ही मुखादि का प्रतिफलन माना जाय तथापि दर्पण प्रतिमुखादि का व्यञ्जक नहीं हो सकता"। परन्तु यह ठीक नहीं है क्योंकि जैसे रज्जु सर्प आदि प्रातिभासिक पदार्थों की अज्ञात सत्ता नहीं होती इसी तरह प्रतिबिम्ब की भी अज्ञात सत्ता नहीं हो सकती, इसलिये दर्पण में अज्ञात होकर प्रतिबिम्ब नहीं रह सकता। अतः दर्पण का मुख प्रतिबिम्ब ग्राहकत्व सम्प्रतिपन्न है। यही दर्पण का स्वप्रतिफलित प्रतिमुख व्यञ्जकत्व है। इसी तरह अहङ्कार का चैतन्य प्रतिबिम्ब ग्राहकत्व ही चैतन्य प्रतिबिम्ब व्यञ्जकत्व है। कहा जाता है 'जड़ अहङ्कार कैसे चैतन्यव्यञ्जक होगा' परन्तु यह भी ठीक नहीं। चैतन्य प्रतिबिम्बग्राही अहङ्कार अजड़ ही हो जाता है। परन्तु दर्पणादि मुखादि प्रतिबिम्बग्राही होते हुए भी जड़ ही रहता है क्योंकि प्रतिफलित मुख जड़ ही है। अहङ्कारप्रतिफलित चैतन्य तो अजड़ है। इसीलिये साभास अहङ्कार स्वात्मस्थ अनुभूति का व्यञ्जक है ही। संविद् में वास्तविक दोष न होने पर भी माया ही अहङ्कार में संविद् को प्रतिबिम्बित करती है।

कहा जाता है "अहङ्कार ज्ञान एवं तत्साधन का अनुग्राहक है अतः यथावस्थित पदार्थ प्रतीति के अनुगुण होता है, वह प्रतिफलित अनुभूति का व्यञ्जक नहीं होता"। पर यह कहना ठीक नहीं क्योंकि प्रमारूप ज्ञान ही यथावस्थित प्रतीति का हेतु होता है। अप्रमारूप ज्ञान का यह नियम नहीं है। अनधिगत,

अबाधित अर्थविषयक ज्ञान ही प्रमा है, परन्तु ऐसी वस्तु एक प्रत्यक् चैतन्याभिन्न ब्रह्म ही है। घटादि ज्ञानों का प्रमात्व सापेक्ष ही है। यावद् व्यवहार घटादि का बाध नहीं होता इसी लिये वे व्यावहारिक सत्य हैं।

अहङ्कार जैसे प्रमा ज्ञान का आश्रय है वैसे ही अप्रमा ज्ञान का भी आश्रय होता है; क्योंकि वृत्ति आत्माकार अनात्माकार दोनो ही प्रकार की हो सकती है। आत्माकार वृत्ति प्रमा है, अनात्माकार अप्रमा है। इस तरह अहङ्कार के स्वात्मस्थ अनुभूति की व्यञ्जकता में कोई बाधा नहीं है।

अब प्रश्न होता है कि "अहङ्काराभिव्यङ्ग्य अनुभूति क्या बिम्बरूप है? अथवा प्रतिबिम्बरूप? पहला पक्ष ठीक नहीं, क्योंकि अनुभूति स्वप्रकाश है अन्यव्यङ्ग्य नहीं। दूसरे पक्ष में भी प्रश्न होगा कि क्या प्रतिबिम्बरहित अहङ्कार प्रतिबिम्ब को व्यक्त करता है या सप्रतिबिम्ब? पहला पक्ष इसलिये असङ्गत है कि केवल अहङ्कार जड है। वह अनुभूति का व्यञ्जक हो तब तो घटादि को भी अनुभूतिव्यञ्जक होना चाहिये। द्वितीय में कर्मकर्तृ विरोध होगा।" परन्तु यह भी ठीक नहीं, साभास अहङ्कार ही अनुभूति का अभिव्यञ्जक होता है और अभिव्यङ्ग्य अनुभूति बिम्बभूत ही है। फिर भी यावद् व्यवहार संविद् में बिम्बभाव रहता है, बिम्बभावापन्न संविद् में वेद्यता भी कल्पित होती है अतः उसी में व्यञ्जयता हो सकती है। कहा जा सकता है 'यह बिम्बभूत संविद् तो अहङ्कारस्थ नहीं हो सकती क्योंकि बिम्ब प्रतिबिम्बोपाधि दर्पणादि से बहिर्भूत ही होता है।' पर यह कथन ठीक नहीं, क्योंकि यहाँ बिम्बभूत संविद् सर्वव्यापिनी है अतः अहङ्कारस्थ होने में कोई बाधा नहीं, अथवा प्रतिबिम्ब स्वरूप से वही अहङ्कार में है, बिम्बरूप से बाहर है। उपाधिवशात् एक ही में बिम्ब प्रतिबिम्बभाव होता है। कहा जा सकता है 'तब तो बिम्ब के तुल्य प्रतिबिम्ब भी अमिथ्या ही होगा, पर यह ठीक नहीं क्योंकि वस्तुतः प्रतिबिम्ब के तुल्य ही बिम्ब भी मिथ्या ही है। बिम्ब प्रतिबिम्ब में अनुस्यूत मुख ही सत्य है। उपाधिभूत दर्पणादि के न रहने पर जैसे प्रतिबिम्ब व्यवहार नहीं होता वैसे ही बिम्ब व्यवहार भी नहीं होता। औपाधिक बिम्ब प्रतिबिम्ब भावापन्न संविद् का व्यञ्जक अहङ्कार तात्पर्य वृत्ति से शुद्ध चिन्मात्र का बोधक होता है। इस तरह अनुग्राहक अहङ्कार यथावस्थित वस्तु की प्रतिपत्ति का जनक होता है। अहङ्कार के एतत्स्वाभाव्य में कोई बाधा नहीं पड़ी। यावद् व्यवहार अहङ्कार में बिम्बरूप से आत्मा रहता है। इसलिये यह अर्थ यथार्थ ही है।

प्रश्न किया जाता है "अन्तःकरणरूप अहङ्कार में स्थितरूप से संविद् की उपलब्धि दोष से होती है या वस्तुतः ? दोनों ही तरह से संभव नहीं है परन्तु यह प्रश्न भी व्यर्थ ही है क्योंकि जब अन्तःकरण ही वस्तुभूत नहीं तो उसमें संविद् की उपलब्धि वास्तविक कैसे हो सकती है ? व्यवहारतः अहङ्कार है। अतः माया के द्वारा उसमें संविद् का प्रतिफलन होता ही है। कहा जाता है कि अचाक्षुप गगन का किसी तरह प्रतिबिम्ब हो भी जाय परन्तु अमूर्त अस्वच्छ स्थूल द्रव्य में तो किसी का प्रतिफलन नहीं ही होता, पर यह ठीक नहीं, क्योंकि स्वच्छत्वमात्र ही प्रतिफलन का प्रयोजक होता है मूर्तत्व आदि नहीं। अहङ्कार स्वच्छ तो है ही फिर उसमें संविद् प्रतिफलन में क्या बाधा है ? गगन में शब्द का भी प्रतिफलन होता है। शास्त्रैकगम्य विषय में तो तर्क का कोई महत्त्व भी नहीं। चित् का प्रतिफलन होता है यह अध्यात्म रामायण कहती है— 'आभासस्त्वपरं बिम्बभूतमेवंविधा स्थितिः'। अथवा सर्वव्यापी होने से चित् की अहङ्कार में स्थिति तो निर्विवाद रूप से ही मान्य है। अहङ्कारस्था संविद् का अहङ्कार के साथ तादात्म्याध्यास होता है। जैसे देहस्थ जीव का देह के साथ तादात्म्याध्यास प्रतिवादी को भी मान्य है। इसी तरह आत्मधर्मों का भी अहङ्कार में अध्यास होता है। अहङ्कार एवं उसके धर्मों का आत्मा में भी अध्यास होता है। आत्मधर्मों का अहङ्कार में अध्यास ही अहङ्कार में संविद् का प्रतिफलन है। वह अहङ्कार अपने में अध्यस्त आत्मा की अभिव्यक्ति करता है। यही अहङ्कार द्वारा संविद् की व्यञ्जना है; अथवा जैसे सर्वव्यापी गगन घटादि से अवच्छिन्न होता है उसी तरह सर्वव्यापिनी संविद् अन्तःकरण से अवच्छिन्न होती है। स्वच्छ होने से अन्तःकरण में संविद् भासती है यही अन्तःकरण में संविद् की उपलभ्यमानता है, संविद् की अन्तःकरण व्यञ्ज्यता है। उसी चित् के अनुग्रह से प्राप्तचैतन्य अहङ्कार ज्ञाता होता है।

सुषुप्ति में ज्ञान की सत्ता

कुछ लोग सुप्ति में अज्ञान एवं सुख का अनुभव नहीं मानते। वे कहते हैं कि सुप्ति में आत्मा ज्ञानशून्य रहता है, परन्तु अज्ञानावच्छिन्न साक्षी श्रुतिसिद्ध है। अतः साक्षी के द्वारा सुख एवं अज्ञान का अनुभव होता है, परन्तु अहंकार का अनुभव नहीं होता। जाग्रत् काल के परामर्श से भी सुख और अज्ञान का स्मरण मानना अनिवार्य है। अहमर्थ का स्मरण नहीं होता किन्तु वह स्मरण-काल में विद्यमान होने से भासित होता है, तथा अज्ञान सुख आदि परामर्शकाल में अविद्यमान होते हैं, अतः उनका परामर्श ही मानना ठीक है।

विशद, अविशद किसी प्रकार का अहं सुप्ति में नहीं अनुभूत होता। साक्षी से ही अहङ्कार का भी भान होता है। फिर अज्ञान सुखादि के तुल्य स्पष्ट ही अहं का भी भान होना ही चाहिये।

कहा जाता है "जैसे बाह्यज्ञान का ही सुप्ति में निषेध होता है, आन्तर सुखादि के प्रकाश का निषेध नहीं होता, वैसे ही देवत्वादि विशिष्ट अहंकार का सुप्ति में निषेध रहने पर भी सामान्य अहं का निषेध नहीं होता"। परन्तु यह ठीक नहीं क्योंकि सुप्ति में साक्षीरूप ज्ञान तो स्वतः सिद्ध है। श्रुति से भी सिद्ध है 'यद्वैतन्न पश्यति पश्यन् वै तन्न पश्यति', 'नहि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यते' इत्यादि श्रुतियाँ कहती हैं कि प्राज्ञरूप द्रष्टा की दृष्टि का विपरिलोप नहीं होता, परन्तु सूक्ष्म अहंकार कोई रहता है इसमें कोई प्रमाण नहीं। हाँ, कारणावस्था में अहङ्कार संस्काररूप से रहने पर भी उसकी प्रतीति नहीं हो सकती।

जो कहते हैं अहमर्थ के बने रहने पर भी सुप्ति में अहमर्थ के ज्ञान का निषेध हो सकता है। परन्तु जब सुखादि के तुल्य अहमर्थ भी साक्षिभास्य है तो अविज्ञात अहमर्थ का सद्भाव कैसे सिद्ध हो सकता है। अतएव 'गृहे नाहं घटमपश्यम्' से जैसे घटाभाव सिद्ध होता है वैसे ही सुप्ति में अहं के अनुभवाभाव से अहमर्थ का अभाव ही सिद्ध होता है। 'नाहं घटमपश्यम्' से जैसे सब प्रकार के घट का अभाव ही निश्चित होता है वैसे ही सब प्रकार के अहंकार का अभाव निश्चित होता है। इसके अतिरिक्त अहङ्कार विशिष्ट ही होता है। इसी लिये सामान्य अहंकार सर्वथा असिद्ध ही है।

कहा जाता है "जैसे सुप्तोत्थ के 'मैं कुछ नहीं जानता' इस परामर्श के रहने पर भी अज्ञान और सुख का ज्ञान सुप्ति में मान्य है, वैसे ही 'मैंने अपने को भी नहीं जाना', इस परामर्श के रहते हुए भी सामान्य अहमर्थ का अनुभव माना जा सकता है।" परन्तु सामान्य अहंकार क्या है? यदि अनुभवैकतान रूप है, तो भी वह अहंकारविशिष्ट है या तद्रहित? यदि तद्रहित है तो अहंकार का अस्तित्व ही नहीं सिद्ध हुआ। यदि अहंकार है तो उसकी प्रतीति होनी चाहिये। इसके अतिरिक्त बाह्यज्ञान के न रहने पर भी नित्य संविद् प्रमाण-सिद्ध है, परन्तु सामान्य अहमर्थ प्रामाणिक नहीं है। यदि अनुभवरूप ही अहमर्थ सुप्ति में रहता है तब तो नाममात्र में विवाद है। यदि अनुभव का ही कोई अहं नाम रख ले तो कोई झगड़ा नहीं। अतएव 'नाहं खल्वयमेवं सम्प्रत्यात्मानं जानात्ययमहमस्मि-इति'।—छा० प्र० ८।११।१। इस श्रुति से यही सिद्ध होता है कि सोते समय जीव मैं यह हूँ ऐसा नहीं जानता। यहाँ श्रुति ने देवत्वादि रहित अहं इस प्रकार भी अहं के प्रकाश का निषेध किया है।

कुछ लोग कहते हैं "जैसे 'प्राज्ञेनात्मना सम्परिष्वक्तो न बाह्यं वेद नान्तरम्', प्राज्ञ आत्मा से सम्परिष्वक्त होकर जीव बाह्य एवं आन्तर किसी पदार्थ को नहीं जानता। इस श्रुति के द्वारा सर्वज्ञान का निषेध होने पर भी अज्ञान सुखादि का प्रकाश अद्वैती को मान्य है; वैसे ही उक्त श्रुति से अहं की प्रतीति का निषेध होने पर भी देवत्वादि रहित अहं की प्रतीति मान्य है।" परन्तु यह ठीक नहीं, कारण 'पश्यन्वै तन्न पश्यति', 'नहि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यते' श्रुतियों तथा स्मरण से साक्षिस्वरूप ज्ञान से अतिरिक्त ही ज्ञान का अभाव 'प्राज्ञेनात्मना' इत्यादि श्रुति का अर्थ संगत है। परन्तु इसी तरह सुप्ति में अहमर्थ का अस्तित्व सिद्ध करनेवाली कोई श्रुति नहीं है।

कहा जाता है कि "यदि सुप्ति में 'अहमस्मि', ऐसा नहीं जानता, कहा गया होता तो यह कहा जा सकता था कि सुप्ति में आत्मा को मैं हूँ ऐसा ज्ञान नहीं था। किन्तु श्रुति में अयमहमस्मि ऐसा उल्लेख है। अतः मैं यह हूँ, ऐसा हूँ, ऐसा ज्ञान नहीं होता। मैं हूँ ऐसा ज्ञान तो होता ही है।" परन्तु यह भी ठीक नहीं क्योंकि अयं का ऐसा अर्थ नहीं होता अयं का यह अर्थ होता है और इदम् सामान्यबोधक ही शब्द है। साथ ही अहमर्थ के अवशेष का कोई प्रमाण नहीं है। तमोगुण से आत्मा का धर्मभूत ज्ञान अभिभूत हो जाता है, यह कथन भी असंगत है क्योंकि अन्तःकरण का धर्मभूत ज्ञान भले ही तम से

अभिभूत हो परन्तु आत्म धर्मभूत ज्ञान कैसे अभिभूत हो सकता है। इसके अतिरिक्त जैसे रूपादिरहित घट नहीं उपलब्ध होता वैसे ही इच्छादिरहित अहमर्थ उपलब्ध नहीं हो सकता। सुषुप्ति में धर्मभूत ज्ञान संकुचित होता है। यहाँ संकोच का क्या अर्थ है? अनवभासमानता या अन्य? यदि अन्य तो अवभासमान ज्ञान को संकुचित क्यों कहा जायगा? यदि अनवभासमानता तो तद्भिन्न विनाश भी क्या हो सकता है? भानस्वरूप ज्ञान के अभान से भिन्न ज्ञाननाश का कुछ स्वरूप ही नहीं; संविद् के समान सुषुप्ति में अहमर्थ का अविशद भान होता है यह कथन भी असंगत है। कारण, संविद् का भान सदा ही विशद ही रहता है। अहमर्थ सुप्ति में कथमपि नहीं रहता यह कहा जा चुका है।

नैयायिक आदि आत्मा को स्वयंप्रकाश नहीं मानते और ज्ञानाभाव को ही अज्ञान एवं दुःखाभाव को ही सुख मानते हैं। सुख एवं अज्ञान के अनुभव का उपपादन करते हैं। इस मत का पूर्ण रूप से पिछले प्रकरण में खंडन कर दिया गया है। ज्ञानाभाव जानने के लिये अनुयोगी एवं प्रतियोगी का ज्ञान आवश्यक होता है। यदि उसका ज्ञान नहीं है तो ज्ञानाभाव का ग्रहण नहीं बन सकता। यदि ज्ञान है तो ज्ञानाभाव नहीं कहा जा सकता, जो आत्मा को स्वप्रकाश मानते हैं, उनके यहाँ सुप्ति में आत्मा का अप्रकाश उपपन्न नहीं हो सकता। स्मरणाभाव से ज्ञानाभाव का अनुमान नहीं हो सकता, क्योंकि तृणादि अपरिगणित पदार्थों का स्मरण न होने से उनका अभाव नहीं कहा जा सकता। जो समझते हैं कि अज्ञान एवं सुख का स्मरण नहीं है किन्तु केवल जाग्रत्काल में ज्ञानाभाव का अनुमान ही होता है, यह भी संभव नहीं है। क्योंकि फिर भी ज्ञानाभाव के अधिकरण रूप से तो आत्मा का ज्ञान आवश्यक ही है।

यद्यपि नैयायिक अनुमान से ही आत्मा का अस्तित्व सिद्ध करने का प्रयत्न करता है तथापि लिङ्गादि अभाव से पक्ष एवं साध्य दोनों ही की सिद्धि असंभव है।

कहा जाता है "अहमर्थ भले ही सुषुप्ति में सिद्ध हो परन्तु संविद् अनुमान से सिद्ध नहीं होती।" यह कथन निराधार है। अहमर्थ का प्रकाश किसी भी प्रमाण से सिद्ध नहीं होता। संविद् का अस्तित्व अज्ञान सुखादि-भासकत्वेन अत्यन्त प्रसिद्ध है। 'सुखमहमस्वाप्सम्' यह स्मरण ही है। इसमें स्मरामि ऐसा ही अनुभव होता है, अनुमिनोमि ऐसा अनुभव नहीं होता।

जो कहा जाता है कि अहं ऐसा प्रकाशन आत्मा का स्वरूप है। परन्तु यह ठीक नहीं, क्योंकि जब स्पष्ट रूप से श्रुति निषेध करती है कि मैं यह हूँ इस रूप से अपने आप को नहीं जानता, तब उसके प्रकाश की कल्पना निराधार ही है।

जो कहते हैं ज्ञानस्वरूप होकर अहं प्रकाशता है। उनका भी कहना, ज्ञानस्वरूप का प्रकाश तो अद्वैती को भी मान्य है, परन्तु उसमें अहं का स्फुरण नहीं होता। यदि ज्ञानप्रकाश को अहं का प्रकाश मानते हैं तो वह निराधार ही है। धर्मभूत ज्ञान संकुचित भी हो तो यदि आत्मा अहंरूप है और वह स्वप्रकाश है तो फिर अहं का भी स्फुरण होना ही चाहिये।

जो कहते हैं हम सोते रहे इस कथन से ही सुप्ति में अहं का होना सिद्ध होता है। उनका कहना ठीक नहीं है क्योंकि यह कहा जा चुका कि हम सोते रहे यह जिस समय कहा जा रहा है वह जाग्रत् काल है। उस समय अहं के रहने से ही अहं का प्रयोग होता है। सोते समय का आत्मा प्राज्ञ था, जागते समय का आत्मा विश्व है। अहङ्कारविशिष्ट विश्व है, अज्ञानविशिष्ट प्राज्ञ है, चैतन्य दोनों ही में अनुस्यूत है। अनन्त ज्ञानरूप आत्मा अज्ञान से संसारी है। ज्ञान से सर्वसंसार बाधपूर्वक पुनः असंसारित्व को प्राप्त होता है।

कहा जाता है कि "अहमर्थ का यदि मोक्ष में नाश हो तो किसी अन्य संविद् की मुक्ति के लिये अहमर्थ की प्रवृत्ति का कुछ प्रयोजन नहीं, जैसे मृत भार्या के उज्जीवन करने के लिये देवी को अपना शिर काटकर चढ़ाना मूर्खता है"। परन्तु यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि यह कहा जा चुका है कि दुःखविशिष्ट आत्मा जैसे दुःखनाश का प्रयत्न करता है वैसे ही अहङ्कारविशिष्ट आत्मा का अहङ्कार के नाश के लिये प्रयत्न हो इसमें कोई आपत्ति नहीं है। यद्यपि केवल अन्तःकरण या केवल चैतन्य प्रयत्न नहीं कर सकता तथापि अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य के द्वारा प्रयत्न होने में कोई बाधा नहीं है। अन्तःकरण वृत्ति अध्यस्त ही है। अतः चैतन्य अध्यास का आश्रय नहीं हो सकता, यह कथन भी निःसार है। माया के द्वारा आत्मा ही जब सम्पूर्ण प्रपञ्च का ही आश्रय है तो उसकी प्रपञ्चाश्रयता में क्या आपत्ति हो सकती है?

"अक्षमा भवतः केयं साधकत्व प्रकल्पने।
किं न पश्यसि संसारं तत्रैवाज्ञानकल्पितम्॥"

वेदान्त के अनुसार अध्यास अन्तःकरण की वृत्ति नहीं किन्तु अविद्या वृत्ति है। अविद्या का आश्रय चैतन्य है अतः अविद्या वृत्ति भी चैतन्य में ही है।

कुछ लोग कहते हैं "चैतन्य बन्ध का आश्रय नहीं होता"। परन्तु यह ठीक ही है, चैतन्य का वस्तुतः बन्ध न होने पर भी अविद्याध्यारोपित बन्ध है ही। उसकी निवृत्ति ही मुक्ति है।

कुछ लोग कहते हैं "अहङ्कार के द्वारा आरोपित बन्ध से वस्तुतः चैतन्य बद्ध नहीं हो सकता, किसी न्यायशील राजा को यदि कोई दुष्ट मान भी ले तो भी वह दुष्ट नहीं होता।" परन्तु इसी लिये तो कहा जाता है कि अज्ञ दृष्टि से आत्मा में बन्ध और मोक्ष होता है, वस्तुतः नहीं।

"अज्ञानसंज्ञौ भवबन्धमोक्षौ
द्वौ नाम नान्यौस्त ऋतज्ञभावात्।
अजस्र चिन्त्यात्मनि केवले परे,
विचार्यमाणे तरणाविवाह्नी ॥'

—

सुषुप्ति में अज्ञानादि का अनुभव

सुषुप्ति में अज्ञान का अनुभव होता ही है और यह अज्ञान पराक् ही है, फिर पराक् अर्थ का अनुभव सुप्ति में नहीं होता यह भी कथन असंगत है। अहं अहं इस एकाकार से प्रतीति सुप्ति में होती है, यह कहना भी असंगत ही है, क्योंकि सुप्ति में अहमाकार वृत्ति होती ही नहीं। प्रत्यक् स्वरूप से स्फुरण तो अद्वैती को मान्य है ही। अहङ्कार संस्कार सचिव अविद्यात्मक कारण शरीरावच्छिन्न चैतन्य ही प्राज्ञ कहलाता है। अहङ्कार संस्कार रहने पर भी अहङ्कार की प्रतीति नहीं हो सकती, क्योंकि यदि ऐसा संभव हो तब तो प्रलय काल में सभी पदार्थ संस्काररूप से रहते हैं। फिर उनकी भी प्रतीति होनी चाहिये। अहं बुद्धि नहीं होने से सुषुप्ति में अहं का अस्तित्व नहीं कहा जा सकता। यदि सुषुप्ति में अहं विद्यमान होता तो जैसे जाग्रत्काल में 'घटमहं पश्यामि' अनुभव होता है वैसे ही सुप्ति में 'सुखमहमनुभवामि', 'अज्ञानमहमनु-भवामि' मैं सुख का अनुभव करता हूँ, मैं अज्ञान का अनुभव करता हूँ, ऐसा अनुभव होना चाहिये था। परामर्श काल में अहमर्थ के उल्लेख का कारण तो उस समय अहङ्कार का सत्त्व ही है।

जिस अहङ्कार संस्कार से विशिष्ट अज्ञानोपहित चैतन्य से जिसका अनुभव होता है, उसी अहङ्कार से विशिष्ट चैतन्य के द्वारा उसका परामर्श होता है।

कहा जाता है जब सुप्ति में अहं नहीं रहता अज्ञान साक्षी ही रहता है तब तो अज्ञान साक्षि ही था, चैतन्य सोया था, ऐसी ही प्रतीति होनी चाहिये। कुछ लोग कहते हैं कि अहं भाव के न रहने पर संवित्मात्र में प्रत्यक्त्व का व्यवहार ही नहीं हो सकता, परन्तु यह ठीक नहीं। प्रत्यक्त्व और अहन्ता का कोई सामानाधिकरण्य नहीं है। अहमर्थ ही प्रत्यगात्मा है इस पक्ष का खण्डन इसी से हो जाता है कि जैसे दृश्य होने से इदमर्थ अनात्मा है, वैसे ही दृश्य होने से अहमर्थ भी अनात्मा ही है। दृग्दृश्यग्रन्थि अहमर्थ है, वह अहं शब्द का वाच्य है, लक्ष्यार्थ दृशि आत्मा है, अतः अहं और इदं दोनों ही कल्पनाओं का अधिष्ठान चैतन्य ही प्रत्यक् है। वही स्वयं शब्द से कहा जाता है। वह अहं,

त्वं, इदं, सभी में अनुगत रहता है। मैं स्वयं जाता हूँ, तुम स्वयं देखो, वह स्वयं खा रहा है। घट स्वयं नहीं जानता है। सुप्ति में अहं का बाध निश्चित होने से वह आत्मा नहीं हो सकता है।

कुछ लोग कहते हैं "सुप्ति में तमोगुण से अभिभूत होने के कारण पराक् अर्थ का अनुभव नहीं होता। इसी लिये अहमर्थ का स्फुट अनुभव न होने पर भी अहं अहं रूप से सुषुप्ति में अहमर्थ आत्मा का अनुभव होता ही है।" परन्तु यह कहना ठीक नही है, कारण कि अद्वैती के यहाँ त्रिगुणात्मक प्रकृति का कार्य होने से अहं का अभिभव हो भी सकता है। परन्तु जिसके मत में अहमर्थ प्रत्यगात्मा है, उसके मत में तो वह त्रिगुणातीत है, फिर उसका तमोगुण से अभिभव कैसे हो सकेगा? यदि कहा जाय कि प्रकृति के संसर्ग से स्वतः त्रिगुणातीत होने पर भी उसमें सगुणता संभव है, तो यह भी ठीक नहीं। कारण, असङ्ग में प्रकृतिसंसर्ग सम्भव ही नहीं है। 'असङ्गो नहि सज्जते' श्रुति आत्मा को असङ्ग कहती है। कुछ लोग समझते हैं कि सुषुप्ति में चिन्मात्र ही अवशिष्ट रहता है, परन्तु ऐसा होने पर तो सर्व की मुक्ति का प्रसङ्ग होगा। अतः अज्ञानावच्छिन्न चैतन्यरूप प्राज्ञ अवशिष्ट रहता है यही अद्वैतियों का सिद्धान्त है। वही अविद्या वृत्तियों से सुख एवं अज्ञान का अनुभव करता है। साक्षि चैतन्य के अनुभव के लिये ज्ञान की आवश्यकता होती है। अन्तःकरण उस समय रहता नहीं, अतः तद्वृत्तिरूप ज्ञान भी नहीं रहता। प्राज्ञ सुषुप्ति में अपने से अनुभूत सुख एवं अज्ञान को जागरावस्था में अहङ्कार के साथ तादात्म्याध्यास प्राप्त करके विश्व होकर 'मैं सुखपूर्वक सोया, कुछ नहीं जाना' इस रूप से स्मरण करता है।

जो कहते हैं "अत्रायं पुरुषः स्वयंज्योतिर्भवति, इस श्रुति में पुरुषरूप प्रत्यगात्मा संविन्मात्र नहीं है किन्तु ज्ञाता ही है। 'एष हि द्रष्टा', इस श्रुति में ज्ञाता को ही पुरुष कहा गया है। लोक में भी ज्ञाता को ही पुरुष कहा जाता है।" परन्तु यह भी ठीक नहीं है, 'पूर्णत्वात्पुरिशयनाद्वा पुरुषः' पूर्ण होने से अथवा पुरी में शयन करने से पुरुष शब्द की प्रसिद्धि होती है। अणुपरिमित अहमर्थ में पूर्णत्वरूप पुरुषत्व नहीं बन सकता। अपरिच्छिन्न संविद् भी शरीरादि में पूर्ण होने से पुरुष शब्दार्थ हो सकती है। अन्तःकरण के साथ तादात्म्याध्यास से शरीररूप पुर में शयन भी संविद् का हो सकता है। इस दृष्टि से भी संविद् में पुरुष शब्द प्रयोग संगत है। अहङ्कार में भी पुर में शयन के कारण पुरुष शब्द प्रयोग हो सकता है। यदि देह में साभिमान होना ही

पुरशयन का अभिप्राय है तो भी यह साभास अहङ्कार में संभव है। यद्यपि सर्वव्यापिनी संविद् में भी पुरिशयनरूप पुरुषत्व संभव है तथापि पुर में ही शयन यदि पुरुष शब्द की प्रवृत्ति का निमित्त हो तो वह संविद् में अन्तःकरणाध्यास से ही संभव है। इस तरह अहङ्कारावच्छिन्न संविद् या संविदाभास सहित अन्तःकरण में पुरुष शब्द का प्रयोग होता है। इस दृष्टि से 'अत्रायं पुरुषः स्वयंज्योतिर्भवति' यह श्रुति पुरुष को स्वयंज्योति कह रही है। सूक्ष्म एवं कारण इन दो शरीरों से अवच्छिन्न चैतन्य तैजस् ही यहाँ ज्ञाता पुरुष है। वही जाग्रत् में शरीरत्रयावच्छिन्न होकर जागराभिमानी विश्वसंज्ञक ज्ञाता पुरुष होता है। इस तरह जाग्रत् एवं स्वप्न के अभिमानी विश्व एवं तैजस् में पुरुष शब्द प्रयोग होने पर भी संविद् की पुरुष शब्दवाच्यता में कोई क्षति नहीं होती, क्योंकि पूर्णत्व लक्षण पुरुषत्व मुख्य रूप से संविद् में ही है। वस्तुतः विश्व, तैजस्, प्राज्ञ तीनों ही का जो वास्तविक विज्ञानरूप है वही संवित् है, अतएव श्रुति ने उसे विज्ञानात्मा कहा है। विज्ञानात्मा शब्द का अर्थ है विज्ञान स्वरूप। यहाँ आत्म शब्द स्वरूपवाची है। कुछ लोग ज्ञानधर्मक अर्थ करते हैं परन्तु वह ठीक नहीं, क्योंकि आत्म शब्द का धर्म अर्थ असंगत है। इस तरह अपरिच्छिन्न संविद् मन चक्षु आदि के साथ तादात्म्याध्यास से द्रष्टा श्रोता आदि होकर विश्व होती है। वह आदित्यादि ज्योतियों के अनुग्रह से जगत् प्रकाशन करती है। अतः स्वयंज्योति नहीं कही जाती। वही स्वप्न में सर्वेन्द्रियों के उपरत होने एवं आदित्यादि देवताओं के न होने से स्वाविद्यापरिकल्पित प्रपञ्च का स्वयं प्रकाशन करती हुई स्वयंज्योति तैजस् होती है। वही सुप्ति में सर्वद्वैत के उपरम होने से आनन्दभुक् प्राज्ञ कहलाती है। तीनों अवस्थाओं के आविद्यिक होने से तीनों का साक्षी तीनों से असृष्ट चिन्मात्र ही मुख्य प्रत्यगात्मा है। 'सत्य ज्ञानमनन्तं ब्रह्म', 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म', 'तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम्', 'ज्ञानमेकं पराचीनैरिन्द्रियैर्ब्रह्म निर्गुणम्। अवभात्यर्थरूपेण भ्रान्त्या शब्दादि धर्मिणा'; इत्यादि सहस्रों वचनों से प्रत्यगात्मा को स्पष्ट ही अनन्त स्वप्रकाश ज्ञानस्वरूप कहा गया है।

कुछ लोग कहते हैं कि "ज्ञानस्वरूप होने पर भी आत्मा ज्ञाता है।" परन्तु ज्ञान उपाधि के बिना स्वतः ज्ञाता नहीं हो सकता। कुछ कहते हैं कि ज्ञान ही ज्ञाता है, फिर उन्हें ज्ञाता ही आत्मा है ज्ञान नहीं, यह पक्ष छोड़ना पड़ेगा। कुछ कहते हैं कि आत्मा ज्ञानमात्र नहीं है किन्तु ज्ञाता भी है। अर्थात् ज्ञान स्वरूप होकर ज्ञान गुणवाला आत्मा है। परन्तु एक ही ज्ञान में स्वरूपत्व एवं

धर्मत्व कैसे बन सकेगा ? यदि कहा जाय कि दो प्रकार का ज्ञान है अतः एक में गुणत्व अन्य में ज्ञानस्वरूपत्व रहेगा, परन्तु यह अप्रसिद्ध है। इस तरह पुरुष शब्द संवित् एवं ज्ञाता दोनों ही अर्थों में प्रसिद्ध होने पर भी आत्मा संविद् स्वरूप ही है। ज्ञाता मुख्य आत्मा नहीं है, ज्ञातृत्व उसमें आरोपित होता है, आत्मभिन्न सब कुछ मिथ्या है, यही बात 'स आत्मा', 'तत् सत्यं', 'अतोऽन्यदार्त्तम्' इत्यादि श्रुतियों में कही गयी है। उसमें पुरुष शब्द की प्रसिद्धि औपचारिक ही है। शास्त्रीय अर्थ के निर्णय में लोकप्रसिद्धि अनेक स्थलों में त्याज्य होती है; जैसे 'वाजिभ्यो वाजिनम्' यहाँ वाजि शब्द की अश्व अर्थ में प्रसिद्धि होने पर भी वह अर्थ अग्राह्य है।

ज्ञाता अर्थ में पुरुष शब्द का प्रयोग मान लेने पर भी ज्ञाता पुरुष का स्वरूपभूत जो ज्ञान है वही मुख्य आत्मा मान्य है। ज्ञाता ही आत्मा है ज्ञाता का स्वरूप आत्मा नहीं है, यह कहना अर्थशून्य ही है।

कहा जाता है 'सुखमहमस्वाप्सम्' इस परामर्श से उस समय अहमर्थ का सुखित्व एवं ज्ञातृत्व विदित होता है। परन्तु यह ठीक नहीं, क्योंकि यह प्रतीति जाग्रत् काल की है। सुषुप्ति में अहं ऐसी प्रतीति नहीं होती। क्योंकि अहमर्थ रूप से अभिमत वादी का आत्मा सुखरूप ही होता है फिर उसमें सुखित्व प्रत्यय कैसे हो सकेगा ? साथ ही सुषुप्ति में धर्मभूत ज्ञान वादी को सम्मत नहीं है। तब फिर उसमें ज्ञातृत्व कैसे बन सकेगा ?

यदि कहा जाय कि उस समय स्वरूपभूत ज्ञान से ही ज्ञातृत्व सिद्ध होगा, परन्तु यह भी ठीक नहीं। यहाँ विचारणीय है कि क्या स्वरूपज्ञान ही ज्ञाता है अथवा स्वरूपज्ञान से अज्ञान सुखादि का ज्ञान उत्पन्न होता है। दोनों ही पक्ष में स्वरूपभूत ज्ञान में ज्ञानाश्रयता प्रसक्त होती है। इस स्थिति में धर्मिभूत ज्ञान के आश्रित ज्ञान में धर्मभूत ज्ञानत्व रहेगा ही। फिर सुषुप्ति में धर्मभूत ज्ञान नहीं रहता इस कथन का क्या अर्थ रह जायगा ?

यदि आत्मा ज्ञाता एवं सुखी होगा तब तो दुःखी भी आत्मा होगा ही। यदि कहें कि ऐसा इष्ट ही है तो यह भी ठीक नहीं, क्योंकि शास्त्रों में कूटस्थ आत्मा में सुख दुःखादि विकार अमान्य ही है। यदि आत्मा का सुख धर्म है तब तो 'सुखमहमस्वाप्सम्' में सुखी होकर सोता था, ऐसा स्मरण होना चाहिये। फिर 'सुखमहमस्वाप्सम्' में सुख से सोया, ऐसा परामर्श क्यों होता है। यदि कहा जाय कि सुख क्रिया का विशेषण है पर यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि क्रिया

सुख का आधार नहीं हो सकती। अतः सुखस्वरूप मैं सोता था यही इसका अर्थ होना युक्त है। तो भी लोक क्रियाविशेषण दृष्टि से ही व्यवहार करता है। जैसे मुझे सुख हो वैसा सोता था। सर्वोपद्रव विवर्जित ज्ञान ही सुख है, वही आत्मा एवं प्रकाशक होने से ज्ञान है; आनन्दयिता होने से सुखरूप है। जैसे निर्विकल्पक ज्ञान से सविकल्पक ज्ञान होता है वैसे ही निर्विकल्पक सुख से सविकल्पक सुख होता है। पदार्थ ज्ञान से वाक्यार्थ ज्ञान होता है। वैसे ज्ञानरूप आत्मा से ज्ञान होना संगत है।

सुषुप्ति में अज्ञानाश्रय प्राज्ञ होता है अहमर्थ नहीं, यदि अहं होता तो 'अहं विदामि' मैं जानता हूँ, ऐसा ही अनुभव होना चाहिये था। वैसा नहीं होता। अतः परामर्श काल में ही अहं का अस्तित्व मान्य होता है, सुप्ति में नहीं। जो कहा जाता है कि 'सुप्ति में वेदन का ही अभाव होता है ज्ञाता का नहीं', यह ठीक नहीं। मैंने कुछ नहीं जाना यह अज्ञानानुभव रूप तो वेदन रहता ही है। यदि वह न हो तब तो उक्त प्रकार का स्मरण ही नहीं बन सकेगा।

अहमर्थनाश आत्मनाश नहीं

कहा जाता है कि "मामप्यहं नाज्ञासिषम्, उस समय मैं अपने को भी नहीं जानता था। इस स्मरण से प्रतीत होता है कि सुप्ति में ज्ञाता अहमर्थ अवश्य था।" परन्तु यह ठीक नहीं क्योंकि इसी स्मरण से विदित होता है कि उस समय अहमर्थ नहीं था। 'नाहं गृहे घटमपश्यम्', मैंने घर में घट नहीं देखा इस घटानुभवाभाव से घट का अभाव ही सिद्ध होता है। वैसे सुप्ति में अहमर्थ का अनुभव न होने से उसका अभाव ही निश्चित होता है।

कहा जाता है कि घट तो द्रष्टा से भिन्न है, परन्तु अहङ्कार भी प्राज्ञ से भिन्न है यह कहा ही जा चुका। यदि कहा जाय कि माम् एवं अहम् दोनों का अर्थ अहमर्थ एक ही है तो यह भी ठीक नहीं; स्मरण के समय ही अहमर्थ रहता है, अनुभव के समय नहीं यह कहा जा चुका। अतः घट के तुल्य अहङ्कार के न होने से ही उसका अनुभव नहीं होता। इस तरह प्राज्ञ अपने द्वारा अनुभूत अहङ्काराभाव को 'जाग्रत् काल में विश्व हो मैंने भी अपने को भी नहीं जाना' ऐसा स्मरण करता है, अन्यथा अपने को अपना अनुभव न होना कैसे बन सकता है? घट नहीं था ऐसा कहनेवाला घटाभाव का अनुभव करके ही कहता है क्योंकि अननुभूत का स्मरण हो ही नहीं सकता है। इसी तरह विचारणीय है कि 'मामहं नाज्ञासिषम्' मैंने अपने को भी नहीं जाना यह कहनेवाला अपने अभाव का अनुभव करता है या नहीं? अपने ही द्वारा अपने अभाव का अनुभव कैसे बन सकेगा? अपना अभाव अपने ही द्वारा कोई नहीं ग्रहण कर सकता। कारण, जिस समय ग्राहक होगा उस समय ग्राह्य नहीं रहेगा, जिस समय ग्राह्य रहेगा उस समय ग्राहक न रह सकेगा। यदि अहमर्थ ने अपने अभाव का ग्रहण नहीं किया तब स्वभाव का स्मरण कैसे कर सकेगा? यद्यपि घटादि की अज्ञात सत्ता भी रह सकती है तथापि स्वप्रकाश साक्षी या साक्षिभास्य अहङ्कारादि की अज्ञात सत्ता का समर्थन कथमपि हो नहीं सकता। अतः यही कहना उचित है कि अहमर्थ से अन्य प्राज्ञ ने ही अहमर्थाभाव का ग्रहण किया और वही विश्व बनकर उसका स्मरण करता है। विश्व अहङ्कारावच्छिन्न होता है। अतः स्मर्ता में अहमर्थ का उल्लेख होता है।

कहा जाता है कि फिर भी प्राज्ञरूप अनुभविता का ही सुप्ति में अवशेष सिद्ध होता है, केवल अनुभव का नहीं। परन्तु यह इष्ट ही है। अनुभवमात्र का अवशेष तो मुक्ति में ही रहता है सुप्ति में नहीं। सुप्ति में अनुभविता प्राज्ञ ही रहता है, तो भी अहङ्कार का शातृत्व प्रसिद्ध है। सुप्ति में अहङ्कार नहीं रहता है इसी लिये अनुभवमात्र के अवशेष रहने की बात कही जाती है। इसी दृष्टि से कहीं कहीं सुप्ति को परमार्थ दशा कह दिया जाता है। वस्तुतः वह परमार्थ दशा भी नहीं है। कुछ लोग कहते हैं 'सुप्ति में अहमर्थ रहता है परन्तु उसका अनुभव नहीं होता।' परन्तु यहाँ प्रश्न होगा कि अहमर्थ का अनुभव किसे नहीं होता, अहमर्थ को ही या अन्य को? प्रथम पक्ष ठीक नहीं है क्योंकि यहाँ भी विकल्प होगा कि अनुभव को स्वानुभवाभाव विदित है या अविदित? पहला पक्ष ठीक नहीं, क्योंकि स्वपरज्ञान शून्य अहमर्थ को स्वानुभवाभाव कैसे विदित हो सकता है? और फिर जो स्वानुभवाभाव को जानता है वह अपने को क्यों नहीं जानता? और स्वज्ञान के बिना स्वानुभवाभाव का ज्ञान कैसे उत्पन्न होगा? यदि स्वानुभवाभाव अविदित है तो स्वानुभवाभाव स्वीकृत कैसे किया जा सकता है?

यदि कहा जाय कि अहमर्थ से भिन्न किसी अन्य को अहमर्थानुभव नहीं है तो बस यही तो अद्वैती का पक्ष है कि प्राज्ञरूप साक्षी को अहमर्थानुभव नहीं होता। इसी लिये अहमर्थाभाव निर्णीत होता है।

कुछ लोग कहते हैं 'मामहं न ज्ञातवान्', मैंने अपने को नहीं जाना यही 'मां' इस कर्म पद का अर्थ है। जागर दशा में ज्ञात जात्यादिविशिष्ट अहमर्थ ही 'अहं' इस कर्तृ पद का अर्थ है। कुछ लोग कहते हैं कि 'स्वापावस्था विशिष्ट विशद अनुभवैकतान अहमर्थ ही यहाँ विषय है।' परन्तु यह भी ठीक नहीं क्योंकि स्मरण करनेवाला जागरणकालिक अहमर्थ जात्यादि विशिष्ट ही है। वह अनुभवैकतान नहीं है। साथ ही यह भी कहना ठीक नहीं है कि 'सुषुप्ति में मुक्त अनुभवैकतान अहमर्थ को जात्यादिविशिष्ट अहमर्थ का अनुभव नहीं हुआ' क्योंकि ऐसा स्मरण सुप्तोत्थित को नहीं होता।

अनुभवैकतान अहमर्थ क्या है? अहङ्कारविशिष्ट या अहमर्थरहित? पहला नहीं कहा जा सकता क्योंकि अहङ्कारविशिष्टत्व और अनुभवैकतानत्व का सामानाधिकरण्य असिद्ध है। दूसरा भी ठीक नहीं क्योंकि वादी सुप्ति में अहं भाव का विगमन नहीं मानता।

कहा जाता है "यद्यपि सुप्ति में अहङ्कार का विगमन (अभाव) नहीं है, तथापि मैं ब्राह्मण हूँ, मनुष्य हूँ इत्यादि रूप से अहङ्कार का विगम (अभाव) है ही। इसी दृष्टि से सुप्ति में आत्मा को अनुभवैकतान कह दिया जाता है।" परन्तु यहाँ विचारणीय यह है कि यदि सुप्ति में 'ब्राह्मणोऽहं' इत्यादि रूप का अहङ्कार नहीं रहता तो किस प्रकार का अहङ्कार रहता है? क्या अनुभवरूप अहङ्कार रहता है? अथवा ज्ञाता मैं हूँ इस प्रकार का अहं रहता है? अथवा सुखी अहं; अथवा मैं अपने को नहीं जानता इस रूप से अहं रहता है? वस्तुतः किसी प्रकार का अहंभाव अनुभूत नहीं होता, अतः सुप्ति में अहं की अनुवृत्ति नहीं सिद्ध होती। कहा जाता है 'फिर भी ज्ञाता का अस्तित्व तो अद्वैती को भी मान्य है। क्योंकि अज्ञान साक्षी का अस्तित्व उसे मान्य है। साक्षात् द्रष्टा ही साक्षी होता है।' परन्तु जब तक व्यवहार है तब तक ज्ञातृत्व मान्य ही है। ज्ञान स्वरूप आत्मा में माया जैसे ज्ञेय वस्तु की कल्पना करती है वैसे ही ज्ञातृत्व की भी कल्पना करती है। साभास अहङ्कार के तुल्य ही अहङ्कारावच्छिन्न एवं अज्ञानावच्छिन्न भी ज्ञाता ही होता है। अनवच्छिन्न आत्मा ज्ञानस्वरूप ही है। उस समय ज्ञेय न होने से ज्ञाता नहीं होता। ज्ञानस्वरूप आत्मा माया से ही ज्ञाता होता है। जागर स्वप्न में अहङ्कारवैशिष्ट्य होने एवं सुप्ति में अविद्या-वैशिष्ट्य होने से ज्ञातृत्व है। इस तरह यावद् व्यवहार ज्ञेय सद्भाव होने से ज्ञान स्वरूप आत्मा में ज्ञातृत्व रहता है। इसी दृष्टि से साक्षी, द्रष्टा आदि उसे कहा गया है। परन्तु इतने से ही सुषुप्ति में अहङ्कार का अस्तित्व सिद्ध नहीं हुआ।

मोक्ष में भी अहं नहीं रहता, अहङ्काररूप ग्रंथि का नाश ही मोक्ष है। शुद्ध आत्मा मोक्ष में रहता ही है। जो कहते हैं 'अहमर्थ ही आत्मा है, ज्ञान तो उसका धर्म है अतः अहमर्थ का नाश आत्मनाश ही है।' परन्तु यह ठीक नहीं है। श्रुति में ज्ञानरूप ही आत्मा कहा जाता है। जिसे धर्मरूप ज्ञान कहा जाता है वह वस्तुतः वृत्तिरूप ही ज्ञान है और अन्तःकरण का ही धर्म है। साभास अहङ्कार को लेकर ही 'मम ज्ञानं' इत्यादि व्यवहार होता है। नित्य ज्ञान तो आत्मा अनात्मा किसी का धर्म न होकर आत्मस्वरूप ही है।

जैसे दुःखविशिष्ट दुःखनाश के लिये प्रयत्नशील होता है, वैसे ही साभास अहङ्कार विशिष्ट अधिष्ठान चैतन्य साभास अहङ्कार के नाश के लिये प्रयत्नशील होता है। अथवा अहङ्कारविशिष्ट चैतन्य ही जीव है। वह अहङ्कारनाश के लिये प्रयत्नशील होता है। अपनी वृद्धावस्था या बन्धु का वध स्ववध नहीं कहा जा सकता। अहमर्थ का भी सम्पूर्णतया विनाश अद्वैतवाद

में इष्ट नहीं है। हृदयग्रन्थिरूप अहङ्कार का विनाश अभीष्ट होने पर भी स्वरूपनाश इष्ट नहीं है। संविद्रूप आत्मा एवं अहङ्कारादि के विवेकाग्रह से अहं इस रूप से अभिमान करता हुआ तापत्रय से आतुर जीवात्मा स्वोपाधिभूत अहङ्काराख्य हृदयग्रन्थि छेदनार्थ प्रयत्न करता है। उसी से ग्रन्थिमुक्त होकर स्वरूप में स्थित होता है। बद्ध की बन्धनिवृत्ति के लिए, मुक्त स्वरूप प्राप्ति के लिये प्रयत्न वैसा ही है जैसे राज्यकाम पुरुष अपने को निर्मलकर सर्वाङ्ग भूषण धारण करता है। यों तो यह भी कहा जा सकता है कि स्वयं अपने आपको स्वान्य ब्रह्म का शरीर बनाकर रखना भी बहुमूल्य रत्न त्यागकर काच लाभार्थ प्रयत्न जैसा ही है। स्थूल, सूक्ष्म, कारण, शरीरत्रयोपहित बद्ध चिन्मात्र ही जाग्रदवस्थ आत्मा है, वही मोक्ष शास्त्र का अधिकारी है। उपाधिद्वयोपहित स्वाप्न है, एकोपाध्युपहित सौपुप्त एवं अनुपहित मुक्त होता है। बद्ध यद्यपि स्वाप्न एवं सौपुप्त भी है तो भी उपाय में अधिकार जाग्रदवस्थ को ही है। जैसे रोगपीड़ित का नीरोग, शुद्ध स्वरूप प्राप्त्यर्थ औषध सेवन में अधिकार है वैसे ही प्रकृत में भी समझना चाहिये। शुद्ध में ही बद्धत्व भ्रम है उसी भ्रम की निवृत्ति के लिए प्रयत्न है।

जिस मत में चित्प्रतिबिम्ब विशिष्ट अहङ्कार ही जीव है उस पक्ष में अहङ्कार विशिष्ट प्रतिबिम्ब बिम्बभूत परमेश्वर की सायुज्यप्राप्ति के लिये अहङ्कारनाश के लिये प्रयत्नशील होता है। अथवा साभास अहङ्काररूप जीव अधिष्ठान चैतन्य रूप से अवस्थिति के लिये यत्नशील होता है। कहा जाता है 'स्वनाश के लिये प्रयत्न संगत नहीं हो सकता।' परन्तु यह भी ठीक नहीं, क्योंकि उत्पत्ति के पहले अधिष्ठान चैतन्य रूप से ही अहङ्कार स्थित था। अतः अधिष्ठान चैतन्य रूप से ही अवस्थिति की आकाङ्क्षा होनी असंगत नहीं है। ब्रह्म ही अपनी अविद्या से जीवभाव को प्राप्त होकर संसरण करता है। अतः वही जीवभाव विगम के लिये यत्नशील भी हो सकता है। सर्वथापि जीव को अहङ्कार तादात्म्याध्यास से होनेवाला अहंभाव ही बन्ध है। विद्या के द्वारा उसके समूलोन्मूलन से मोक्ष होता है। व्याधकुल सम्वर्धित राजकुमार के तुल्य प्रबोधमात्र से जीवभाव का बाध होता है—'अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य……।'

कहा जाता है "भले ही व्याधकुलवर्धित राजकुमार को स्वजन्म का ज्ञान न होने से व्याधबुद्धि हो परन्तु ब्रह्म को जीवभाव कैसे होगा क्योंकि वह तो ज्ञान स्वरूप ही है। परन्तु यह ठीक नहीं, क्योंकि यावद्व्यवहार अज्ञानावच्छिन्न

ब्रह्म रहता ही है। उसी से जीवभाव ब्रह्म में उपपन्न है, और वस्तुतः जीवभाव उपपन्न नहीं होता यह तो इष्ट ही है। इसी लिये तो माया से जीवभाव कहा जाता है। वही माया स्थाणु में पुरुषत्व, रज्जु में सर्पत्व, गगन में नीलत्व, स्वप्नद्रष्टा के विपिनसञ्चारि व्याघ्रत्व के तुल्य ब्रह्म में जीवत्व की कल्पना करती है। विद्या से उसी मायामय जीवत्व की निवृत्ति होती है। ज्ञान से मिथ्या वस्तु की ही निवृत्ति होती है। स्वाप में संस्काररूप से अहङ्कार रहता है किन्तु मुक्ति में उसका समूल नाश होता है। केवल अहङ्कार कभी भी नहीं रहता; सर्वत्र ही अहं जानामि, अहं पश्यामि आदि रूप से विशिष्ट अहङ्कार ही उपलब्ध होता है। मुक्ति में व्यवहार न होने से सुतरां अहङ्कार का अभाव रहता है। यदि मुक्ति में अहमर्थ होगा तो उसे अवश्य ही स्वानुभूत दुःख का स्मरण होगा।

यदि कहा जाय कि "प्रत्यभिज्ञा के बल से सुषुप्ति में भी त्रिपुटी मान्य है" तो वह ठीक नहीं, यदि ऐसा होता तब तो सुखमहं स्वाप्समि, नाहं किञ्चिद्वेद्मि, मामप्यहं न वेद्मि—मैं सुख से सो रहा हूँ, मैं कुछ नहीं जानता हूँ, मैं अपने को भी नहीं जानता ऐसा अनुभव होना चाहिये था। यदि कहा जाय कि त्रिपुटी रहने पर भी त्रिपुटी प्रतीत नहीं होती, जैसे बादल के समय रहता हुआ भी सूर्य दिखाई नहीं देता, तो यह ठीक नहीं। अप्रतीत होकर त्रिपुटी की सत्ता मान्य नहीं होती। क्योंकि त्रिपुटी जब होगी तब प्रतीत होकर ही रहेगी। सुषुप्ति में त्रिपुटी होने में कोई प्रमाण भी नहीं, प्रत्युत 'यत्रत्वस्य सर्वमात्मैवाभूत् तत् केन कं पश्येत्' इस श्रुति से यह विदित होता है कि जहाँ सब आत्मा ही होता है वहाँ किससे किसको देखा जाय?

कहा जाता है कि "यदि यह त्रिपुटी अनुभूत न होती तो इसका स्मरण भी नहीं बनता", परन्तु यह ठीक नहीं, क्योंकि साक्षी के द्वारा अनुभूत सुख एवं अज्ञान को साक्षि से अभिन्न प्रमाता से स्मरण किया जाता है, अतः स्मरण काल में ही अहं के भान होने से त्रिपुटीभान मान्य होता है। कहा जाता है कि 'फिर भी सुप्ति में साक्षी, सुख एवं ज्ञान तीनों हैं ही तो त्रिपुटी का अभाव क्यों? यदि त्रिपुटी सुप्ति में है तब तो सुख विषयक, अज्ञान विषयक, आत्म विषयक तीन वृत्ति मान ली गयी, फिर निर्विशेष ज्ञान कैसे सिद्ध हो सकता है? वृत्तिरूप प्रमाण, सुखादि प्रमेय एवं साक्षीरूप प्रमाता यदि सुप्ति में भी है ही तब जागर से सुप्ति में क्या विशेषता हुई?' परन्तु इसका समाधान यह है कि यद्यपि सुप्ति में उक्त तीनों वृत्ति होती है, तथापि जाग्रत्

के तुल्य एक विशिष्ट वृत्ति नहीं होती। जागर में 'घटमहं जानामि' यहाँ घटाकाश, अहमाकाश एक ही वृत्ति होती है। इसी विशिष्ट वृत्ति के कारण जागर ज्ञान सविकल्प होता है। सुप्ति में साक्ष्याकार वृत्ति, सुखाकार वृत्ति और अज्ञानाकार वृत्ति पृथक् पृथक् ही होती है, इसी लिये सुप्ति का ज्ञान निर्विकल्प होता है। विशिष्टवृत्तिजन्य विशिष्ट ज्ञान सविकल्प होता है, अविशिष्टवृत्ति-जन्य ज्ञान निर्विकल्प होता है। जिस ज्ञान में अहमाकार एवं इदमाकार का स्फुरण होता है वही सविकल्प एवं जहाँ वैस्फुरण नहीं होता वह निर्विकल्प है।

फिर भी कहा जाता है कि 'सुप्ति में अहं नहीं होता इसलिये अहमाकार वृत्ति न हो, परन्तु विषय, सुखादि है ही फिर इदमाकार वृत्ति क्यों नहीं होती?' परन्तु यह ठीक नहीं, क्योंकि ज्ञाता की अहन्ता रहने पर ही ज्ञेय की इदन्ता भासित होती है। ज्ञेय की इदन्ता का प्रत्यय ज्ञाता को ही होता है, अतः सुप्ति में प्राज्ञ कर्ता, सुख कर्म एवं अविद्या वृत्तिरूप करण से सुख का अनुभव होने पर भी, उस अनुभव में अहमाकार एवं इदमाकार न होने से वह अनुभव निर्विकल्प ही है। सुप्ति में त्रिपुटीशून्यता रहती है। प्रमाता आदि का होना हीं त्रिपुटी सत्य माना जाता है। कहा जा सकता है कि 'प्राज्ञ ही प्रमाता है'। पर यह ठीक नहीं, क्योंकि प्रमाता ही सर्वसंसार से उत्तीर्ण होकर प्राज्ञ होता है। संसारी प्रमाता होता है। यद्यपि वह भी संसारी ही कहा जाता है, परन्तु 'अन्धोप्यन्धोभवति' इत्यादि श्रुति के अनुसार प्राज्ञ संसारधर्मातीत सिद्ध होता है। इसी लिये यह भी सिद्ध होता है कि जीव का संसार स्वाभाविक नहीं है किन्तु आगन्तुक ही है। असंसारी होने से ही उसका ब्रह्म से अभेद संभव होता है।

फिर कहा जाता है कि "यदि सुप्ति में अनुभविता, अनुभाव्य एवं अनुभवकरण ये विशेष हैं ही, केवल अहमाकार, इदमाकार विशेष के न होने से ही उस ज्ञान को निर्विकल्प कहा गया है; तब तो कतिपय विशेषरहित न होने के कारण ही निर्विकल्प ज्ञान कहा जाता है यही बात सिद्ध हुई।" पर यह ठीक नहीं, क्योंकि सौषुप्त ज्ञान में साक्षी, या सुख, या अज्ञान कोई भी विषय हो सभी निर्विशेष ही होता है। इसलिये निर्विकल्प ज्ञान सविशेष विषयक नहीं होता। कहा जाता है कि 'अज्ञान सविशेष ही है' पर यह ठीक नहीं, क्योंकि भले ही जागर एवं स्वप्न में सविलास (कार्यसहित) होने से अज्ञान सविशेष हो परन्तु सुप्ति में प्रलय तुल्य निर्विलास होने से अज्ञान निर्विशेष ही रहता है। फिर भी कहा जाता है कि 'केवल अज्ञान तो कभी भी नहीं रहता किन्तु अज्ञानावच्छिन्न चैतन्य या चैतन्य सहित अज्ञान ही सदा विषय रहता है और वह सविशेष ही

होता है'। परन्तु यह भी ठीक नहीं, क्योंकि अज्ञान एवं चैतन्य से अतिरिक्त ही विशेष से सविशेषता का प्रसङ्ग हो सकता है; क्योंकि अज्ञान तो चैतन्य की शक्ति ही है अतः वह चैतन्य से भिन्न या अभिन्न रूप से निरुक्त नहीं हो सकता। यों तो 'अयं घटः' इस ज्ञान में भी घट एवं तदवच्छिन्न चैतन्य भी विषय है ही, तथापि एक घट को ही मैंने जाना यही व्यवहार होता है। कहा जाता है कि 'सामान्यजन यद्यपि घट को समझता है तथापि विद्वान घट एवं चैतन्य दोनों को ही जानता है'; परन्तु इस तरह विद्वान् अज्ञानावच्छिन्न चैतन्य को भी जाने तो भी कोई हर्ज नहीं। इस पर कहा जाता है कि 'फिर तो अज्ञान का अनुभव सविशेषक विषयक होने से सविकल्प ही हो गया।' परन्तु वस्तुतः वृत्तिज्ञान सर्वथा निर्विकल्प नहीं होता। इसी तरह उसका विषय भी सर्वथा निर्विकल्प नहीं होता। पारमार्थिक अनवच्छिन्न ब्रह्म चैतन्य ही मुख्य निर्विकल्प होता है। वृत्तिज्ञान का विषयभूत चैतन्य भी सविकल्प ही होता है किन्तु अनवच्छिन्न चैतन्य वृत्तिज्ञान का विषय भी नहीं होता। कहा जाता है कि 'समाधि में अज्ञान होता नहीं, अतः उस समय वृत्ति का विषयभूत चैतन्य अनवच्छिन्न नहीं रहता है'। परन्तु यह कहना ठीक नहीं, क्योंकि अज्ञान के न रहने पर तत्कार्य अन्तःकरण वृत्ति भी नहीं रह सकती, अतएव चरमावृत्ति के समय और उपाधि न रहने पर भी वृत्ति स्वयं ही उपाधि है। इसी लिये निर्बीज समाधि में वृत्ति की सत्ता भी स्वीकृत नहीं होती, क्योंकि उस समय बीज अज्ञान नहीं होता। फिर भी वृत्तिज्ञान को निर्विकल्प कहा जाता है। जैसे वृत्ति में उपचार से ज्ञानत्व का व्यवहार होता है वैसे ही निर्विकल्पत्व का भी व्यवहार होता है। जिस ज्ञान का विषय अज्ञानकार्य होता है वह सविकल्प तथा जिसका विषय अज्ञानकार्य न हो वह निर्विकल्प होता है। इस पर यदि यह कहा जाय कि कतिपय विशेषराहित्य निर्विकल्पकता है, यह प्रतिवादी का कथन ही आपको स्वीकार करना पड़ा तो यह ठीक नहीं, कारण प्रतिवादी प्रथम पिण्ड ग्रहण को ही निर्विकल्प मानता है। अथवा जिस ज्ञान में वस्तु स्वरूप ही विषय होता है वह निर्विकल्प और जिसमें वस्तु स्वरूप के अतिरिक्त नाम, जाति आदि विषय होते हैं वह सविकल्प है। सुप्ति के ज्ञान में अज्ञान, सुख एवं आत्मा का स्वरूप ही गृहीत होता है, जाति आदि नहीं, अतः सौषुप्तज्ञान निर्विकल्प ही है। यदि कहा जाय कि सुप्ति में भी अज्ञान विषयक ज्ञान को निर्विकल्प नहीं कहा जा सकता; तो यह ठीक नहीं, क्योंकि सुप्ति में अज्ञान स्वरूप ही गृहीत होता है, नाम जाति आदि उसके साथ नहीं भासित होते। कहा जाता है कि 'अज्ञान

का क्या स्वरूप है जो ज्ञान में भासित होता है?' परन्तु प्रश्नकर्ता से ही प्रश्न किया जा सकता है कि आप अज्ञान का स्वरूप जानते हैं या नहीं? यदि नहीं तो उस न जानने का स्वरूप ही क्या हो सकता है? यदि यह कहा जाय कि यह भी नहीं कहा जा सकता, तो फिर प्रश्न होगा कि अवेदन का अनुभव न होना वचनाशक्ति का मूल है अथवा अनुभव होने पर वाणी एवं मन का अविषय होना ही मूल है? पहला पक्ष ठीक नहीं क्योंकि 'नाहं वेद्मि' मैं नहीं जानता यह कथन बिना अनुभव के नहीं हो सकता। दूसरा पक्ष भी ठीक नहीं क्योंकि अज्ञान के जान लेने पर तद्विषयक प्रश्न व्यर्थ ही है; अतः जैसे सुख दुःख अनुभवैकवेद्य है वैसे ही अज्ञान भी अनुमान से वेद्य होता है। यदि अद्वैत-सम्मत अज्ञान का स्वरूप जानने के लिए प्रश्न है तो उसका उत्तर यही है कि घटादि द्वैत प्रपञ्च का जो रूप है वही द्वैतकारणभूत अज्ञान का भी स्वरूप है।

यदि कहा जाय कि घटादि का कम्बुग्रीवादि रूप प्रसिद्ध ही है तो यह ठीक नहीं। घटादि मृत्तिकादि रूप ही है, कुलाल ने मृत्तिका को ही कम्बुग्रीवादि आकार-वाली बनाया है। यदि कहा जाय कि इस तरह तो घटादि स्वतः निस्तत्त्व ही हैं, तो इसी तरह अज्ञान को भी निस्तत्त्व ही समझना चाहिये। कहा जाता है कि भले ही घटादि निस्तत्त्व ठहरें परन्तु मृत्तिकादि तो सत्य ही हैं, अतएव 'मृत्तिकेत्येव सत्यम्' श्रुति है, परन्तु यह भी ठीक नहीं, क्योंकि मृत्तिका का स्वरूप लक्षण निश्चित नहीं होता। मृत्तिका क्या है यह विचार करने से गन्धवत्त्व पृथिवी का लक्षण नहीं कहा जा सकता, क्योंकि यह तटस्थ लक्षण है, स्वरूप लक्षण नहीं। ऐसे ही नील रूपवत्त्व, काठिन्यवत्त्व आदि भी लक्षण नहीं, क्योंकि ये सब गुण हैं, मृत्तिका द्रव्य है, अतः उसके स्वरूप नहीं। पिण्ड मृत्तिका का स्वरूप है यह भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि वह भी मृत्तिका से ही आरब्ध है। पट का आरम्भक तन्तु पट का स्वरूप नहीं होता। कार्य के पहले ही कारण सिद्ध होता है। चूर्णपुञ्ज मृत्तिका है यह भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि पुञ्ज अतात्त्विक ही होता है। पुञ्जघटक अवयवों से भिन्न पुञ्ज कोई वस्तु नहीं। चूर्ण त्रसरेणु मात्र नहीं है। वह भी परमाणुमात्र है। परमाणु यदि सावयव है तो वह भी अवयवों से भिन्न नहीं। निरवयव है तो वह सावयव मृत्तिकारूप कैसे हो सकता है? यदि कहा जाय कि मृत्तिका भी निरवयव ही है तो प्रत्यक्ष विरोध है। इसी तरह अनिर्वचनीय ही जगत् का रूप है। वस्तुतः सविकल्प ज्ञान एवं उसका विषय ही भ्रमसिद्ध है। तथा भ्रमो-त्पादनभूत, अनादि, अनिर्वचनीय, भावरूप ही अज्ञान है।

अनुभूति की निर्धर्मकता

भेद आदि धर्म अनुभूति के धर्म नहीं हैं, दृश्य होने से, रूपादि के तुल्य, अर्थात् जो भी ज्ञान का विषय है वह अनुभूति का धर्म नहीं होता, जैसे रूप। इसी तरह धर्म सभी दृश्य हैं अतः अनुभूति के धर्म नहीं ठहरेंगे। इस तरह अनुभूति की निर्धर्मकता सिद्ध होती है। एकत्व, नित्यत्व, स्वप्रकाशत्व आदि धर्म भी मिथ्या ही हैं अतएव अपसिद्धान्त आदि दोष नहीं ठहरता। जो कहा जाता है कि निर्धर्मक अनुभूति बौद्ध भी मानता है क्योंकि उसके यहाँ भी अनित्यत्वादि धर्म अनुभूति के स्वरूप ही हैं। अद्वैती के यहाँ नित्यत्वादि धर्म अनुभूति के स्वरूप हैं। जब निर्धर्मक अनुभूति दोनों ही को मान्य है तब इनका आपस में शास्त्रार्थ कैसा? परन्तु यह ठीक नहीं, शास्त्रार्थ आदि तो व्यवहार में ही बनता है। व्यवहार में नित्यत्व, एकत्व आदि है ही। उसी को लेकर मतभेद और शास्त्रार्थ चल सकता है। अथवा नित्यत्व, एकत्व आदि अनित्यत्व एवं अनेकत्व के निषेध में ही पर्यवसित होता है। ऐसे ही बौद्धों का अनित्यत्व आदि नित्यत्व आदि के निषेध में पर्यवसित होता है, इस दृष्टि से शास्त्रार्थ है। निषेध अधिकरणरूप ही है, उसके द्वारा भी सविशेषता का डर नहीं है।

"इसी तरह अनुभूति के निर्विशेषत्व साधकानुमान में पक्षभूत अनुभूति से यदि लोकप्रसिद्ध ज्ञान ग्राह्य है तो वह आश्रयत्व, विषयत्व, परोक्षत्व, अपरोक्षत्व आदि अनेक विशेषणों से युक्त ही है, तथाच बाध दोष है। यदि वेदान्तवेद्य ब्रह्मरूप अनुभूति पक्ष है तो वह वेदान्तप्रोक्त विविध विशेषण से युक्त है, अतः तब भी बाध दोष होगा।" परन्तु यह भी ठीक नहीं, क्योंकि सन्दिग्ध साध्यवान् पक्ष होता है, अतः लोकप्रसिद्ध अनुभूति को ही पक्ष कहा जा सकता है। आश्रयत्व, विषयत्व आदि अनुभूति के विशेष प्रमासिद्ध हैं या भ्रमासिद्ध, यह संशय होता है। अनुमान से अनुभूति की निर्विशेषता सिद्ध करके सविशेष्यत्व को भ्रमसिद्ध बताया जाता है। वेदान्तसिद्ध ब्रह्मरूप अनुभूति को पक्ष बनाने में भी कोई बाधा नहीं है; क्योंकि वेदान्तप्रोक्त विशेषबोधक वचन भी उपासना विधिशेष होने से तत्पर नहीं है अतः निर्गुणबोधक तत्पर श्रुति से विरोध होने से वे विशेष भी अपारमार्थिक ही ठहरते हैं।

"अनुभूति सधर्मक है, क्योंकि वह प्रकाशनेवाला पदार्थ है, घटादि के समान"। परन्तु यह भी ठीक नहीं, क्योंकि बुद्धि वृत्तिरूप अनुभूति को लेकर सिद्धसाधन दोष है। ब्रह्मरूप अनुभूति में घटादि तुल्य प्रकाश्यता है ही नहीं अतः स्वरूपासिद्धि दोष है। स्वप्रकाशत्व हेतु कहें तो दृष्टान्तसिद्धि दोष है। यह भी कहा जाता है कि 'एकत्व, नित्यत्व आदि धर्म वादियों के प्रति प्रमाण से सिद्ध किये जाते हैं अतः इन नित्यत्व, एकत्व आदि धर्मों से युक्त होने के कारण अनुभूति सधर्मक है'। परन्तु यह भी ठीक नहीं; एकत्व, नित्यत्व आदि से अनेकत्व अनित्यत्व का निषेधमात्र अभीष्ट है क्योंकि सविषयत्व आदि निर्विशेषत्व बोधक वचनों से विरुद्ध है।

'रूपं यत्तत्प्राहुरव्यक्तमाद्यं सत्तामात्रं निर्विशेषं निरीहम्।
त्वं त्वेशानं क्षेमधाम प्रपद्ये ॥'

अहमर्थविचार

अद्वैतियों का यह कहना ठीक ही है कि अभावज्ञान में प्रतियोगी और अनुयोगी का ज्ञान आवश्यक होता है, अतः सुप्ति में ज्ञानाभाव का अधिकरणरूप अनुयोगी एवं ज्ञानरूप प्रतियोगी का ज्ञान होना ही चाहिये; इन दोनों के रहते हुए फिर ज्ञानाभाव कैसे कहा जा सकेगा ? यदि कहा जाय कि 'संविद्रूप आत्मा ज्ञानाभाव का अधिकरण नहीं हो सकता किन्तु अहमर्थ ही ज्ञानाभाव का अधिकरण होता है; क्योंकि मैं नहीं जानता इस अनुभव से अहमर्थ को ही ज्ञानाभाव का अधिकरण कहा जा सकता है। इस तरह तो सुप्ति में ज्ञानाभाव के अधिकरणरूप से अहमर्थ का ही प्रकाश सिद्ध होता है, इससे संविद् का प्रकाश नहीं सिद्ध होता।' परन्तु यह भी ठीक नहीं, क्योंकि सुप्ति में अहमर्थ का भान अनुभवविरुद्ध है। सुप्ति में 'मेरे में ज्ञान नहीं था' इसका यही अर्थ है कि अविद्याविशिष्ट प्राज्ञ में ज्ञान (विशिष्ट ज्ञान) नहीं था। यह कहा ही जा चुका है कि अहं शब्द का लक्ष्य अर्थ अहमर्थभिन्न साक्षी या शुद्ध आत्मा भी होता है। उसी को लेकर 'अहं नाज्ञासिषम्' उस समय मैं कुछ भी नहीं जानता था ऐसी स्मृति होती है। यह स्मृति अहंकार के समकाल में होती है अतः उसमें अहं का प्रयोग जुड़ जाता है। अतएव सुप्ति में 'मैं नहीं जानता हूँ' ऐसा अनुभव होता है यह कहना असंगत ही है। वस्तुतः सुप्ति में भावरूप अज्ञान 'नाहं किञ्चिद्वेदिषम्' मैं कुछ नहीं जानता, इस स्मृति से सिद्ध होता है।

विशिष्ट ज्ञानाभाव तो तत्परिचायक रूप से ही सिद्ध होता है। इसी लिये सुप्ति में अहं का प्रकाश मानना सर्वथा निराधार है। जो कहा जाता है कि "अहमर्थ आत्मा का स्वरूप है, वह सदा प्रकाशता रहता है। अहं ऐसा प्रकाश आत्मा का स्वरूप है, अहं ऐसा ज्ञान स्वरूप होकर रहता है। वह अहं ऐसे ज्ञान का आश्रय नहीं है क्योंकि सुप्ति के समय आत्मा में अहं ऐसा धर्मभूत ज्ञान नहीं होता, किन्तु आत्मा का स्वरूपभूत ज्ञान ही अहं ऐसा प्रकाशरूप होकर रहता है। अतएव सुप्ति में 'अहं ऐसा अभिमान करता रहा' ऐसा अनुभव नहीं होता।" परन्तु यह सब कथन निःसार है, क्योंकि यदि सुप्ति में अहं निजरूप से न प्रकाशता हुआ ज्ञानरूप से प्रकाशता है तब तो सुप्ति में अहं का अभाव सिद्ध ही हो गया। यदि अहं विषयक प्रकाशरूप से अहं प्रकाशता रहा तब तो

अहं ऐसा अभिमान भी होना ही चाहिये; और अहंविषयक ज्ञान तो धर्मभूत ही ज्ञान है, सुप्ति में धर्मभूत ज्ञान प्रतिवादी को मान्य ही नहीं। अहंविषयक प्रकाश या अहंविशिष्ट प्रकाश से भिन्न अहन्त्वप्रकारक प्रकाश कुछ भी सिद्ध नहीं होता, श्रुति प्रमाण से तो आत्मा ही सुप्ति में सिद्ध होता है, अहं का अस्तित्व नहीं सिद्ध होता। प्रत्युत पूर्वोदाहृत श्रुतियों से 'मैं यह हूँ' इस रूप से सुप्ति में अहं का ज्ञानाभाव ही सिद्ध है। हम ही सोते थे, हम ही स्वप्न देखते थे, ऐसे अनुभवों से सुप्ति में अहं लक्ष्य आत्मा का ही अस्तित्व सिद्ध होता है, अहं वाच्य का नहीं। अद्वैती भी 'हम सोते रहे' से प्राज्ञ आत्मा का ही अस्तित्व मानता है, इससे सुप्ति में न अहं का ही सद्भाव सिद्ध होता है न प्रकाश ही सिद्ध होता है।

मुक्ति में भी अहमर्थ नहीं रह सकता। अहंकार ही तो बन्ध है। जब तक उसका बाध नहीं तब तक मुक्ति नहीं कही जा सकती। कहा जाता है "एतमितः प्रेत्याभि संभवितास्मि'—(छा० ३।१४); 'विरजा विपाप्मा भूयासम्'-(तै० १०।१३); ब्रह्मलोकमभि संभवामि'–(छा० ८।१३) इत्यादि श्रुतियों में कहा गया है कि देह से छूटकर इस परमात्मा को प्राप्त करूँगा, मैं गुणरहित होकर पापरहित हो जाऊँ, मैं ब्रह्मलोक को प्राप्त करूँ। यहाँ स्पष्ट मुक्ति में अहमर्थं का सम्बन्ध मालूम पड़ता है। इसी तरह 'अहमन्नमहमन्नमहमन्नम् अहमन्नादोऽहमन्नादोऽहमन्नादः'–(तै० २।१०) से प्रतीत होता है कि आनन्दमय परमात्मा को प्राप्त करके सामगान करता हुआ कहता है—मैं अन्न हूँ, परमात्मा का भोग्य हूँ और परमात्मा भी मेरा भोग्य है। इससे भी मुक्ति में अहमर्थ का अस्तित्व विदित होता है।" परन्तु उक्त कथन ठीक नहीं है। यहाँ सर्वत्र अहं शब्द का प्रयोग अहं पद लक्ष्यार्थ शुद्ध आत्मा में ही है। 'शास्त्रदृष्ट्यातूपदेशः' इत्यादि अधिकरण में जैसे वामदेव शुद्ध आत्मा में ही अहं शब्द का प्रयोग करते हुए उसके ही सर्वात्मत्व का प्रतिपादन करते हैं, ठीक वैसे ही उक्त सभी स्थलों में शुद्ध आत्मा में ही लाक्षणिक अहं शब्द का प्रयोग है। आत्मा ही अन्न एवं अन्नाद रूप में प्रतिभासित होता है, उससे भिन्न होकर कुछ भी नहीं है, यही 'अहमन्नम्' आदि श्रुति का भी अर्थ है। अतः केवल अस्मि एवं अहं शब्द का प्रयोग देखकर ही सर्वत्र अहंकार का अस्तित्व नहीं माना जा सकता। इसी तरह कहा जाता है "एष ह्येवानन्दयति', 'रसꣳह्येवायं लब्ध्वानन्दीभवति'–(तै० २–७) से प्रतीत होता है कि परमात्मा ही सब को आनन्दित करता है,

उसी को पाकर मुक्त प्राणी आनन्दी होता है। यदि मुक्ति में अहमर्थ ही न रहे तो कौन आनन्दी होगा? यदि आत्मा को 'मैं आनन्द अनुभव कर रहा हूँ' ऐसा अनुभव न हो तो आनन्द का होना न होना एक सा ही होगा।" परन्तु यह भी ठीक नहीं है; क्योंकि मुक्ति में ही नहीं, अपितु उक्त श्रुति से तो यही सिद्ध होता है कि संसार काल में भी परमात्मा ही सब को आनन्दित करता है क्योंकि आनन्द सिवा परमात्मा के अन्यत्र कहीं है नहीं। अतः संसार दशा में भी जो आनन्द मिलता है वह परमात्मा से ही मिलता है। संसार दशा में रस स्वरूप परमात्मा को पाकर प्राणी अनुभव करता है कि मैं आनन्दवाला हूँ।

यह बात अलग है कि वह रस स्वरूप परमात्मा को पहचानता नहीं। मुक्ति में भी सावरण परमात्मा को ही प्राप्तकर प्राणी सुखी होता है। मुक्ति दशा में तो सर्वावरणशून्य, परमानन्द स्वरूप परमात्मा को प्राप्तकर आत्मा स्वप्रकाश सुख स्वरूप ही हो जाता है। उस समय अहमर्थ के द्वारा तद्भिन्न किसी अनुभव सुख का वृत्तिरूप अनुभव मानना उचित नहीं है, क्योंकि द्वितीय या भेद की कल्पना तो दुःख ही है। 'द्वितीयाद्वै भयं भवति', 'उदरमन्तरं कुरुते', 'अथ तस्य भयं भवति।' द्वितीय की कल्पना से अथवा किंचिद् भी भेद की कल्पना से भय ही होता है। अहमर्थ स्वयं ही संसार है। जहाँ अहमर्थ रहेगा वहाँ उसका धर्म कामादि भी रहेगा। कभी भी धर्महीन धर्मी नहीं रहता है अतः अहमर्थ के रहने पर उसका धर्म भी रहेगा, फिर मुक्ति कैसी?

संवित् निष्प्रपञ्च ही है

कहा जाता है कि "इसी तरह संविद् के सम्बन्ध में भी कहा जा सकता है। संविद् रहेगी तो अज्ञान एवं संसार भी बना रहेगा। क्योंकि संसार दशा में संविद् के रहने पर अज्ञान एवं संसार बना रहता है।" परन्तु यह ठीक नहीं, क्योंकि संविद् में अज्ञान एवं संसार अध्यस्त ही होता है। संसार और अज्ञान संविद् का धर्म नहीं है। अधिष्ठान के साक्षात्कार से अध्यस्त की निवृत्ति हो ही जाती है। यदि इसी तरह अहमर्थ आत्मा का भी कामादि आरोपित धर्म माना जायगा, तब तो सिद्धान्तभंग होगा क्योंकि प्रतिवादी कामादि को आरोपित नहीं मानता। अतएव उनकी अधिष्ठान साक्षात्कारमात्र से निवृत्ति नहीं मानता। सिद्धान्त में इच्छा, द्वेष, सुख, दुःखादि सब क्षेत्र के धर्म हैं, संविद् के धर्म नहीं। संविद् क्षेत्रज्ञ है, अहंकार भी बुद्धि या अन्तःकरण रूप होने से क्षेत्र ही है। 'कामः, संकल्पो, विचिकित्सा, श्रद्धा, अश्रद्धा, ह्री, धी, भीः एतत्सर्वं मन एव' इस श्रुति में मनरूप अन्तःकरण के ही कामादि धर्म हैं, ऐसा कहा गया है। संसार में भ्रान्तिवशात् क्षेत्र धर्म संविद्रूप क्षेत्रज्ञ में अध्यस्त होता है। मुक्ति दशा में वह अध्यास मिट जाता है। जो कहते हैं कि 'अहमर्थ अहंकार नहीं है अतएव मोक्ष में अहंकार के न रहने पर भी अहमर्थ रहता है'; यह ठीक नहीं। जैसे घट घटार्थ नहीं है यह कहना असंगत है, वैसे ही अहम् अहमर्थ नहीं है यह कहना भी असंगत ही है। फिर यदि अहं शब्द का अहम् अर्थ न मानकर अन्य अर्थ मान्य है तब तो अहं शब्द का निर्विशेष संविद्-रूप आत्मा ही अर्थ मान लीजिये, फिर कोई विवाद ही नहीं रह जाता। अहमर्थ को आत्मा न मानने से मोक्ष शास्त्र का कोई अधिकारी न मिलेगा, इत्यादि बातों का समाधान पर्याप्त रूप में किया जा चुका है। जैसे दुःखविशिष्ट प्राणी निर्दुःख होने का प्रयत्न करता है, वैसे ही सोपाधिक आत्मा (अहंकारविशिष्ट चैतन्य) निरुपाधिक आत्मा होने के लिये प्रयत्न कर ही सकता है। अतएव राज्य चाहनेवाले का शिरश्छेद जैसी कल्पना नहीं की जा सकती है। यों तो देहादि विशिष्ट भी स्वात्मनाश की कल्पना से मोक्ष में नहीं प्रवृत्त होगा, अतः जैसे देहादि विशिष्ट का नाश आत्मनाश नहीं है वैसे ही अहंकारादि विशिष्ट का नाश भी आत्मनाश नहीं है। 'तमेव विदित्वाति मृत्युमेति' (श्वे० ३

अ०) इत्यादि श्रुतियाँ भी संविद्रूप आत्मा का ही अमृत होना कहती हैं। 'अविद्या के द्वारा जो मृत्युमान् था वही विद्या के द्वारा अमृत होता है। जो मृत्युवाला था वही अमृत होता है', इत्यादि अर्थ करने का आग्रह 'सार-शून्य है।' तत्त्व साक्षात्कार से मर्त्य की मृत्यु एवं बाध्य का बाध होता ही है।

'इह मर्त्यो अमृतो भवति' इत्यादि श्रुति का यही अर्थ है कि अविद्या-ध्यारोपित मृत्युवाला संविद्रूप आत्मा विद्या के द्वारा अध्यारोप का बाध करके अमृत हो जाता है अर्थात् उसका स्वाभाविक अमृतत्व व्यक्त होता है; अतएव 'विमुक्तश्च विमुच्यते' विमुक्त ही विमुक्त होता है यह भी कहा गया है। अतएव 'ब्रह्मवेद ब्रह्मैव' भवति' (मु० ६–२); 'सर्वं ह पश्यः पश्यति' (छा० ७।२६) इत्यादि श्रुतियों से विरोध बतलाना भी निराधार ही है। यहाँ सर्वत्र सोपाधिक आत्मा ब्रह्म को जानकर निरुपाधिक ब्रह्म स्वरूप हो जाता है, यही कहा गया है। मुक्त ज्ञान स्वरूप होकर अपने में अध्यस्त सभी विषयों का प्रकाशन करता है, यही अर्थ है। यहाँ अहंकारविशिष्ट ज्ञाता नहीं ग्राह्य है क्योंकि वह सर्वद्रष्टा नहीं बन सकता। अहंकारविशिष्ट तो तत्तत्प्रमाणों के परतन्त्र सीमित ही ज्ञानवाला होता है। ब्रह्म जाननेवाला ब्रह्म होता है, यह वचन भी प्रतिवादी के प्रतिकूल ही है। अब्रह्म का ब्रह्म होना असंभव ही है। जो ब्रह्म तो हो किन्तु अविद्या से उसमें अब्रह्मत्व का आरोप हो रहा हो, वहीं विद्या से अब्रह्मत्व निवृत्ति एवं ब्रह्मत्व की प्राप्ति होती है। उसी ब्रह्म में अहंकारवैशिष्ट्य होने से ज्ञातृत्व आदि भी उपपन्न होता है, यह पूर्वाचार्यों ने कहा ही है।

अत्तमा भवतः केयं साधकत्व प्रकल्पने।
किं न पश्यसि संसारं तथैवाज्ञान कल्पितम्॥

अर्थात् ब्रह्म में साधकत्व ज्ञातृत्व आदि की कल्पना में ही क्यों असहिष्णुता है? संपूर्ण संसार को ही उसी ब्रह्म में अज्ञान से कल्पित क्या नहीं देखते हो। यदि मोक्ष में ज्ञातृत्वरूप कर्तृत्व का योग रहेगा तो वह निर्विकार मोक्ष ही नहीं हो सकता। कहा जाता है "अद्वैतियों के अनुसार अध्यास एक वृत्ति है और वह अन्तःकरण का धर्म है अतः अन्तःकरण भले ही दुखी एवं श्रोता आदि बने परन्तु संविद्रूप आत्मा में यह सब नहीं हो सकता"। परन्तु यह भी ठीक नहीं, क्योंकि वेदान्तियों के मत में अध्यास अविद्या वृत्ति है, अन्तःकरण वृत्ति नहीं अतः अविद्यावान् आत्मा में ज्ञातृत्व मन्तृत्व आदि सब बन ही सकता है।

वस्तुतः ज्ञातृत्वादि न होना इष्ट ही है, अतएव 'अहमर्थ की आत्मा को मुक्त करनेके लिये प्रवृत्ति वैसी ही होगी जैसे मरणशय्या पतित प्रियतमा को उज्जीवित करने के लिये पति का अपना शिर काटकर देवी को बलिदान करना।' यह कथन भी निःसार ही है क्योंकि स्वर्गादि के लिये स्वयं ही यज्ञादि द्वारा तथा परोपकारादि के लिये स्वात्मनाश भी प्रसिद्ध ही है। यदि कहा जाय कि वहाँ तो देहादि का नाश आत्मनाश रूप से प्रसिद्ध है, वास्तविक आत्मा तत्फल-भोक्ता अनष्ट ही रहता है तो यहाँ भी उसी तरह समझ लेना चाहिये। प्रकृत में भी अहंकार ही का नाश होता है। अहंकारोपलक्षित आत्मा यहाँ भी मुक्ति-फलभागी बना ही रहता है। जैसे अज्ञानी भ्रम से देहादि को आत्मा मानता है वैसे ही भ्रम से ही अहं को भी आत्मा माना जाता है। फिर भी देहादि सहित में साधकत्व आदि होता है वैसे ही अहंकार सहित में साधकत्वादि होता है। जैसे साध्य देह में ही साधकत्व होता है वैसे ही साधिष्ठान अहं में साधकत्वादि होता है। जैसे देह के नष्ट होने पर भी आत्मा अवशिष्ट रहता है वैसे ही अहं के नष्ट होने पर भी अधिष्ठान अवशिष्ट रहता है। केवल आत्मा में मोक्षार्थ प्रयत्न अनुपपन्न होने पर भी अन्तःकरणविशिष्ट चैतन्य में प्रयत्न आदि उपपन्न ही होते हैं। जब अविद्या एवं तत्कार्य अन्तःकरणादि का भी अधिष्ठान चैतन्य ही है तब सुतरां आत्मा में ज्ञातृत्वादि की आश्रयता के तुल्य अध्यासाश्रयता होने में भी कोई आपत्ति नहीं होती। जब रज्जु में कल्पित सर्प की आश्रयता बनती है तो भय कम्पन आदि जनकत्व का आश्रय होने में क्या बाधा होगी? कहा जाता है 'अद्वैत मत में चैतन्य बन्ध का आश्रय नहीं होता।' परन्तु यह भी ठीक नहीं; जिस परमार्थ दृष्टि से चैतन्य बन्ध का आश्रय नहीं होता उस दृष्टि से वह मोक्ष का भी आश्रय नहीं होता। आरोप दृष्टि से दोनों ही आत्मा में बनते हैं। अतएव श्रीमद्भागवत का वचन है—

> अज्ञानसंज्ञौ भवबन्धमोक्षौ द्वौ नाम नान्यौस्त ऋतज्ञ भावात्।
> अजस्रचित्यात्मनि केवले परे विचार्यमाणे तरणाविवाहनी॥

अर्थात् भव बन्ध एवं मोक्ष दोनों ही सत्य ज्ञानानन्तानन्दस्वरूप आत्मा में वस्तुतः वैसे ही नहीं हैं जैसे सूर्य में दिन रात नहीं होते। अन्य की दृष्टि से जैसे सूर्य के कारण ही सूर्य के सन्निधान में दिन एवं असन्निधान में रात्रि की कल्पना होती है वैसे ही अविद्या प्रत्युपस्थापित अहङ्कारादि से विशिष्ट चैतन्य में ही निरावरण ब्रह्मदृष्टि से मोक्ष की एवं सावरण ब्रह्मदृष्टि से बन्ध की

कल्पना होती है। जैसे अन्यारोपित वह्नि के द्वारा गुञ्जापुञ्ज का दाह नहीं होता वैसे ही अहंकारादि के योग से बन्ध का आरोप होने पर भी वस्तुतः आत्मा नित्यमुक्त ही है; यह आपादन दूषण नहीं भूषण ही है।

कहा जाता है "अवाञ्छित विशेषणों से विशिष्ट पदार्थ यदि उन विशेषणों को त्यागकर बना रहे तो वही स्थिति मोक्ष कहने योग्य हो सकती है, परन्तु यहाँ तो अवाञ्छित विशेषणों के साथ अहं को भी नष्ट होना पड़ता है। फिर उसे मोक्ष कैसे कहा जाय? जैसे रोगनिवृत्ति के लिए आत्महनन कर लेना बुद्धिमानी नहीं उसी प्रकार अहंकार का नाश भी मोक्ष नहीं"। परन्तु यह कथन भी निःसार है क्योंकि प्रकृत में भी अहंकारविशिष्ट आत्मा अहंकाररूप विशेषण को त्यागकर स्थित रहता ही है। फिर तो प्रतिवादी की परिभाषा के अनुसार भी अद्वैत सिद्धान्त के मोक्ष में कोई बाधा नहीं। रोगादि निवृत्ति के लिए देहादि सम्बन्ध विच्छेदार्थ प्रतिवादी भी प्रयत्नशील होता ही है। तभी तो देहादि सम्बन्ध शून्य मोक्ष का प्रयत्न प्रतिवादी भी करता ही है। वस्तुतः जैसे कोयला के रहते हुए उससे कालिख की निवृत्ति की आशा रखना व्यर्थ है वैसे ही अहंकार के रहते हुए उससे अवाञ्छित विशेषणों की निवृत्ति की आशा रखनी व्यर्थ है। अहंकार में संसार वैसा ही है जैसे कोयले में कालापन। किन्तु आत्मा में संसार वैसा है जैसे स्वच्छ वस्त्र में कोयले के संसर्ग से कालापन होता है। स्वच्छ वस्त्र में कोयले के संसर्ग से आनेवाला कालापन मिट सकता है परन्तु कोयले से कालापन नहीं मिट सकता। प्रकृत में अहंकार के द्वारा आत्मा में संसार आरोपित है अतः उसकी निवृत्ति संभव है, परन्तु अहङ्कार से संसार की निवृत्ति असंभव ही है। जैसे कोई सुन्दरी भिक्षुकी भिक्षा में अभिनिविष्ट होकर भिक्षुकीत्व को छोड़कर साम्राज्ञी भी नहीं बनाना चाहती वैसे ही कई देहात्मवादी देह छोड़कर मुक्ति भी नहीं चाहते। ऐसे ही लोग शृगाल बनकर रहना पसन्द करते हैं परन्तु देहहीन मोक्ष को आत्मनाश ही मानते हैं, वैसे ही कई लोग अहङ्कार में अभिनिविष्ट होकर अहङ्कारहीन मोक्ष से भी डरते हैं। इसी लिये गौडपादाचार्य ने कहा है कि सर्वदृश्यविहीन अद्वैतात्मविज्ञान अस्पर्श योग है। यह ब्रह्मविद् के अतिरिक्त सर्वयोगियों के लिये दुर्दश है। इसी लिये वे लोग इस निर्भय पद से भी भयभीत होते हैं।

"अस्पर्श योगो नामैष दुर्दशः सर्वयोगिनाम्।
योगिनो बिभ्यतिह्यस्माद्भये भयदर्शिनः॥"

अतएव 'अवस्थितेरिति काशकृत्स्नः' इस बादरायण सूत्र के अनुसार अद्वैतियों के सिद्धान्तानुसार मोक्ष उपपन्न होता है। कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि विकारवान् कभी निर्विकार ब्रह्म स्वरूप से अवस्थित हो नहीं सकता। किन्तु अद्वैत सिद्धान्तानुसार सदा नित्य निर्विकार अनन्त सच्चिदानन्द स्वरूप ब्रह्म ही अविद्या से प्रपञ्चारोपवान् होकर बद्ध एवं विद्या से प्रपञ्चापोह दशा में मुक्त कहा जाता है।

"सकलवाङ्मनसाति गता चितिः,
सकल वाङ् मनस व्यवहार भाक्।" (संक्षेप शारीरक)

सकल वाङ्मनसातीत नित्य निर्विकार ब्रह्म ही सकल वाङ्मनस व्यवहार गोचर होता है। कृपणधी प्राणी ही परिणाम पक्ष का सहारा पकड़ता है, क्षपितकल्मष विद्वान् विवर्तवाद का आश्रयण करता है। स्थिरमति स्थितप्रज्ञ तो व्यपगत द्वितय परम पद का ही सदा अनुभव करता है।

"कृपण धीः परिणाममुदीक्षते, क्षपितकल्मष धीस्तु विवर्ततताम्।
स्थिरमतिः पुरुषः पुनरीक्षते व्यपगतद्वितयं परमं पदम्॥"

अहमर्थ का अशुद्ध रूप और शुद्ध रूप सभी संसार ही है। जो अनुष्ठाता है वह कभी अकर्ता नहीं हो सकता जो अकर्ता नहीं वह अभोक्ता भी नहीं हो सकता; ऐसी स्थिति में प्रतिवादी का मोक्ष एक प्रकार का स्वर्ग ही ठहरेगा। अतः अहमर्थ कर्ता भोक्ता का मोक्ष में अस्तित्व मानना मोक्ष तत्त्व का उपहास ही करना है।

अहङ्कार पर अन्यान्य शङ्काएँ

अहंकार क्या है इस सम्बन्ध में अनेक विकल्पों का उत्थापन एवं निराकरण व्यर्थ है क्योंकि प्रतिवादी भी जीव से भिन्न एक अहंकार मानता ही है और वह प्रति जीव भिन्न भी मानता है। सांख्य का श्रुतिसम्मत तत्त्व ही मान्य है। अनेक अंशों में सांख्य मत का निराकरण भगवान् व्यास ने ही किया है। सांख्य के महत्तत्व के समान ही वेदान्त में ईक्षण (तदैक्षत) का वर्णन मिलता है। जैसे महत्तत्व के अनन्तर सांख्य में अहं का वर्णन है वैसे ही वेदान्त में 'एकोऽहं बहु स्याम्' इस वाक्य में अहं का वर्णन है। यहाँ ईक्षण एवं सृष्टि के बीच में व्याचिकीर्षावान् अहं का वर्णन है। 'अहंकारश्चाहं कर्तव्यश्च', 'महाभूतान्यहंकारो' इत्यादि श्रुति स्मृतियों में भी अहंकार का वर्णन है। रहा यह कि सांख्य मत में अहंकार एक है परन्तु अद्वैतियों के यहाँ वह प्रति जीव भिन्न है तो भी कोई दोष नहीं, समष्टि व्यष्टि में तुल्यता सर्वत्र मान्य होती है। सुषुप्ति में अनुभूयमान निद्रा या अज्ञान ही समष्टि माया या अविद्या का प्रतीक है। जैसे व्यष्टि देह या पिण्ड समष्टि ब्रह्माण्ड का प्रतीक होता है। उसी तरह समष्टि माया का व्यष्टि निद्रा प्रतीक है। उसी तरह समष्टि महत्तत्व का व्यष्टि बुद्धि प्रतीक है, वैसे ही समष्टि अहं तत्त्व का प्रतीक व्यष्टि अहंकार है। निद्रा में अन्तःकरण एवं अविद्यांश भी अति सूक्ष्म प्रकृति भावापन्न होकर रहते हैं। तात्पर्यवशात् शब्दों का अर्थ होना ही उचित है अतएव 'गोभिः श्रीणीत मत्सरम्' यहाँ पर गो शब्द का गोविकार पय आदि ही अर्थ गृहीत होता है।

"भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेवच।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा॥"

यहाँ पर मन का अर्थ मनःकारण अहंकार ग्राह्य है। बुद्धि शब्द से अहन्तत्त्व का कारण महत्तत्त्व ग्राह्य है एवं अहंकार शब्द से महत्तत्व का कारण अव्यक्त ग्राह्य है। तभी 'महाभूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च' इस वचन के साथ उक्त वचन का समन्वय होता है।

अहंकार की अनित्यता में भी हानि नहीं

कुछ लोग कहते हैं "चार्वाक तो जन्म से लेकर मरण पर्यन्त रहनेवाले देह में अहन्त्व मानते हैं परन्तु अद्वैती प्रत्येक सुप्ति में अहंकार का लय मानते हैं। चार्वाक मत में मरण पर्यन्त अहमर्थ बना रहता है परन्तु अद्वैतियों के यहाँ प्रति सुप्ति में अहमर्थ का नाश माना जाता है।" परन्तु उनका यह कथन निःसार है, कारण एक अद्वितीय शुद्ध ब्रह्मरूप आत्मा से अतिरिक्त सभी वस्तु अद्वैतियों के मत में वस्तुतः है ही नहीं। फिर उसके स्थायित्व अस्थायित्व का विचार गौण हो ही जाता है। सांख्यवादी भी चिति शक्ति को छोड़कर सभी पदार्थों को क्षणपरिणामी मानते ही हैं, 'क्षणविपरिणामिनो हि भावा ऋते चितिशक्तेः'। प्रतिवादी भागवतादि पुराणों को प्रमाण मानता ही है। वहाँ स्रोतःप्रवाह एवं अर्चि आदि के तुल्य ही सभी पदार्थों को क्षणभङ्गुर कहा ही गया है। यथा—

"नित्यदाह्यङ्ग भूतानि भवन्ति न भवन्ति च।
कालेनालक्ष्यवेगेन सूक्ष्मत्वात्तन्न दृश्यते॥
यथार्चिषां स्रोतसां च फलानां वा वनस्पतेः।
तथैव सर्वभूतानां वयोऽवस्थादयः कृताः॥
सोऽयंदीपोऽर्चिषां यद्वत् स्रोतसां तदिदं जलम्।
सोऽयंपुमानिति नृणां मृषा गीर्धीर्मृषायुषाम्॥"
(श्री० भा० स्कं० ११, अ० २२, श्लो० ४२-४३-४४)

हे उद्धव! सभी भूत नित्य ही उत्पन्न और नष्ट होते रहते हैं परन्तु अलक्ष्य वेगवाले काल की महिमा से भूतों का सूक्ष्म उत्पत्ति विनाश दिखायी नहीं देता। जैसे अर्चि (ज्वालाओं), स्रोत (नदियों) तथा वनस्पति के फलों की भिन्न अवस्थाएँ विदित नहीं होतीं उसी तरह भूतों के भी सूक्ष्म वय एवं अवस्थायें विदित नहीं होतीं। जैसे ज्वालाओं और स्रोतः प्रवाहों में भेद रहने पर भी 'सेयं ज्वाला', 'तदिदं जलम्' इस रूप से एकता प्रतीत होती है, वैसे ही मनुष्यादि देहों में भेद होने पर 'सोऽयं पुमान्' ऐसी बुद्धि और व्यवहार होता है। फिर प्रतिवादी ने चार्वाक से बढ़कर अहमर्थ को सर्वथा नित्य भी मान लिया तो भी कोई पुरुषार्थसिद्धि नहीं किन्तु श्रुति पुराणादि विरोध भी उसके गले पड़ेगा।

अहङ्कार का अविद्या में विलीन होना

कुछ लोग कहते हैं कि "अन्तःकरण जब अविद्या का कार्य न हो कर पञ्चभूत का कार्य है तो उसका अविद्या में लय भी कैसे हो सकता है? जब सुप्ति में भूतपञ्चक भी विराजमान रहता है तब तत्कार्य अंतःकरण का सुप्ति में लय होना कैसे संगत हो सकता है? सुप्ति में अन्तःकरण भूत रूप से भले ही रहे परन्तु वह अविद्या रूप से कैसे रह सकता है?" परन्तु यह शंका भी निराधार ही है क्योंकि अन्तःकरण एवं तद्विकार वृत्ति आदि भौतिक होते हुए भी साक्षि-भास्य हैं। साक्षिभास्य पदार्थ अज्ञात होकर नहीं रहते। वे जब भी होंगे सुखादि के तुल्य ज्ञात होकर ही रहेंगे। अन्तःकरण अहंकार आदि भी ज्ञात होकर ही रहते हैं। सुप्ति में अन्तःकरण एवं उसके धर्म इच्छादि भासित नहीं होते। श्रुति पुराणादि भी उसका अभाव बतलाते हैं यह पीछे दिखाया जा चुका है; इसलिये अहंकार आदि का अविद्या में लय मानना पड़ता है। अहंकार का अविद्या में लय मानने के लिये तदुपादानभूत भूतांश का भी अविद्या में लय होना असंगत नहीं है।

कहा जाता है कि "अहंकार का लय होने से संस्कारों का भी नाश होगा फिर उत्तरोत्तर अहमर्थ को पूर्व के अहमर्थों के अनुभूत अर्थों का स्मरण नहीं हो सकेगा।" परन्तु यह भी ठीक नहीं, क्योंकि स्मरणरूप कार्यदर्शन के बल से संस्कारों का भी अविद्यारूप में अवस्थान मान्य ही है। अतएव जन्मान्तरीय नहीं कल्पान्तरीय संस्कार भी विशिष्ट स्थानों में स्मरणादि जनक माने जाते हैं।

यह शंका भी निर्मूल है कि पृथक् दिनों के अहंकार पृथक् ही होते हैं। उनमें अभेद नहीं है फिर अन्य अहंकार से अनुभूत विषय का अन्य अहंकार कैसे स्मरण कर सकेगा? क्योंकि यह कहा जा चुका कि एक ही अहंकार प्रतिदिन सुप्ति में अविद्या और जागर में अन्तःकरणरूप में प्रकट होता रहता है।

'भूतग्रामः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते।'

इत्यादि वचनों के अनुसार वही भूतग्राम प्रति सृष्टि, प्रति प्रलय उत्पन्न हो होकर प्रलीन होते रहते हैं। कहा जाता है "सोते समय जीवों के अहंकार नष्ट होकर कारणीभूत अविद्या में बने रहेंगे तो उस अविद्या में विद्यमान संस्कार

प्रतिनियत अहंकारों में कैसे पहुँच सकेंगे ? एक ही अविद्या से जगते समय सभी अहंकार नये सिरे से उत्पन्न होंगे। वे संस्कार जो पूर्व दिन में अहंकार में थे, निद्रा या अविद्या में पहुँचकर जागरण में किसी अहंकार में पहुँच सकते हैं, फिर अन्यानुभूत विषयों का स्मरण अन्य पुरुषों को होना चाहिये। संस्कारों के सामने सभी नूतन अहंकार समान ही हैं।" परन्तु यह सब कथन अविचारमूलक है क्योंकि यह पीछे कहा जा चुका है कि विभिन्न अहंकार और उनके कारण-भूत अविद्यांश अत्यन्त भिन्न नहीं हैं। संस्कारविशिष्ट अन्तःकरण जिस अविद्यांश में लीन होता है वह अविद्यांश पुनः उसी संस्कारविशिष्ट अन्तःकरण-रूप में परिणत होता है। जिनके यहाँ निरन्वय नाश का सिद्धांत है वहीं यह सब आपत्ति उठ सकती है। सान्वय नाश में सूक्ष्म रूप से सब वस्तु कारणा-वस्था को प्राप्त होती है, वही फिर भी कार्यावस्था को प्राप्त होती है। प्रलय काल में प्रतिनियत कार्यक्षम सब वस्तुएँ परमेश्वर में लीन होकर भी जैसे उत्पत्ति के समय प्रतिनियत कार्यक्षम ही उत्पन्न होती हैं, वैसे ही प्रकृत में भी समझना चाहिये। क्षीर नीर के मिश्रण होने पर सर्वसाधारण के लिये विवेक दुःशक होने पर भी हंस के लिये विवेक दुर्गम नहीं है। समुद्र में विभिन्न स्रोतों, सरिताओं के जल मिल जाने पर भी ईश्वर के लिये वह दुर्विवेच्य नहीं होता है, इसी तरह विभिन्न प्रतिनियत कार्यकारणभावोपेत विश्वप्रपञ्च परमेश्वर में लीन हो जाने पर भी दुर्विवेच्य नहीं होता। ठीक वैसे ही प्राणि-कर्मसापेक्ष ईश्वरीय शक्तिविशेष से ही प्रति सुषुप्ति में संस्कारविशिष्ट अन्तःकरण अविद्यांश में लीन होते हैं। उत्पत्ति के समय पुनः अविद्या से प्रति-नियत संस्कारविशिष्ट अन्तःकरणों की उत्पत्ति होती है। यह नाश आदि सान्वय होता है अतः अहंकार की अभिन्नता भी बनी रहती है। इसी कारण अनुभव एवं स्मरण की सामानाधिकरण्य व्यवस्था निर्विघ्न रूप से उपपन्न होती है। कुछ लोग कहते हैं कि 'इस तरह तो लाघवात् उन विभिन्न अविद्यांशों को अहंकार मान लेना चाहिये।' परन्तु यह ठीक नहीं, क्योंकि जाग्रत् का कार्य अविद्यामात्र के द्वारा नहीं चल सकता, तदर्थ अविद्यांश परिणाम अहंकार आदि मानना आवश्यक है। अतएव श्रुति से जाग्रत् में अहंकार की सत्ता, सुषुप्ति में उसका लय आदि का कथन संगत होता है।

यह भी कहा जाता है कि "तद्गुण सारत्व", ब्र० सू० २।३।२९ के शाङ्कर भाष्य में अनादि बुद्धि को जीव की उपाधि कहा गया है, और जीव के साथ उस अनादि बुद्धि का सम्बन्ध माना गया है। 'पुंस्त्वादिवत्तस्य सतोऽभिव्यक्तियोगात्'

ब्रह्मसूत्र २।३।३१ में सुषुप्ति एवं प्रलय में भी शक्तिरूप में बुद्धि की सत्ता मानी गयी है। 'नित्योपलब्ध', ब्र० सू० २।३।३२ के भाष्य में उस उपाधि को अन्तःकरण, मन, बुद्धि, विज्ञान, चित्त आदि शब्दों से बोध्य माना गया है। इससे जान पड़ता है कि सुप्ति एवं प्रलय में बना रहनेवाला पदार्थविशेष ही आत्मा की उपाधि मान्य है, अतः उस उपाधि को ही अहं बुद्धि का विषय मानना उचित है। यह उपाधि अविद्या के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। फिर तो अविद्या ही अहं शब्द वाच्य ठहरती है। सुप्ति में अहंकार का लय गौण है। सुप्ति में उसका व्यापार बन्द हो जाता है। सुप्ति में अभिमान, अध्यवसाय, संकल्प आदि वृत्तियों का अभाव मान्य ही है। अतः सुप्ति में अहंकार का लय मानना उपर्युक्त शांकर भाष्य से मेल नहीं रखता।" परन्तु यह सब कथन निराधार है। उपर्युक्त कथन में ही स्पष्ट है कि अन्तःकरण, बुद्धि, चित्त, विज्ञान आदि शब्द वाच्य पदार्थ आत्मा की उपाधि मान्य है; साथ ही सुप्ति एवं प्रलय में उसकी स्वरूप से नहीं किन्तु शक्तिरूप से अवस्थिति मान्य है। अन्तःकरण के द्वारा ही शक्ति में संकल्प, अध्यवसाय आदि बन सकते हैं। तभी सुप्ति में शक्ति या अविद्यारूप में बुद्धि आदि के रहने पर भी उस समय संकल्प, अध्यवसाय आदि नहीं होता। उपर्युक्त कथन का निष्कर्ष यह निकालना कि अविद्या ही अहंकार है, सर्वथा निराधार है। सुषुप्ति में उपाधि का लय होता है, इस कथन का स्पष्ट अर्थ यही है कि बुद्धिरूप उपाधि का लय होता है। किन्तु अविद्यारूप में स्थित उपाधि तो रहती ही है। मैं सुख से सोया इस प्रतीति में जाग्रत् काल का ही मैं भासित होता है। इससे सुप्ति में मैं का अस्तित्व नहीं सिद्ध होता यह सब विस्तार से कहा जा चुका। वह अन्तःकरण साधिष्ठान एवं साभास होता है। वही अहं का मुख्य अर्थ है। शुद्ध आत्मा अहं शब्द का लक्ष्यार्थ है। देहादि अहं पद का गौण अर्थ है। अहंकार को ही चिदचिद्ग्रन्थि भी कहा जाता है क्योंकि केवल असंग चेतन में कर्तृत्व भोक्तृत्वादि नहीं बनता। केवल जड़ अन्तःकरण में भी यह सब नहीं बन सकता। अतः अन्तःकरणविशिष्ट चैतन्य या साधिष्ठान साभास अन्तःकरणरूप चिदचिद्ग्रन्थि में ही यह सब बन सकता है।

कहा जाता है "केवल अहंकार को अहमर्थ मानने पर भी यह व्यवहार बन सकता है क्योंकि अहंकार में अद्वैती चैतन्य का अध्यास मानते हैं, तथा अहंकार में कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि मानते हैं। तथाच अध्यस्त चैतन्य और कर्तृत्व, भोक्तृत्व को लेकर 'मैं कर्ता मैं भोक्ता हूँ' इस प्रतीति का निर्वाह हो जाता है।" परन्तु यह

कहना भी अशुद्ध है। कारण जब चैतन्याध्यास युक्त अहंकार में उक्त प्रतीति मान्य है तब फिर केवल अहंकार में उक्त प्रतीति की उत्पत्ति कैसे कही जा सकती है? फिर तो साभास अन्तःकरण में ही कर्तृत्वादि व्यवहार ठीक है। वस्तुतः अहंकार में चैतन्य के संसर्ग का ही अध्यास होता है, चैतन्य स्वरूप का अध्यास नहीं होता। स्वरूपाध्यास तो अहंकारादि का ही माना जाता है। इसी तरह अहंकारावच्छिन्न चैतन्य को अहमर्थ मानने पर उसमें 'मैं जानता हूँ' इस प्रकार ज्ञानाश्रयता नहीं बन सकती और कर्तृत्वादि भी उसमें नहीं बन सकता, यह कहना भी असंगत ही है। क्योंकि केवल चैतन्य में ज्ञातृत्व कर्तृत्वकी आश्रयता न बन सकने पर भी विशिष्ट या उपहित में ज्ञातृत्वादि होने में कोई भी आपत्ति नहीं। चैतन्याध्यास से अहंकार में ज्ञातृत्व कर्तृत्व मान्य होता है तब भी, केवल अहंकार में ज्ञातृत्वादि नहीं कहा जा सकता। अहंकारविशिष्ट में भी ज्ञातृत्वादि आरोपित होने में कोई आपत्ति नहीं। शुद्ध आत्मा तो अहं का वाच्यार्थ न होकर लक्ष्यार्थ ही है। जब साभास अहंकार ही अहमर्थ है तब वही अस्मद् और वही युष्मद् शब्द का भी गोचर होगा। इसी लिये जो अहमर्थ है वही त्वमर्थ भी है। अतएव शास्त्रों में तत्त्वरूप से अहंकार ही वर्णित है। त्वंकार कहीं भी तत्त्व नहीं कहा गया है। एक साभास अहंकार के स्वपुरोवर्त्ती अन्य साभास अहंकार में त्वंकार का प्रयोग होता है। इसलिये त्वङ्कार विषय भी साभास अहंकार ही है। अहं बुद्धि भले त्वं बुद्धि की विरोधिनी हो परन्तु अहंकार तत्त्व त्वङ्कार बुद्धि का विरोधी नहीं है। इस विषय में पीछे बहुत कुछ कहा ही जा चुका है।

यद्यपि अन्यत्र महान् से अहंकार की उत्पत्ति कही गई है तथापि वेदान्त में समष्टि बुद्धि को भी महत्तत्त्व कहा जाता है। बुद्धि पंचभूतों के समष्टि सात्त्विक अंशों से निर्मित होती है। वेदान्त में यद्यपि मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार एक ही अन्तःकरण की अवस्थाएँ हैं तो भी, बुद्धिपूर्वक अहंकार का उल्लेख होता है। इसी दृष्टि से अहं में बुद्धि का आनन्तर्य कहा गया है। 'पञ्च वृत्ति मनोवद्व्यपदिश्यते', ब्रह्मसूत्र २।४।११ के अनुसार अद्वैतिसंमत अन्तःकरण भूतों के समष्टि सात्त्विक अंश का कार्य है। यह अद्वैति मत श्रुतिसम्मत है। ईक्षण एवं व्याचिकीर्षा के अनन्तर ईश्वर ने मन को बनाया और वह मन भौतिक है तभी 'अन्नमयं हि सोम्य मनः' यह श्रुति मन को अन्नमय कहती है। यहाँ अन्न शब्द से अन्नप्रधान पंचभूत ही कहा गया है। उसी तरह 'आपोमयः प्राणः', 'तेजोमयी वाक्' आदि स्थलों में भी अप्प्रधान, तेजःप्रधान पंचभूत ही लिये गये हैं। विष्णु पुराण वर्णित मन के सात्त्विक अहंकारजन्य होनेवाली

बात भी ठीक ही है। दोनों बातों का समन्वय निम्नलिखित प्रकार से कर लेना आवश्यक है। पुराणों एवं महाभारत आदि में सृष्टिप्रक्रिया में बहुधा सांख्योक्त सृष्टिपद्धति परिलक्षित होती है। श्रुतियों तथा गीता में भी 'महतः परमव्यक्तं', 'महाभूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च' इत्यादि रूप से सांख्यसम्मत तत्त्व प्रतिपादित प्रतीत होते हैं। 'अजामेकां लोहित शुक्ल कृष्णाम्' इत्यादि से भी त्रिगुणात्मिका प्रकृति का वर्णन प्रतीत होता है। परन्तु ब्रह्मसूत्र में भगवान् व्यास ने उक्त सभी वचनों का अर्थान्तर वर्णनकर सांख्य सिद्धांत को अशब्द अर्थात कहकर उसे अनुमान पर आधारित ही बतलाया है। 'ईक्षतेर्नाशब्दम्', लोहित, शुक्ल, कृष्ण अजा को तेजोबन्नात्मिका प्रकृति कहा है। उसे ही छागी की उपमा देने के लिये अजा कहा है। अव्यक्त आदि का भी शरीरविशेष ही अर्थ किया गया है। इस दृष्टि से ईक्षण में महत्तत्व और व्याचिकीर्षा में अहन्तत्त्व का अन्तर्भाव हो जाता है। अहं शब्द का प्रयोग अहंकार्य पंचतन्मात्रा या अपञ्चीकृत पञ्च महाभूत में किया गया है। फलतः अहंकार के सात्विक, राजस, तामस अंशों से होनेवाली सृष्टि सूक्ष्म भूतों के ही सात्विक, राजस, तामस अंशों की सृष्टि समझनी चाहिये। समष्टि भूतों के सात्विक अंश से उत्पन्न मन इसी दृष्टि से आहङ्कारिक कहा जा सकता है।

कुछ लोग कहते हैं "भगवान् व्यास का यह सब प्रयास वेद वेदान्तों की ब्रह्ममात्रपर्यवसायिता बतलाने के लिये है। इसी लिये ब्रह्मनिरपेक्ष स्वतंत्र प्रकृतिपोषक सांख्य मत निराकरण में उन्होंने बल लगाया है"। परन्तु जब वही प्रकृति स्वतन्त्र न रहकर ब्रह्म की अनिर्वचनीय शक्तिमात्र रह जाती है तब उक्त श्रुति, स्मृति, पुराणों का यथाश्रुत अर्थ मान लेने में भी कोई आपत्ति नहीं है। इस पक्ष में भी समष्टि अहंतत्व ही अहंकार है, परन्तु व्यष्टि में अहन्तत्व का सात्विक कार्य मन या अन्तःकरण ही अहंकार रूप में ग्राह्य है। वही साभास, साधिष्ठान होकर अहमर्थ होता है। अतएव सांख्यीय अहंतत्व के एक होने पर भी वेदान्तीय अहंकार प्रतिजीव भिन्न होता है। अद्वैती भी मन या अन्तःकरण ही नहीं, किन्तु सूक्ष्म शरीर को ही सृष्टि के आरंभ काल में उत्पन्न एवं प्रलय काल में प्रलीन होनेवाला मानते हैं। कारणशरीर अविद्या का ब्रह्म तत्व साक्षात्कार से ही बाध मानते हैं। फिर भी प्रति सुषुप्ति अहंकार का प्रलय एवं प्रतिबोध निर्माणप्रतीति के अभिप्राय से मान्य है। सुषुप्ति में अहंकार स्वरूपेण भासमान नहीं होता। जाग्रत् में वैसा भासमान होता है। जिस अविद्यांशरूप से सुप्ति में अहंकार रहता है वही अविद्यांश जाग्रत् में अहंकाररूप से भासमान होता है। जैसे

द्रुत एवं अद्रुत (कठिन) घृत रूप में एक ही तत्व मान्य होता है वैसे ही अहंकार एवं तदवस्थाविशेषभूत अविद्यांश एक ही वस्तु है। वह सृष्टि से लेकर प्रलय पर्यन्त रहता है। समष्टि प्रलय में समष्टि अहङ्कार का माया में लय होता है, सुप्ति में व्यष्टि अहङ्कार का निद्रा में लय होता है।

अहंकार की बहुधा उपपत्ति

जैसे समष्टि में मायाविशिष्ट चैतन्य ईक्षण (महत्तत्व) तथा 'एकोऽहं बहुस्याम्' मैं एक हूँ अनेक बनूं, इस तरह अहङ्कारपूर्वक सिसृक्षा से आकाशादि का निर्माण करता है, वैसे ही व्यष्टि में जीव भी निद्रा से प्रबुद्ध होकर अहंकार-पूर्वक कार्य करता है। यहाँ भी निद्रा अज्ञान या मायास्थानीया है। निद्रा के अनन्तर होनेवाले प्रबोध काल की बुद्धि महत्तत्व का अंश है। बुद्धि के अनन्तर अहं का उल्लेख होता है तभी अन्य सब प्रपञ्च व्यवहार होता है, अतः यह अहङ्कारसमष्टि अहङ्कार का ही अंश है। समष्टि प्रलय में समष्टि अहंकार का प्रलय होता है। व्यष्टि सुप्ति में व्यष्टि अहंकार का विलय होना स्वाभाविक ही है। सांख्य का जितना सिद्धान्त वेद-वेदान्तादि ग्रन्थों के अविरुद्ध है उतना ही मान्य है, अतः सर्वथा सांख्य मतानुसारी वेदान्त सिद्धान्त न होना दूषण नहीं है।

———

अहमर्थ एवं भूमविद्या

'सुखमहमस्वाप्सम्' इस प्रतिसन्धान की अन्यथानुपपत्ति से यह नहीं कहा जा सकता कि सुषुप्ति में प्रतिसन्धीयमान सभी का अस्तित्व था। क्योंकि, ऐसा मानने पर स्वप्नोत्थित के स्वाप्निक प्रतिसन्धान से स्वप्न में स्थूल शरीर का भी अस्तित्व मानना पड़ेगा। स्वाप्निक स्मरण में स्थूल देह का भी प्रतिसन्धान होता ही है। यदि स्वाप्निक प्रतिसन्धान के विषय स्थूल शरीर का अस्तित्व स्वप्न में अमान्य है, तो उसी तरह 'अहं' का प्रतिसन्धान होने पर भी उसका अस्तित्व सुषुप्ति में मान्य नहीं है; किन्तु सुप्ति में सुख, अज्ञान तथा चैतन्य का ही अनुभव मानना चाहिये। यदि अहङ्कार होता तो उसका भी प्रकाश अवश्य होता क्योंकि अहङ्कार, सुखादि अव्यभिचरित प्रकाशवाले होते हैं। वे अप्रकाशित होकर कभी भी नहीं रहते। प्रतीयमान ज्ञानाभाव के आधाररूप से अथवा अज्ञानाधार-रूप से सुप्ति में अहङ्कार की कल्पना नहीं की जा सकती। वस्तुतः अनुभूत एवं असन्निकृष्ट का ही स्मरण होता है परन्तु परामर्श काल में अहमर्थ वर्तमान एवं सन्निकृष्ट ही है। 'मामन्यद्यनाशासिषम्' इत्यादि रूप से अहङ्कार का अज्ञान परामृष्ट होता ही है। 'मैं नहीं था' इस प्रकार का परामर्श न होने का कारण है प्रत्यगात्मा की सत्ता। अहङ्कार या तत्सूक्ष्मभावापन्न अविद्यावच्छिन्न चैतन्य ही प्रत्यगात्मा है। इसी दृष्टि से केवल चैतन्य को अज्ञानाश्रय कहा जाता है।

यह भी कहा जाता है कि "प्रकृति, महत्तत्त्व, अहङ्कार तत्त्व और तन्मात्रा ये पदार्थ शास्त्रैकगम्य हैं, ये प्रत्यक्ष प्रमाण से नहीं जाने जाते। परन्तु 'अहं' यह प्रतीति प्रत्यक्षात्मक है। नैयायिक इसे आत्मविषयक मानस प्रत्यक्ष मानते हैं। वेदान्ती आत्मविषयक स्वप्रकाश प्रत्यक्ष मानते हैं अतः इस प्रत्यक्ष में शास्त्रैकगम्य अहङ्कार का भान नहीं हो सकता। जागरण में भी 'अहं' इस प्रतीति में अहङ्कार नहीं भास सकता किन्तु आत्मा ही यहाँ भासता है। सुप्ति में भी स्वयंप्रकाश होने से आत्मा भासता रहता है। जागर दशा में 'अहं' प्रतीति में आत्मा का भान अद्वैती को भी मान्य है। अतः उभयसम्मत उस आत्मा को ही अहमर्थ मानना ठीक है। अहमर्थ कोटि में अचेतनांश का भान प्रमाणशून्य है।" परन्तु यह भी ठीक नहीं, क्योंकि समष्टि रूप से प्रकृति, महत्तत्त्व आदि शास्त्रैकगम्य होने पर भी व्यष्टि रूप से प्रकृति (अविद्या, निद्रादि रूप से)

प्रत्यक्ष है। महत्तत्त्व भी व्यष्टि ज्ञान रूप से प्रत्यक्ष है इसी तरह अहन्तत्त्व भी व्यष्टिरूप से प्रत्यक्ष हो ही सकता है। अन्तःकरण एवं अन्तःकरणकार्य ज्ञानेच्छादि प्रत्यक्ष हैं तो अन्तःकरण की अवस्था विशेष अहङ्कार का प्रत्यक्ष होना भी सिद्ध ही है।

आत्मा द्रष्टा ही है, वह दृश्य नहीं होता। इसलिये जो अहमर्थ को दृश्य मानते हैं उनका अहमर्थ अवश्य आत्मभिन्न दृश्य ही है। अहमर्थ में दृग्दृश्य का मिश्रण है। दृश्यांश अनात्मा अहं और दृगंश आत्मा है। वह मिश्रण भी चिदचिद्ग्रन्थि रूप ही है।

अहं प्रतीति में आत्मा का भान अद्वैती को मान्य है परन्तु वह भान विशिष्ट आत्मा का होता है शुद्ध का नहीं। अहमर्थ में दृश्यता को स्वीकार करना ही अचेतन दृश्यांश होने में प्रमाण है। अहंवृत्तिव्यङ्ग्य जड़ अहङ्कार है। सविषय वृत्तिव्यञ्जक आत्मा चेतन है। योगी दृग्दर्शन शक्ति की एकात्मा प्रतीति को अस्मिता कहते हैं। वह भी अहं का सूक्ष्म रूप ही है।—

'दृग्दर्शनशक्त्योरेकात्मतेवास्मिता'।

यह भी कहा जाता है कि "मुक्त और ईश्वर भी आत्मा को 'अहं', 'अहं' रूप से व्यवहृत करते मानते हैं। उनके आत्मा में अचेतन का सम्बन्ध नहीं रहता क्योंकि वे मुक्त हैं। अचेतन सम्बन्धशून्य आत्मा में मुक्त एवं ईश्वर 'अहं' शब्द का प्रयोग करते हैं, इससे मालूम पड़ता है कि केवल चित्स्वरूप आत्मा ही अहमर्थ है। अचेतनविशिष्ट आत्मा में 'अहं' शब्द की शक्ति मानने में गौरव भी है"। परन्तु यह भी ठीक नहीं, क्योंकि मुक्त और ईश्वर लक्षणा से ही शुद्ध आत्मा में अहं शब्द का प्रयोग करते हैं। वस्तुतः कोई भी व्यवहार अचेतन सम्बन्धशून्य आत्मा में होता ही नहीं। जीवन्मुक्त एवं ईश्वर दोनों ही का आत्मा अचेतनविशिष्ट है ही। देहत्याग पर्यन्त जीवन्मुक्त का अन्तःकरण रहता है, ईश्वर में भी यावत्संसार मायासंसर्ग रहता है। फिर भी शुद्ध आत्मा में लक्षणा से उनके द्वारा अहं शब्द का प्रयोग होता है। मुक्ति दशा में अहमर्थ के अस्तित्व का तात्पर्य 'अहं' पद लक्ष्यार्थ के अस्तित्व से ही है। शुद्ध चेतन आत्मा की कर्तृता, भोक्तृता शास्त्रविरुद्ध है। अतएव अन्तःकरणादि विशिष्ट आत्मा में ही 'अहं' पद की शक्ति मानना उचित है। फलमुख गौरव दूषण नहीं होता। यदि लाघवमात्र के लिये शुद्ध आत्मा को अहमर्थ माना जायगा

तो उसे ही कर्ता, भोक्ता मानना पड़ेगा। फिर कभी भी उसकी मुक्ति की आशा न रहेगी। कहा जाता है कि 'आत्मा को एक मानने से चैत्र को मैत्र आत्मा के प्रति भी 'अहं' ऐसा अनुभव होना चाहिये, क्योंकि आत्मा एक ही है। इसी प्रश्न का समाधान करने के लिए अद्वैती अन्तःकरणविशिष्ट को अहमर्थ मानते हैं और अन्तःकरणभेद से उसका समाधान करते हैं।' पर यह कहना ठीक नहीं, क्योंकि वस्तुगत्या शुद्ध के एक होने पर भी विशिष्ट भेदमूलक भेद व्यवहार लोक में भी प्रसिद्ध है। मुख्य बात तो यही है कि अहं को आत्मा मानने से आत्मा को कर्तृत्वादि विकार से युक्त मानना पड़ेगा। फिर प्रत्यक्चैतन्याभिन्न अद्वैत परमानन्द ब्रह्मपर्यवसायी वेद एवं तदनुयायी सभी शास्त्रों का विरोध होगा।

मैत्र के प्रति 'अहं' प्रतीति का अभाव उपाधिभेद से भी उपपन्न हो जाता है। जैसे प्रतिवादी जागर काल एवं सुप्ति काल के अहमर्थ आत्मा का अभेद मानता हुआ भी अवस्थाभेद से जागर के तुल्य सुप्ति के आत्मा में 'अहं' प्रतीति नहीं मानता।

यह भी कहा जाता है कि "जैसे सुप्ति काल में वैषयिक ज्ञान न होने से 'मैं अब तक कुछ नहीं जानता था,' ऐसा ज्ञानाभाव का अनुसन्धान होता है, वैसे ही सुप्ति में यदि अहमर्थ न होता तो 'अब तक मैं नहीं था' इस प्रकार अनुसन्धान होना चाहिये, परन्तु ऐसा नहीं होता। अतः स्थूल अहङ्कार के समान ही सूक्ष्म रूप से अविद्यांश में रहनेवाले अहङ्कार को भी अहमर्थ में अनुप्रविष्ट मानना चाहिये"। परन्तु यह ठीक नहीं। इसमें प्रथम कारण तो यह है कि अनुसन्धान-रूप कार्य के अनुसार कारण की कल्पना तो हो सकती है किन्तु संस्काररूप कारण के आधार पर अनुसन्धान की कल्पना नहीं की जा सकती। कारण, कई विषयों के संस्कार रहने पर भी अनुसन्धान नहीं होता। प्रत्युत यह भी कहा जा सकता है कि यदि अहङ्कार सुप्ति में होता तो उसका अनुसन्धान होता। साथ ही उसके ज्ञानेच्छादि गुणों का भी अनुसन्धान होता; किन्तु ऐसा नहीं होता अतः सुप्ति में अहङ्कार का अभाव ही मानना उचित है। दूसरे यह कि ज्ञानाभाव की सिद्धि तो भावरूप अज्ञान के परिचायकरूप से मान्य है। अनुसन्धान से ज्ञाना-भाव की सिद्धि नहीं होती। जिस 'नाहमवेदिषम्' प्रतीति को ज्ञानाभाव का अनुसन्धान कहा जाता है वह भावरूप अज्ञान का ही स्मरण है। क्योंकि ज्ञानाभाव के अनुभव से ही उसका स्मरण मानना पड़ेगा। यदि सुप्ति में ज्ञाना-

भाव का अनुभव मानना होगा तो उसके लिये सविषय ज्ञानरूप प्रतियोगी और अभावाधिकरणरूप आत्मादि अनुयोगी का ग्रहण आवश्यक होगा। यदि उक्त ये दो प्रकार के ग्रहण नहीं हैं तो ज्ञानाभाव का ग्रहण ही न होगा। यदि उक्त ये दो ग्रहण हैं तो ज्ञानाभाव कहना सर्वथा व्याहत ही होगा। क्योंकि अभाव का निरूपक ज्ञानरूप प्रतियोगी एवं उसका निरूपक विषय तथा आत्मादि अनुयोगी के ज्ञान रहते ज्ञानाभाव नहीं कहा जा सकता। अतः भावरूप अज्ञान का ही सुप्ति में ग्रहण होता है, उसी से ज्ञानाभाव भी सिद्ध हो जाता है।

वह साभास साधिष्ठान अहङ्कार ही चिदचिद्ग्रन्थि भी है क्योंकि उसमें अधिष्ठान और आभास चैतन्यांश है, अहङ्कार अचिदंश है। अहं का वाच्य वह ग्रन्थि है, लक्ष्यार्थ शुद्ध चित् है। तभी 'अहं ब्रह्मास्मि' इस वाक्य में मुख्य सामानाधिकरण्य के द्वारा जीवात्मा परमात्मा का अभेद भी सिद्ध होता है। अन्यथा 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' के समान यहाँ भी बाध सामानाधिकरण्य द्वारा अहं का सर्वथा बाध होने से मुक्ति में जीव को सर्वथा अनन्वयी मानना पड़ेगा जो कि अनिष्ट ही है।

"योऽयंस्थाणुः पुमानेष पुंधिया स्थाणुधीरिव।
ब्रह्मास्मीतिधियाप्येषा अहं बुद्धिर्निवर्तते॥"

इस नैष्कर्म्य सिद्धि के वचन से जो कहा गया है कि जो यह स्थाणु है, (जिसे स्थाणु समझ रहे हो) वह पुरुष है, स्थाणु नहीं है। जैसे यहाँ पुंबुद्धि से स्थाणु बुद्धि का निराकरण होता है वैसे ही 'ब्रह्माहं' यहाँ भी ब्रह्म बुद्धि से अहं बुद्धि निवृत्त हो जाती है। उसका भी तात्पर्य यही है कि अहंवाच्य विशिष्ट बुद्धि की ही निवृत्ति होती है। विशेष्यभूत चित् की निवृत्ति यहाँ अभीष्ट नहीं है। केवल अहङ्कार में कर्तृत्व, भोक्तृत्व, मुमुक्षुत्व आदि कुछ भी नहीं बन सकता अतः अहङ्कारविशिष्ट चैतन्यरूप अहं पद वाच्यार्थ कर्ता भोक्ता मुमुक्षु माना जाता है। उसके विशिष्ट अंश का बाध होने पर भी विशेष्यांश मोक्षान्वयी रह जाता है। 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' इस वाक्य में सर्वपदवाच्य अनात्म प्रपञ्च का अधिष्ठानभूत ब्रह्म पदार्थ ज्ञान से सर्वथा बाध ही इष्ट है।

जो कहा जाता है कि "अहङ्कार से विलक्षण चैतन्यरूप आत्मा को ही अहमर्थ मानना चाहिये", यह ठीक नहीं। कारण, जैसे घट को घटार्थ न मानना 'वदतो व्याघात' है वैसे ही अहङ्कार को अहमर्थ न मानना भी 'वदतो व्याघात' है। यदि केवल चैतन्यात्मा को ही अहं शब्दार्थ माना जाय तो अहं कर्ता, अहं

भोक्ता इत्यादि व्यवहारों में आत्मा को ही कर्ता, भोक्ता मानना पड़ेगा; और उक्त कर्तृत्व भोक्तृत्व की कभी निवृत्ति न होने से मोक्ष भी कभी न बन सकेगा। अतः ग्रन्थि या अहङ्कारविशिष्ट आत्मा को ही 'अहं' पद वाच्य मानना ठीक है। इससे वाच्यविशिष्ट आत्मा में कर्तृत्व, भोक्तृत्व होने पर भी शुद्ध आत्मा कर्तृत्व, भोक्तृत्वादि रहित होकर मोक्षान्वयी होगा। तभी 'अहं ब्रह्मास्मि' यह अनुभव भी 'अहं' पदलक्ष्यार्थ शुद्ध आत्मा को लेकर उपपन्न हो जायगा।

जो कहा जाता है कि "अहं पद का शुद्ध आत्मा अर्थ मानने पर भी अचित् विशेषण उसी तरह उपस्थित हो सकता है; जैसे 'आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्' यहाँ आत्मा के साथ अविद्यांशबलत्व विशेषण की प्रतीति अद्वैती को मान्य है। अथवा 'गौर ब्राह्मण मैं जाता हूँ' इस प्रतीति में शरीररूप विशेषण का लाभ होता है"। परन्तु यह भी ठीक नहीं, क्योंकि जैसे अहं शब्द का शुद्ध आत्मा अर्थ नहीं है वैसे ही 'आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्' यहाँ भी आत्मा शब्द का अर्थ शुद्ध आत्मा नहीं है। ऐसे ही 'गौर ब्राह्मण मैं जाता हूँ' यहाँ भी शरीररहित आत्मा 'गौर, ब्राह्मण, मैं' आदि शब्द का अर्थ नहीं है। अतः उक्त उदाहरण निरर्थक ही है। अद्वैत मत में शुद्ध आत्मा या ब्रह्म लक्ष्यार्थ ही है वाच्य नहीं। फिर तात्पर्य के अनुसार आत्मा, ब्रह्म आदि शब्दों का कहीं विशिष्ट, कहीं लक्ष्य अर्थ ग्राह्य होता है। अतएव ब्रह्म मनोवचनातीत माना जाता है परन्तु अहङ्कारादि अनात्मा ऐसा नहीं है। वह मनोवचन गोचर होने से वाच्य भी हो सकता है। यद्यपि 'अहं' एवं 'आत्मा' दोनों ही शब्द शुद्ध आत्मा के लक्षक होते हैं; फिर भी आत्म शब्द स्वन्ता, इदन्ता, अहन्ता सबके साथ प्रयुक्त होता है, अहं शब्द सब के साथ प्रयुक्त नहीं होता। यह केवल अनात्मा में ही प्रयुक्त होता है और 'आत्मा', 'स्वयं' आदि शब्द केवल अनात्मा में कभी नहीं प्रयुक्त होते।

कहा जाता है कि—

"आत्मानं चेद्विजानीयादयमस्मीति पूरुषः।
किमिच्छन् कस्यकामाय शरीरमनुसंज्वरेत्॥"

अर्थात् यदि जीवात्मा अपने रूप को मैं यह हूँ, ऐसा हूँ, ठीक समझ ले तो किस फल की इच्छा से तथा किस कामना से शरीरानुगामी होकर दुःखी हो। इस श्रुति में अस्मि इस क्रिया के कर्तारूप से शुद्ध आत्मा ही लिया गया है अतः शुद्ध आत्मा ही अहं शब्द का अर्थ है।" परन्तु यह भी ठीक नहीं क्योंकि यहाँ भी शुद्ध आत्मा अहं पद का लाक्षणिक ही अर्थ है, वाच्य नहीं। शुद्ध आत्मा में

लक्षणा से ही अहं शब्द का प्रयोग होता है यह कहा जा चुका है। 'अहं' वाच्य सर्वथा विशिष्ट आत्मा ही होगा।

शुद्ध आत्मा में ही परस्परविरुद्ध कर्तृत्व अकर्तृत्व, भोक्तृत्व अभोक्तृत्व दोनों नहीं बन सकते। अतः विशिष्ट में कर्तृत्वादि और शुद्ध में मुक्तत्वादि मानना अत्यन्त सङ्गत है। शुद्ध में ही कर्तृत्व अकर्तृत्व, बद्धत्व नित्यमुक्तत्व दोनों ही कहना सर्वथा असङ्गत है।

कहा जाता है कि "सोकर उठनेवाला पुरुष समझता है कि मैं सुप्ति में कुछ नहीं जानता था। यदि वहाँ अहङ्कार या चिदचिद्ग्रन्थि नहीं थी तो उसमें अज्ञानाश्रयता भी नहीं बन सकती। अद्वैत सिद्धान्तानुसार चैतन्यमात्र ही सुप्ति में रहता है। अद्वैत मत में चैतन्यमात्र को अहमर्थ मानकर उसी में अज्ञानाश्रयत्व कहा जाता है। अतः चैतन्य आत्मा को ही अहमर्थ मानना ठीक है।" परन्तु यह भी ठीक नहीं, क्योंकि सुप्ति में अहङ्कार या अहङ्कार-विशिष्ट चैतन्य का न होना अद्वैती को मान्य है, उसमें अज्ञानाश्रयत्व नहीं होता यह भी मान्य ही है, यह दूषण नहीं है। किन्तु केवल चैतन्य में अज्ञानाश्रयता अद्वैती को मान्य होने पर भी वह चैतन्य अहमर्थ नहीं है। अतएव सुप्ति में अहमर्थ न रहने पर 'मैंने सोते समय कुछ नहीं जाना' इस प्रतीति में अहङ्कार की प्रतीति इसलिये है कि यह प्रतीति जाग्रत् समय में हो रही है और उस समय अहं है ही। सुप्ति में मैं की प्रतीति नहीं होती। यदि हो तो उसके साथ उसके गुण इच्छादि की प्रतीति अनिवार्य होगी, इत्यादि बातें कही जा चुकी हैं।

"सुप्ति में केवल चैतन्य रहता है" यह कथन भी अशुद्ध है। क्योंकि सुप्ति में अविद्याविशिष्ट प्राज्ञ आत्मा रहता है, यही अद्वैतियों की मान्यता है। उस समय अविद्या से अतिरिक्त चैतन्य की अन्य उपाधि भी नहीं रहती क्योंकि किसी ज्ञान के रहने पर निर्विशेषण अज्ञान का अनुभव नहीं होता। यदि मृत्तिकारूप में अवस्थित सूक्ष्म घट के समान अविद्यांशरूप से सुप्ति में अहं की ही सत्ता मान्य है तो इससे अद्वैती का कोई विरोध नहीं। इस तरह जैसे घट उत्पत्तिनाशशून्य नहीं कहा जा सकता वैसे ही अहं भी उत्पत्ति-नाशशून्य अतएव अबाध्य नहीं कहा जा सकता। फिर जब घटादि के तुल्य अहमर्थ आत्मा भी उत्पत्ति नाशवाला ही है तब उसके नित्यत्व, अविक्रियत्व आदि की सब कथा घटादि तुल्य ही ठहरेगी। फिर 'न जायते म्रियते वा कदाचित्' इत्यादि श्रुति, स्मृति निरर्थक ही होगी। प्रतिवादी घटादि को भी

यथाकथञ्चित् नित्यता सिद्ध करता ही है। फिर प्रतिवादी को यदि घटादि निर्विशेष ही आत्मा मान्य हो तो वह भौतिकवादी चार्वाक, मार्क्स आदि से निर्विशेष ही सिद्ध होगा। जैसे मृत्तिकारूप से अवस्थित घट में 'घटः' ऐसी प्रतीति नहीं होती, उसी तरह सुप्ति में अविद्यावस्थापन्न अहङ्कार में 'अहं' ऐसी प्रतीति नहीं होती। स्थूल अहङ्कार भी अहमर्थ कोटि में नहीं प्रकाशित होता यह कहना स्वानुभव विरुद्ध है। जागरादि काल में अहंरूप से अहङ्कार की प्रतीति सर्वानुभवसिद्ध है। यह प्रतीति आत्मा की प्रतीति नहीं कही जा सकती क्योंकि वह अखण्ड चिदानन्दरूप है और यहाँ 'अहंशान्तः, अहंघोरः, अहंमूढः, अहकर्ता, अहंभोक्ता' आदि रूप से 'अहं' सोपद्रव ऐसा ही भासित होता है। अतः अवश्य ही इस अहमर्थ को सोपाधिक आत्मा मानना चाहिये। 'अहं' दृश्य है, अतएव वह अनात्मा अर्थात् शुद्धात्मा से भिन्न ही है। अनुभवसिद्ध होने से ही प्रत्यात्मसिद्ध अहं को शास्त्रैकगम्य नहीं कहा जा सकता।

यह भी कहा जाता है कि "सुषुप्ति में अज्ञान का भान अद्वैतियों को मान्य है, फिर उन्हें यह भी मानना होगा कि 'सोनेवाले पुरुष के प्रति ही उसका भान होता है, जागनेवाले अन्य लोगों के प्रति नहीं।' इस व्यवस्था के निर्वाहार्थ सुषुप्ताश्रय चैतन्य के अवच्छेदक रूप से सूक्ष्म अहङ्कार सुषुप्ति में भी भासता है ऐसा मानना चाहिये। सूक्ष्माहङ्कारावच्छिन्न चैतन्य के प्रति अज्ञान भासित हो तो उसके भिन्न होने से उपर्युक्त व्यवस्था बन सकेगी। इसी तरह चैत्र को होनेवाला 'मैं अब तक सोता था' यह अनुसन्धान मैत्र विषयक न हो इसलिये भी यह मानना होगा कि 'चैत्रीय सुप्त्याश्रय चैतन्य का अवच्छेदक चैत्रीय अहङ्कार भी भासता है।" परन्तु यह सब कथन निःसार है क्योंकि सुषुप्ति में अहङ्कार का भान न होने पर भी अहङ्कार लयाधिकरण अविद्यांशरूप अवच्छेदक भेद से ही उक्त व्यवस्था उपपन्न हो सकती है। अज्ञानानुभव व्यवस्था के लिये आश्रय भेदमात्र आवश्यक है, अहङ्कार या उसकी प्रतीति अपेक्षित नहीं। व्यष्टि के जाग्रत् स्वप्न सुषुप्ति आदि व्यष्टि को ही भासित होंगे समष्टि को नहीं। अहङ्कार या अविद्यादि उपाधि भेद से आत्मभेद मान्य है ही।

कहा जाता है कि "सुप्ति से उठनेवाले को 'मैं सुख से सोता था' ऐसा अनुसन्धान होता है, 'सुख से चैत्र सोता रहा' ऐसा अनुसन्धान नहीं होता अतः सुप्ति में अहन्त्व भी रहता और प्रकाशता है।" परन्तु यह कथन निराधार है। कारण जाग्रत्काल में अनुसन्धान होने से उसके साथ अहं जुड़ता है। इस

कारण नहीं कि सुप्ति में अहङ्कार है या उसका भान होता है। यदि अहङ्कार होता तो उसका धर्म ज्ञानेच्छादि भी होना चाहिये किन्तु ऐसा होने से सुप्ति ही नहीं रह सकती थी। इसके अतिरिक्त श्रुति ने भी सुप्ति में अहं की प्रतीति का निषेध किया है यह कहा जा चुका। अतएव आत्मनिष्ठ होने पर भी अहन्त्व का सुप्ति में भान नहीं होता किन्तु जाग्रत्काल का ही अहन्त्व अनुसन्धान में भासित होता है। सुप्ति में प्राज्ञ सौषुप्त अज्ञान का अनुभव करता है; वही प्राज्ञ विश्व बनकर जाग्रत् में उसका अनुसन्धान करता है यह भी कहा जा चुका है। यह भी कहना ठीक नहीं है कि सुप्ति आविद्यिक वृत्ति है, वृत्तिविशेष अन्तःकरण का ही सूक्ष्म रूप है। क्योंकि अन्तःकरण परिणाम वृत्ति के समान ही अविद्या का भी परिणाम वृत्ति मान्य है, अतएव ईश्वरीय ज्ञान भी ईश्वरीय माया का परिणाम माना जाता है। इसी तरह आविद्यिक वृत्ति अविद्या का ही परिणाम मान्य है। अविद्या रूप से अवस्थित अहङ्कार में अहन्ता वैसे ही बाधित है जैसे मृत्तिका में घटत्व। अतः जैसे मृत्तिका में घट का भान असम्भव है वैसे ही अविद्या में अहङ्कार के लीन हो जाने पर उसमें अहमर्थ का भान भी असम्भव है।

जागर, स्वप्न, सुषुप्ति तीनों अवस्थाओं का आश्रय विशेष्य आत्मा एक सा होने पर भी विशेषणभेद से उसमें विश्व, तैजस्, प्राज्ञ, ये तीन भेद होते हैं। अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य विश्व है, अर्धनिद्रित अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य तैजस् और निद्रितान्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य अर्थात् विलीनान्तःकरणाविद्या-वच्छिन्न चैतन्य प्राज्ञ है। जैसे मृत्तिका में घट का भान नहीं होता वैसे ही अविद्या में अहं का भी भान नहीं होता। यह भी कहा जाता है कि 'यदि अविद्या वृत्ति का विषय सुखरूप आत्ममात्र है तब 'तत्त्वमसि' महावाक्य जन्य अखण्डाकार वृत्ति और सुप्तिकालिक अविद्या वृत्ति में कुछ भी भेद सिद्ध नहीं होगा, फिर तो उसी से प्रपञ्चनिवृत्ति और मुक्ति-सिद्धि होनी चाहिये। यदि अहन्त्वादि आरोपित धर्मों को लेकर आत्मा अविद्या वृत्ति का विषय है तो सुप्ति में भी अहङ्कार का भान मानना ही पड़ेगा।' परन्तु यह भी केवल मनोमोदक मात्र है क्योंकि अविद्या वृत्ति और अन्तःकरण वृत्ति होना ही दोनों का भेद है। ब्रह्मविषया अन्तःकरण वृत्ति अविद्या का निवर्तक है, किन्तु अविद्या वृत्ति अविद्या का निवर्तक नहीं। अतएव शुद्ध ब्रह्म विषयक होने पर भी अज्ञान अज्ञान का निवर्तक नहीं होता। आविद्यिक वृत्ति अहङ्कार विषयक न होने पर भी विविध संस्कारोपेत अहङ्कार के कारणभूत अविद्या से समावृत चैतन्य को ही विषय करती है। अतएव अहङ्कार की प्रतीति नहीं होती,

किन्तु सुप्ति में अविद्या की प्रतीति होती है। अतः चिद्रूप आत्मा यद्यपि अहमर्थ है परन्तु वह अहं का लक्ष्यार्थ है, वाच्यार्थ नहीं। अहं पद वाच्य अहङ्कार विशिष्ट ही है। वह अहङ्कार जाग्रत् में ही होता है। अन्तःकरण के अवस्था-भेद से ही उसमें विश्व, तैजस् आदि भेद प्रसिद्ध हैं। जाग्रत् में स्थूल, सूक्ष्म, कारण ये तीन उपाधियाँ रहती हैं; स्वप्न में सूक्ष्म और कारण ये दो उपाधियाँ रहती हैं और सुप्ति में केवल अविद्यारूप उपाधि रहती है। समाधि में स्थूल, सूक्ष्म, कारण तीनों ही उपाधियों का बाध हो जाता है। इसके अतिरिक्त भले अद्वैती स्थूल, सूक्ष्म, कारण रूप से अहङ्कार को ही आत्मा की उपाधि मान लें, तो भी इससे प्रतिवादी का कुछ भी लाभ नहीं हो सकता। कारण अद्वैती सोपाधिक आत्मा को अहमर्थ मानता है और प्रतिवादी शुद्ध आत्मा को। अहमर्थ विकारी उत्पत्ति नाशशील है। यदि वही आत्मा है तो वह भी उत्पत्ति विनाशशील होगा। फिर उसकी निर्विकारता बतलानेवाली श्रुतियों, स्मृतियों का विरोध ध्रुव होगा।

इसी तरह प्रतिवादी कहता है कि "यदि चिदचिद्ग्रन्थि को अहमर्थ माना जायगा तो यह प्रश्न होगा कि अहं शब्द की प्रवृत्ति का निमित्त क्या है? यदि अहङ्कारत्व या चेतनत्व, तो यह अनुभवानुसारी नहीं है"। सभी वक्ता अहन्त्व को ही प्रवृत्ति निमित्त मानकर अहं शब्द का प्रयोग करते हैं, परन्तु यह भी ठीक नहीं है क्योंकि सामान्य जनों को यह विदित ही नहीं होता, केवल विवेचकों को ही विदित होता है। सामान्य लोगों की दृष्टि में व्यञ्जक चैतन्यविशिष्ट अहङ्कार अथवा व्यंग्य अहंकारविशिष्ट व्यञ्जक चैतन्य ही अहमर्थ है अतः उसमें रहने-वाले अहन्त्व धर्म को ही प्रवृत्ति निमित्त मानकर अहं शब्द का प्रयोग करते हैं। उभयत्व को भी प्रवृत्ति निमित्त मानने में कोई हर्ज नहीं।

जो कहा जाता है कि "भेदग्रह बिना उभयत्वग्रह नहीं हो सकता और यदि भेदग्रह है तो अध्यास नहीं हो सकेगा"? परन्तु यह भी ठीक नहीं। क्योंकि सामान्य भेद मालूम होने पर भी अध्यासविरोधी भेदग्रह नहीं होता। जैसे सामान्य रूप से आत्मा एवं बुद्धि सत्त्व का भेद मालूम होने पर भी विवेकग्रह निवर्तक सत्त्वपुरुषान्यताख्याति उससे भिन्न होती है, वैसे ही प्रकृत में भी समझना चाहिये।

इसी तरह कहा जाता है कि "यदि अहङ्कारविशिष्ट चैतन्य या चैतन्य-विशिष्ट अहङ्कार को अहमर्थ माना जायगा तो विशेषणविशेष्य निर्वाहक सम्बन्ध

बतलाना होगा। द्विष्ठ सम्बन्ध माना जायगा तो भी भेदग्रह अनिवार्य होगा और फिर अध्यास में बाधा पड़ेगी"। परन्तु यह भी ठीक नहीं है क्योंकि पूर्वोक्त युक्ति से सामान्य भेदग्रह होने पर भी अभेदाध्यास निवर्तक भेदग्रह न होने से अभेदाध्यास उपपन्न हो सकेगा। आध्यासिक तादात्म्य सम्बन्ध को लेकर भी उक्त विशेषणविशेष्य भाव उपपन्न हो सकता है।

कहा जाता है कि "अभेद सम्बन्ध से विशेषणविशेष्य भाव मानने पर यह भी मानना होगा कि अहङ्कार में विद्यमान धर्म को लेकर चैतन्य भासता है एवं चैतन्य में विद्यमान धर्म को लेकर अहंकार भासता है, क्योंकि परस्पराध्यास होने से एक में विद्यमान धर्म को लेकर दूसरे का भान होना अनिवार्य होगा; पर अद्वैत मतानुसार चैतन्य निर्धर्मक ही है फिर चैतन्यके किस धर्म को लेकर अहङ्कार का भान होगा?" परन्तु यह भी ठीक नहीं, कारण परमार्थतः चैतन्य के निर्धर्मक होने पर भी उसमें आरोपित ज्ञान, आनन्त्य, सत्यत्व आदि धर्म मान्य होते हैं अतएव चैतन्यविशिष्ट रूप से अहङ्कार का भान होता ही है।

प्रतिवादी कहता है कि "यदि अहङ्कार का भान चैतन्यविशिष्ट रूप में होगा तो भी दोनों का भेदग्रह हो ही जायगा फिर अभेदाध्यास कैसे बनेगा?" परन्तु यह भी निःसार है। क्योंकि जैसे भ्रमस्थलीय 'अयं सर्पः' इस प्रतीति में इदन्ताविशिष्ट सर्प की प्रतीति होने पर भी अध्यास में बाधा नहीं पड़ती, वैसे ही अहंकारविशिष्ट चैतन्य की प्रतीति होने पर भी अध्यास में बाधा नहीं पड़ेगी। जैसे उदाहरण में रज्जुत्वविशिष्ट इदमंश एवं सर्प के भेदभान से ही भ्रम मिटता है, वैसे ही भास्यसंसर्गशून्य असङ्ग अनन्त आनन्दस्वरूप चैतन्य के भान से भ्रम में बाधा पड़ती है।

कहा जाता है कि "यदि अहं के अहन्त्व धर्म को लेकर चैतन्य का भान माना जायगा तो अहन्त्व को अहङ्कार का अवास्तविक धर्म मानना पड़ेगा। यदि अहं में अहन्त्व मान्य होगा तो वह युष्मदर्थ न बन सकेगा और अद्वैती अहं को युष्मदर्थ ही मानते हैं"। परन्तु यह सब कथन निःसार है। यदि अहं स्वयं ही वास्तविक नहीं है तो उसमें अहन्त्व वास्तविक क्यों होगा? साथ ही अहं में अहन्त्व भी रह सकता है, युष्मदर्थता भी उसमें हो ही सकती है। जहाँ जिस चैतन्यविशिष्ट अहङ्कार या अहङ्कारविशिष्ट चैतन्य को अद्वैती अहमर्थ कहते हैं वही युष्मद अस्मद् दोनों का ही अर्थ है। वक्ता में अस्मद् शब्द एवं सम्बोध्य में युष्मद् शब्द का प्रयोग होता है। जैसे प्रतिवादी

के मत में वही जीव चैतन्य ही दोनों का अर्थ होता है वैसे ही अद्वैती के मत में अहङ्कारविशिष्ट चैतन्य ही दोनों शब्दों का अर्थ होता है। हाँ, कहीं लक्षणा से युष्मद् शब्द का केवल अचेतन अहङ्कारादि अर्थ है और अस्मद् शब्द का शुद्ध चेतन भी अर्थ होता है। इसी अभिप्राय से भाष्यकार ने 'युष्मदस्मत्प्रत्यय गोचरयोः' इस भाष्य में दोनों शब्दों का प्रयोग किया है। उसी अभिप्राय से दोनों का तमः प्रकाशवत् विरुद्ध स्वभाव है। जैसे वही जीव चैतन्य अपनी दृष्टि से अस्मद् शब्द व्यपदेश्य होता हुआ भी अन्य दृष्टि से युष्मद् शब्द व्यपदेश्य होता है, वैसे ही सोपाधिक आत्मा या अहङ्कारविशिष्ट चैतन्य ही विभिन्न दृष्टिकोण से विभिन्न शब्दवाच्य हो जाता है। सोपाधिक आत्मा या चैतन्य-विशिष्ट अहङ्कारादि दृश्य एवं पराक् तथा परार्थ होने से भी युष्मद् शब्द वाच्य होते हैं।

कहा जाता है कि "अद्वैत मत में कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि अहङ्कार में ही माने जाते हैं। निर्विशेष चैतन्य में अहङ्कार के द्वारा अतिशयाधान भी नहीं होता; अतः अहङ्कार में होनेवाले सुख आदि के लिए ही अन्य सब कुछ है। अहङ्कार अन्य के लिए नहीं होता अतः अहंकार में परार्थत्व नहीं बनता, अतएव वह युष्मदर्थ नहीं हो सकता। हाँ यदि अहं में वास्तविक अहन्त्व न हो तभी वह युष्मदर्थ हो सकता है। परन्तु यह भी ठीक नहीं, क्योंकि अहङ्कार जिस आत्मा की उपाधि है उसके सहारे ही अहङ्कार में कर्तृत्व, भोक्तृत्व है। उसके द्वारा ही अहं में आत्मत्व की प्रतीति होती है। वास्तविक आत्मा का ही अध्यारोपित सुख अहंकाराश्रित प्रतीत होता है। अहंकार दृग्दृश्य ग्रंथिरूप होने से सहंत, पराक् एवं परार्थ ही है। यह भी असंहत, प्रत्यक् आत्मा के लिये ही है। अहङ्कार के द्वारा आत्मा का भोग एवं अपवर्ग बनता है। आत्मा में अतिशयाधान न होने पर भी आरोपित बन्धनिवृत्ति और प्रेप्सित परमानन्द की प्राप्ति भी उसी में होती है। हाँ, यह अवश्य है कि यहाँ अपरिहृत की परिजिहीर्षा और अप्राप्त की प्रेप्सा नहीं होती किन्तु परिहृतपरिजिहीर्षा एवं प्राप्त प्रेप्सा ही होती है। विस्मृत कण्ठमणि और वलयारोपित सर्प उसके उदाहरण हैं। अहङ्कार के लिए सब कुछ है यह कहना सर्वानुभव विरुद्ध है। जैसे सुखार्थ सब कुछ होता है सुख अन्यार्थ नहीं होता, वैसे ही आत्मार्थ सब कुछ है आत्मा अन्यार्थ नहीं होता। अतएव सुख और आत्मा दोनों ही एक ही वस्तु हैं। सुख और अहङ्कार एक ही वस्तु है यह प्रतिवादी भी नहीं मान सकता। अहङ्कार में

वास्तविक अहन्त्व मानने की कोई आवश्यकता नहीं है यह कहा जा चुका। जिस श्रेणी का 'अहं' है उसी श्रेणी का उसमें आरोपित अहन्त्व भी है। उसी अहन्त्व को लेकर चैतन्य का भासना बन सकता है, इसमें कोई विरोध नहीं है। चैतन्य में अहङ्कार का अहन्त्व ही नहीं किन्तु अहङ्कार का कर्तृत्व आदि भी भासता है।

कहा जाता है कि "अहङ्कार का चैतन्य में तादात्म्याध्यास नहीं हो सकता क्योंकि चेतन मैं करता हूँ, इस प्रतीति के अनुसार अहङ्कार चैतन्य के आश्रयरूप से भासता है। जो अहङ्कार चैतन्य के आश्रयरूप से भासता है उसका चैतन्य में अध्यास कैसे हो सकता है? यहाँ आश्रयाश्रयीभाव को लेकर चैतन्य एवं अहङ्कार में भेदग्रह है, फिर चैतन्य में अहङ्कार का अध्यास कैसे हो सकता है?" परन्तु यह कथन भी निःसार है। कारण, पुरोवर्ती में सर्प का अध्यारोप होने पर भी सर्पाश्रयत्वेन पुरोवर्तिता इदन्ता की प्रतीति 'अयं सर्पः' इस रूप से होती है। इस प्रकार का भेदग्रह अध्यास का बाधक नहीं होता यह कहा जा चुका।

आकाशादि भी सत्स्वरूप ब्रह्म में आरोपित हैं। फिर भी सत्ता के आश्रय-रूप से आकाशादि प्रतीत होते हैं और यह भेदग्रह अध्यारोप का बाधक भी नहीं होता।

मान्त, दान्त, अहं शब्द के भेद से अर्थभेद की कल्पना भी निराधार है। कोई भी पाणिनि, कात्यायन, पतञ्जलि का ऐसा वाक्य नहीं जो यह सिद्ध करता हो कि दान्त अहं शब्द का आत्मा अर्थ है और मान्त का अहङ्कार। काशिका की टीका मञ्जरी आदि से भी दो प्रकार के शब्द की ही सिद्धि होती है परन्तु उनमें किसी अहं शब्द का आत्मा अर्थ है यह उससे भी नहीं सिद्ध होता। 'दम्भाहङ्कारसंयुक्ता, आदि पीछे के अनेक प्रमाणों से मन, बुद्धि, चित्त के समान ही अहङ्कार भी आत्मा से भिन्न तत्त्वान्तर सिद्ध है। 'दम्भाहङ्कार-संयुक्ता' से भी अहङ्कार तत्त्वान्तर का ही वाचक है। शुद्ध आत्मा का वाचक अहङ्कार है यह किसी भी प्रमाण से सिद्ध नहीं होता। वह अहङ्कारव्यञ्जक चैतन्य से युक्त ही उपलब्ध होता है यही उसकी चिदचिद्ग्रन्थिरूपता है।

इसी तरह—

"मनो बुद्धिरहङ्कारश्चित्तं करणमान्तरम्।
संशयो निश्चयो गर्वः स्मरणं विषया इमे॥"

इस वचन के सम्बन्ध में भी कहा जाता है कि मन, बुद्धि, चित्त, अहङ्कार ये चार प्रकार के अन्तःकरण हैं। संशय, निश्चय, गर्व और

स्मरण इनके विषय हैं। तो, गर्वरूप वृत्ति को लेकर ही अन्तःकरण में अहङ्कार शब्द का प्रयोग होता है, अन्य वृत्तियों को लेकर अन्तःकरण में अहङ्कार शब्द का प्रयोग नहीं होता। यदि उपर्युक्त शब्दों की शक्ति एकरूप से मान ली जाय तो चारों वृत्तियों के समय में अस्मच्छब्द का प्रयोग होना चाहिये। क्योंकि चिदचिद्ग्रन्थि शरीररूप अन्तःकरण में विद्यमान अन्तःकरणस्थ चारों में अनुगत है। तब गर्वव्यतिरिक्त वृत्तियों में भी चिद-चिद्ग्रन्थि विशेष मानकर अहङ्कार शब्द का प्रयोग क्यों नहीं होता? अतः चिदचिद्ग्रन्थि अहङ्कार का अर्थ नहीं है।" यह भी ठीक नहीं, क्योंकि जैसे चित्त का विषय स्मरण है, बुद्धि का कार्य अध्यवसाय है, फिर भी स्मरणादि न रहने पर भी चित्तादि रहते हैं, उनका विलोप नहीं हो जाता; उसी तरह गर्व के न रहने पर भी अहङ्कार का लोप नहीं होता। यह भी भेदव्यवहार भेदविवक्षा से ही है। कहीं केवल मन शब्द से और कहीं केवल अहङ्कार शब्द से ही अन्तःकरण-मात्र का ग्रहण हो जाता है। अतएव श्रुति में काम, सङ्कल्प, श्रद्धा, ह्री, धी, भी, सबको मन ही कहा गया है। उस दृष्टि से अन्तःकरणमात्र में अहङ्कार शब्द का प्रयोग होता ही है। जहाँ भेदविवक्षा है वहाँ भिन्न भिन्न शब्दों का भी प्रयोग होता है।

कहा जाता है कि "जैसे मैं स्थूल हूँ, ऐसा कहने पर देहादि अनात्मा में होने-वाला आत्माभिमान प्रतीत होता है, परन्तु स्थूल अहङ्कार है ऐसा कहने से उप-र्युक्त अभिमान प्रतीत नहीं होता। इससे सिद्ध होता है कि अहङ्कार शब्द का अर्थ दूसरा तथा अस्मद् शब्द से निष्पन्न अहं का अर्थ दूसरा है"। यह सब कथन भी निःसार है। पहले तो उपर्युक्त दोष अहमर्थ को आत्मा माननेवालों के ही मत में आता है। अद्वैतवादी जैसे 'मैं स्थूल हूँ', इस प्रतीति में आत्मा अनात्मा का मिश्रण मानते हैं, वैसे ही 'मैं कर्ता, भोक्ता, ज्ञाता हूँ' इन प्रतीतियों में भी अन्योन्याध्यासरूप मिश्रण मानते हैं यह कहा जा चुका है।

"अहङ्कार स्थूल है', ऐसी प्रतीति उसी के मत से होनी चाहिये जो अहङ्कार को आत्मा मानता है। प्रतिवादी अहङ्कार को ही आत्मा कहने का हठ करता है, अद्वैती अहङ्कार को अनात्मा ही कहता है। दो प्रकार का अहङ्कार सिद्धकर एक को आत्मा एक को अनात्मा कहने से भी उक्त दोषों का वारण नहीं होता। अहं शब्द सदा एकरूप से रहता है। अस्मद् शब्द से बननेवाले 'अहं, मां, मम' आदि अनेक रूप होते हैं यह सही है; इसमें विवाद भी नहीं है। परन्तु मान्य अन्यतर गर्व का और अस्मद् शब्द आत्मा का वाचक है इस विषय में

कोई प्रमाण नहीं है। अहं शब्द गर्व का वाचक नहीं है किन्तु गर्व उसका विषय है, जैसे चित्त स्मरणवाचक नहीं है किन्तु स्मरण उसका कार्य है; यह कहा जा चुका। इसी लिये 'महाभूतान्यहङ्कारो', 'निर्ममोनिरहङ्कार' इत्यादि स्थलों का अहङ्कार शब्द अनात्मा का ही बोधक है।

कहा जाता है कि "जैसे अहङ्कार एवं अहमर्थ का एक ही 'अहं' शब्द वाचक है, उसी तरह बुद्धि शब्द के ही महत्तत्त्व और संविद् दोनों ही वाच्य हैं। फिर जैसे अहमर्थ 'महाभूतान्यहङ्कारः' के अनुसार क्षेत्रान्तर्गत है वैसे ही 'बुद्धिरव्यक्तमेव च' के अनुसार संवित् भी क्षेत्रान्तर्गत सिद्ध होगी। यदि बुद्धि शब्द का मुख्यार्थ संवित् और लाक्षणिक अर्थ महत्तत्त्व है ऐसा मानकर बुद्धि शब्द का लाक्षणिक अर्थ महत्तत्त्व ही क्षेत्रान्तर्गत है संवित् नहीं; ऐसा कहा जाय तो यही सब बात 'अहं' के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। 'अहं' मान्त शब्द का वाच्य अहङ्कार ही क्षेत्रान्तर्गत है, अस्मद् शब्द निष्पन्न 'अहं' शब्द का अर्थ आत्मा क्षेत्र नहीं है।" परन्तु यह कल्पना भी अशुद्ध है। बुद्धि शब्द का सर्वत्र महत्तत्त्व ही अर्थ है अतएव वही क्षेत्र है। हाँ संवित् एवं ज्ञान शब्द बुद्धि, वृत्ति एवं नित्यज्ञानरूप ब्रह्म के बोधक हैं। वस्तुतः बुद्धि शब्द का मुख्यार्थ महत्तत्त्व है और वह क्षेत्र ही है, किन्तु कहीं लक्षणा से बुद्धि शब्द का नित्यज्ञान भी अर्थ हो सकता है। इसी तरह अहं शब्द का मुख्यार्थ अनात्मा या क्षेत्र ही है कचित् लक्षणा से शुद्ध आत्मा भी अहं शब्द का अर्थ हो सकता है।

कहा जाता है कि "एक अहङ्कार अहं बुद्धि का वाचक है, वह च्वि प्रत्यय शून्य कृञ् धातु से बना है। अहंक्रिया अर्थात् 'अहं' ऐसा समझना इस अहङ्कार शब्द का अर्थ है। दूसरा अहङ्कार शब्द च्वि प्रत्ययान्त अहं शब्द से भावार्थक कृत्प्रत्ययान्त कृञ् धातु से बना है। अनहं पदार्थ अर्थात् आत्मा से भिन्न देहादि में जो 'अहं' ऐसा अभिमान होता है वह देहादि अभिमान इस अहङ्कार शब्द का अर्थ है। इसी तरह च्वि प्रत्ययान्त अहं शब्द तथा करणार्थक कृत्प्रत्ययान्त कृञ् धातु को लेकर एक अहङ्कार शब्द निष्पन्न होता है। जिसका अर्थ अहङ्कार तत्त्व है। जिसके प्रभाव से आत्मभिन्न देहादि में अहं ऐसा अभिमान होता है। वह उपर्युक्त अभिमान का साधन होने से अहङ्कार कहा जाता है। यही अहङ्कार शरीर का उपादान कारण होने से उपर्युक्त गीता के श्लोक में क्षेत्रान्तर्गत कहा गया है। अर्थात् भावार्थक प्रत्ययान्त अहङ्कार शब्द गर्ववाची और करण प्रत्ययार्थक अहङ्कार तत्त्ववाची है। 'अनहं अहं क्रियतेऽनेनेत्यहङ्कारः' यह करणार्थक और 'अनहमोऽहमःकारः' यह भाव

प्रत्ययार्थक है। 'अनहं' आत्मभिन्न देहादि अहङ्कारास्पद जिससे बनता है वह अहङ्कारतत्व और अनहं देहादि में अहं व्यवहार करना 'अहङ्कार' है, अतः अहमर्थ आत्मा को अहङ्कार मानकर उसे क्षेत्र कहना ठीक नहीं।" परन्तु यह ठीक नहीं, कारण यहाँ अभूततद्भाव है ही नहीं। अनहं देहादि में अहं बुद्धि अहङ्कार है और अहं आत्मा में 'अहं' बुद्धि अहङ्कार नहीं है यह उपहासास्पद बात है। फिर ऐसे ही यह क्यों न कहा जाय कि अत्वं' (त्वं भिन्न) में त्वं बुद्धि त्वङ्कार है और त्वं में त्वं बुद्धि त्वङ्कार नहीं इसी तरह अनिदं में इदं बुद्धि इदङ्कार है और इदं में इदं बुद्धि इदङ्कार नहीं। यदि इसे इष्ट ही माना जाय तो ठीक नहीं क्योंकि इसमें सभी शास्त्रों का विरोध ही होगा। किसी भी शास्त्र को यह व्यवस्था मान्य भी नहीं है। इसी तरह प्रश्न होगा कि बुद्धि में अहं बुद्धि अहङ्कार है या नहीं? पहला पक्ष ठीक नहीं क्योंकि अनहं में अहं बुद्धि अहङ्कार है यह नियमभङ्ग हुआ, कारण बुद्धि भी अहंरूप से मान्य ही है, तथा च बुद्धिरूप 'अहं' में अहं बुद्धि भी अहङ्कार हुआ। यदि कहा जाय कि बुद्धि अहमर्थ है ही नहीं तो यह कहना भी ठीक नहीं; कारण, 'अथातोऽहङ्कारादेशः' के सम्बन्ध में प्रतिवादी कहता है कि यहाँ अहं शब्द साक्षात् अहमर्थ बुद्धि का वाची है। यदि कहा जाय कि 'बुद्धि' में अहं बुद्धि अहङ्कार नहीं है तो यह भी ठीक नहीं, क्योंकि बुद्धि भी अहंरूप आत्मा से भिन्न अनहं ही है फिर उसमें अहं बुद्धि अहङ्कार क्यों नहीं? यदि कहा जाय कि बुद्धि अहमर्थ ही है तो यह भी ठीक नहीं क्योंकि प्रतिवादी आत्मा को ही अहमर्थ मानता है बुद्धि को नहीं। सर्वथापि अहं शब्द का अर्थ शुद्ध आत्मा नहीं है। अहमर्थ आत्मा है एवं कोई अहङ्कार क्षेत्र से भिन्न क्षेत्रज्ञ ही है यह सब बात प्रमाणविधुर है। ज्ञान एवं संवित् क्षेत्र भिन्न आत्मा है इसमें 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इत्यादि श्रुतियाँ ही प्रमाण हैं। 'गर्व' अहङ्कार नहीं किन्तु अहङ्कार का विषय है। 'गर्वोऽभिमानोऽहङ्कारः' यह निघण्टु वचन भी उपचार से ही अहङ्कार को गर्व कहता है।

कहा जाता है कि "गर्वरूप अहङ्कार ही त्याज्य होता है। अहङ्कार तत्व का त्याग असम्भव ही है। मोक्ष में वह भगवत्प्रसाद से छूटता है तथा महाप्रलय में भी अहङ्कार जीव का सम्बन्ध छोड़ देता है, जीवित समय में उसका छोड़ना सम्भव नहीं। परन्तु अहमर्थ तो कभी छोड़ा नहीं जाता, क्योंकि वह और साधक का आत्मा एक ही है। अहङ्कार तत्त्व और अहमर्थ दुस्त्यज पदार्थ है अतः उसके त्याग का उपदेश गीता नहीं दे सकती। फलतः गर्वरूप अहङ्कार ही त्याज्य होता है।" परन्तु यह ठीक नहीं, क्योंकि उक्त संकुचित अर्थ करने में

कोई प्रमाण नहीं है। जैसे सशरीर के प्रिय अप्रिय की अपहति नहीं होती परन्तु शरीर को आत्मभिन्न समझ लेने और उसका अध्यास छोड़ देने से ज्ञानी अशरीर हो जाता है। तभी 'सशरीरस्य न प्रियाप्रिययोरपहतिः', 'अशरीरं वा वसन्तं नैनं प्रियाप्रियौ स्पृशतः' ये श्रुतियाँ आत्मा को अशरीर कहती हैं। इसी तरह अहं से भिन्न आत्मा को समझने से ज्ञानी प्राणी अहङ्कार से रहित अतएव निरहङ्कार हो जाता है। आत्मा के साथ अन्योन्याध्यास होने से ही आत्मा को भी अहमर्थ समझा जाता है। अन्योन्याध्यास मिटने पर आत्मा 'अहं' शब्द का लक्ष्य ही होता है वाच्य नहीं। अतः ज्ञान होने पर आत्मा सर्वथा निरहङ्कार हो सकता है। अहन्ता, ममता, इदन्ता सभी आत्मा में अध्यस्त ही हैं। अधिष्ठान साक्षात्कार से सबकी निवृत्ति होनी ही चाहिये।

इसी तरह 'अथातोऽहङ्कारादेशः' इस भूम विद्या के द्वारा अहङ्कारादेश से भी अहङ्कार की आत्मता सिद्ध नहीं होती। शाङ्कर भाष्य से भी अहं आत्मा एवं भूमा का अभेद सिद्ध नहीं होता। 'स एवाधस्तात्,स उपरिष्टात्, स पश्चात्, स पुरस्तात्, स दक्षिणतः, स उत्तरतः,स एवेदं सर्वमू',इससे यह कहा गया है कि भूमा ही नीचे है, वही ऊपर है, वही दायें, वही बायें, वही सब कुछ है। इस निर्देश से भूमा की परोक्षता प्रतीत होती है; अतः उसे ही प्रत्यक्चैतन्याभिन्न एवं स्वप्रकाश अत्यन्त अपरोक्ष सिद्ध करने की दृष्टि से अहङ्कारादेश है। अर्थात् मैं ही नीचे, ऊपर, दायें, बायें, तथा सब कुछ हूँ। इससे 'यह भूमा और प्रत्यक् चैतन्य एक ही हैं' यह सिद्ध किया गया है। 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्यादि स्थलों में अहं शब्द से जैसे अहं पद लक्ष्यार्थ शोधित त्वं पदार्थ लिया जाता है, वैसे ही यहाँ अहं शब्द का लक्ष्यार्थ ही ग्राह्य है। वही भूमा से अभिन्न होने से सर्वात्मा हो सकता है। परन्तु अहङ्कारादेश से किसी को यह भ्रम हो सकता है कि अहङ्कार या अहमर्थ को ही सर्वात्मा (सब कुछ) कहा गया है। इसी भ्रान्ति को दूर करने के लिए आत्मादेश है। 'आत्मैवाधस्तात् आत्मैवोपरिष्टात्' आत्मा ही ऊपर है, आत्मा ही नीचे है, आत्मा ही सब कुछ है; अर्थात् 'अहमेवाधस्तात्' इत्यादि से अहङ्कार अहमर्थ या सोपाधिक आत्मा को सर्वात्मा नहीं कहा गया, किन्तु अहं पद लक्ष्यार्थ शुद्ध आत्मा ही यहाँ विवक्षित है। जैसे 'अहं ब्रह्मास्मि' में अहं पद लक्ष्यार्थ आत्मा और ब्रह्म का अभेद है, अहङ्कारविशिष्ट चैतन्य का ब्रह्म के साथ ऐक्य नहीं है, वैसे ही प्रकृत में भी समझना चाहिये।

'स एवाधस्तात्', 'आत्मैवाधस्तात्' 'अहमेवाधस्तात्' आदि स्थलों में एवकार का प्रयोग अवश्य ही इतर व्यवच्छेदार्थक है अतः तीनों की एकता ही

विवक्षित है। क्या प्रतिवादी वास्तव में ऐसा मानता है? क्या भूमा और अहमर्थ उसके मत में अत्यन्त अभिन्न हैं? साथ ही क्या अणुपरिमाण आत्मा ही ऊपर, नीचे, दक्षिण, उत्तर, और यही सब कुछ हो सकता है? और क्या जिस तरह भूमा शब्द से व्यापक ब्रह्म की सर्वात्मकता कही गयी है उसी तरह अहमर्थ की सर्वात्मकता कही जा सकती है? कहना होगा कि नहीं, यहाँ प्रकारभेद से भिन्न प्रकार की सर्वात्मकता कही गयी है फिर क्या इतर व्यवच्छेद उपपन्न हो सकता है? कहना होगा कि भूमा सर्वकारण होने से 'तदनन्यन्याय' से सर्वात्मक है, किन्तु अहमर्थ वैसा नहीं है। यहाँ 'अहं' पद का अर्थ जीव है, फिर तदन्तर्गत तदन्तर्यामी भी उसका अर्थ है। इस तरह 'अहं' पद का अर्थ जीवान्तर्यामी मानकर उसकी सर्वात्मकता कही गयी है। परन्तु यहाँ व्यवच्छेदक सार्थक ही नहीं है, क्योंकि इस तरह घट ही ऊपर, नीचे, दायें, बायें और घट ही सब कुछ है कहा जा सकता है; घट शब्द का भी घटान्तर्यामी अर्थ लिया जा सकता है। इन सब क्लिष्ट कल्पनाओं की अपेक्षा यह सीधासादा अर्थ कहीं अच्छा है कि अहं शब्द का वाच्यार्थ अहङ्कार या सोपाधिक आत्मा सर्वात्मा हो नहीं सकता, उसका भूमा के साथ अभेद भी नहीं हो सकता, अतः अहं पद का लक्ष्यार्थ ही सर्वात्मा हो सकता है। वही भूमा से भी अभिन्न हो सकता है। वही यहाँ ग्राह्य है।

'अहमेवाधस्तात्' के अर्थ में होनेवाली शङ्का दूर करने के लिए ही 'आत्मैवाधस्तात्' कहा गया है। प्रतिवादी के मत में 'अहं' से अनात्मा में आत्माभिमानरूप अहङ्कार के ग्रहण होने की शङ्का होती थी। 'आत्मैवाधस्तात्' से कहा गया कि वह यहाँ ग्राह्य नहीं है किन्तु शुद्ध आत्मा ही 'अहं' शब्द से ग्राह्य है। अद्वैती के मत में यह शङ्का थी कि 'अहं' शब्द का अर्थ अहङ्कार या सोपाधिक आत्मा यहाँ ग्राह्य है। उसका निराकरणकर यह कहा गया कि यहाँ शुद्ध आत्मा 'अहं' शब्द का लक्ष्यार्थ ही ग्राह्य है। प्रतिवादी के मत में जैसे भूमा के तुल्य आत्मा की सर्वात्मता नहीं हो सकती वैसे ही अहङ्कार की भी सर्वात्मता नहीं हो सकती। जीवान्तर्यामी को लेकर जैसे आत्मा की सर्वात्मकता हो सकती है वैसे अहङ्कारान्तर्यामी को लेकर अहङ्कार की सर्वात्मकता हो सकती है। सत् ही सब कुछ है, चित् ही सब कुछ है के समान भूमा ही सब कुछ है, मैं ही सब कुछ हूँ, यह प्रतिवादी के मत में कथमपि मान्य नहीं है, क्योंकि इस तरह सत् चित् के तुल्य ही अहं और भूमा एक ही अर्थ के वाचक शब्द सिद्ध होंगे, किन्तु यह शास्त्रविरुद्ध है। अतएव यह कहना भी

ठीक नहीं है कि अहमर्थ आत्मा और अहङ्कार एक ही पदार्थ प्रसिद्ध हैं। आत्मादेश एवं अहंकारादेश के पहले भी यह लोगों को विदित ही है। अतः इन आदेशों का तात्पर्य अहंकार एवं आत्मा के अभेद बतलाने में नहीं हो सकता। प्रत्यक्षसिद्ध अभेद प्रतिपादन से अनुवादकत्वेन शास्त्र का अप्रामाण्य-प्रसङ्ग भी होगा। ऐसी स्थिति में आदेशभेदों का यही अर्थ है कि अहंकार और आत्मा भिन्न भिन्न पदार्थ हैं; अतः यहाँ अहं का वाच्यार्थ न लेकर लक्ष्यार्थ आत्मा का ही अभेद विवक्षित है। अहंकार का भूमा से अभेद सम्भव नहीं है अतः वह यहाँ नहीं ग्राह्य है। हाँ, भूमा और आत्मा का अभेद प्रतिपादन इष्ट हो सकता है क्योंकि वह लोकसिद्ध नहीं है। लोक में भूमा 'ब्रह्म'रूप से आत्मा 'जीव'रूप से प्रसिद्ध है। सर्वज्ञ अल्पज्ञ रूप से उनका भेद प्रसिद्ध है। श्रुति अज्ञातज्ञापिका होने से प्रमाण्य है। इस तरह भूमा और आत्मा में अभेद तथा आत्मा और अहमर्थ में भेद सिद्ध करना भी इन आदेशों का अर्थ हो ही सकता है। 'स्थूलारुन्धती न्याय' से भी पहले अहमर्थ को भूमा कहा गया है क्योंकि अहमर्थ ही लोक में आत्मारूप से प्रसिद्ध है। पश्चात् आत्मादेश के द्वारा वास्तविक अहम्पदलक्ष्यार्थ शुद्ध आत्मा का ही भूमा से अभेद सिद्ध करना इष्ट है।

यह व्यवस्था भी शांकर भाष्य के विरुद्ध नहीं है क्योंकि यह कहा जा चुका कि 'अहं ब्रह्मास्मि' के समान 'अहं' का लक्ष्यार्थ लेकर ही शांकर भाष्य में 'अहं' लक्ष्यार्थ के साथ भूमा का अभेद कहा गया है, वाच्यार्थ का नहीं। आत्मपद व्यपदेश्य शुद्ध आत्मा से अहं के वाच्यार्थ अहंकार या अहंकार-विशिष्ट चैतन्य का भेद शांकर भाष्य को भी इष्ट ही है। शास्त्रप्रसिद्धि, विद्वत्प्रसिद्धि यदि एक ही है तो 'शास्त्रदृष्ट्यातूपदेशो वामदेववत्' के अनुसार यहाँ भी अहं शब्द का प्रयोग वाच्यार्थ में न समझकर लक्ष्यार्थ में ही समझना चाहिये। इसी की सिद्धि के लिए आत्मादेश सार्थक है। इस तरह लक्ष्यार्थ को लेकर एवकारघटित सार्वात्म्योपदेश भी ठीक है। 'अहं' पद वाच्य की आत्मभिन्नता भी इससे सिद्ध हो जाती है। 'स्थूलारुन्धती न्याय' से भी यही सिद्ध होता है। उसके द्वारा भी पहले अहं पद वाच्य अहंकार आदि का ही सार्वात्म्योपदेशकर भूमा से उसका अभेद कहा जाता है। अन्त में वाच्यार्थ छोड़कर लक्ष्यार्थ आत्मा का ही सार्वात्म्योपदेश विवक्षित है।

पञ्चकोश के प्रसङ्गानुसार 'अन्योऽन्तर आत्मा' आदि स्थलों में ही 'स्थूलारुन्धती न्याय' प्रवृत्त होता है, यह कोई राजाज्ञा नहीं है। जहाँ भी पहले अमुख्य सुगम का उपदेशकर अन्त में मुख्य एवं दुर्गम का उपदेश किया जाता है वहाँ सर्वत्र ही 'स्थूलारुन्धती न्याय' की प्रवृत्ति होती है। श्रुति, शांकर भाष्य, विवरण एवं तत्वसन्दीपन सभी के अनुसार पूर्वोक्त युक्ति की एकवाक्यता ही सिद्ध होती है। यह कहा ही जा चुका है कि प्रतिवादी के मतानुसार भी भूमा के सार्वात्म्योपदेश के समान ही अहमर्थ का सार्वात्म्योपदेश नहीं है। फिर यहाँ भी 'स्थूलारुन्धती न्याय' से अथवा 'अहं' का लक्ष्यार्थ लेकर सर्वात्मता के उपदेश में क्या हानि है?

प्रतिवादी का कहना है कि "उक्त युक्तियाँ युक्त्याभास ही हैं; क्योंकि ऐसा भी कहा जा सकता है कि अहमर्थभिन्न आत्मा की भूमभिन्नता प्रत्यक्षसिद्ध नहीं है; अतः भूमा एवं आत्मा की भिन्नता ही सिद्ध करने के लिए आत्मादेश और भूमादेश है। तथा अहमर्थ ब्रह्म से भिन्न है यह अर्थ प्रत्यक्षसिद्ध है। भले ही भूमा शास्त्रैकसमधिगम्य हो, तो भी तन्निरूपित भेद अनन्यलभ्य न होने से शास्त्रैकसमधिगम्य नहीं कहा जा सकता। अहमर्थ और ब्रह्म के विषय में जो पृथक् पृथक् उपदेश दिया गया है, उसका अहमर्थ और ब्रह्म का अभेद सिद्ध करने में तात्पर्य है, अन्यथा शास्त्र में अनुवादकत्व दोष होगा।" परन्तु यहाँ प्रतिवादि प्रतिपादित युक्ति ही युक्त्याभास है, उपर्युक्त युक्तियाँ नहीं। क्योंकि अल्पज्ञ सर्वज्ञ आदि रूप से आत्मा और भूमा का भेद प्रत्यक्षसिद्ध ही है। इसके अतिरिक्त आत्मा और भूमा का भेदोपदेश निष्फल भी है। अज्ञात एवं फलवत्त्व का ही उपदेश देने से शास्त्र का प्रामाण्य होता है।

तद्विपरीत अहमर्थ तथा आत्मा का भेद और भूमा तथा आत्मा का अभेद अज्ञात होने के साथ सार्थक भी है। अहमर्थ में ही कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि अनर्थ होते हैं। उससे आत्मा का भेद सिद्ध होने से आत्मा में सर्वोपद्रवराहित्य सिद्ध होता है। इसी तरह आत्मा का भूमा से अभेद सिद्ध होने से भूमा की अपरोक्षता, स्वप्रकाशता एवं आत्मा की परिच्छिन्नता अपूर्णता मिटती है, उसमें पूर्णता आती है।

यह कहा ही जा चुका है कि सत् ही सब कुछ है, चित् ही सब कुछ है आनन्द ही सब कुछ है। इस प्रकार भूमा अहमर्थ एवं आत्मा की सर्वात्मता

प्रतिवादी के मत में सम्भव ही नहीं। भूमा सर्वकारण होने से सब कुछ है परन्तु अहमर्थ सर्वकारण नहीं है, वह व्यापक भी नहीं है; फिर सब कुछ कैसे हो सकेगा? अतएव अहं पद का जीवात्मा से लेकर जीवान्तर्यामी तक क्लिष्ट वृत्ति से अर्थ करने पर अहं की सर्वात्मता कही जाती है। फिर इस तरह अहं पद का अहंकार और अहंकार का अन्तर्यामी अर्थ मानकर भी अहं की सर्वात्मता कही जाती है। फिर इस तरह अहं पद का अहंकार और अहंकार का अन्तर्यामी अर्थ मानकर भी अहं की सर्वात्मता सिद्ध होती ही है। वस्तुतः प्रतिवादी के अनुसार भूमा भी निरुपचरित रूप से सब कुछ नहीं होता। चेतनाचेतन भूमा का शरीर है। जहाँ व्याप्य व्यापक, शरीर शरीरी दोनों ही अत्यन्त भिन्न पदार्थ हैं वहाँ चेतनाचेतन शरीरों को शरीरी भूमारूप ही नहीं कहा जा सकता। इसी तरह यदि अहं शब्द का अर्थ अहमर्थ न लेकर अहमर्थशरीरक ब्रह्म ही लेना है और उसकी सर्वात्मता कहनी है तो सिवाय पुनरुक्ति दोष के और कोई लाभ नहीं। साथ ही इस तरह घटादि सभी शब्दों का तत्तदन्तर्यामी अर्थ लेकर सभी को सर्वात्मा कहा जा सकता है। जैसे 'घट नील है' यह कहने से नील की घट से अपृथक् सिद्धत्व प्रतीति होने पर भी नील घट से भिन्न ही है घटरूप ही नहीं है, वैसे ही चेतनाचेतन अन्तर्यामी से अपृथक् सिद्ध होने पर भी भूमा उससे भिन्न ही है। अतः इससे भूमा ही सब कुछ है यह सिद्ध नहीं होता। साथ ही यदि अहं शब्द का जीवात्मा ही अर्थ है परमात्मा नहीं; तो केवल आत्मादेश के बल से यह सिद्ध नहीं हो सकता कि अहं शब्द का अन्तर्यामी अर्थ है, क्योंकि आत्मादेश शब्द से यह अर्थ किसी तरह नहीं निकल सकता।

एक ही परमात्मा का 'देवोहं', 'मनुष्योहं' के समान इदन्ता एवं अहन्ता रूप से विशेषतया इदन्ता और अहन्ता का भान होता है। यह भी कहना ठीक नहीं है; क्योंकि ऐसा हो तो जाग्रत, स्वप्न के समान सुषुप्ति में भी इदन्ता और अहन्ता की प्रतीति होनी चाहिये। अहन्ता की प्रतीति नहीं होती यह कहा जा चुका। इदन्ता की प्रतीति हो तो 'इदमस्वाप्सीत्' यह सोया था ऐसी प्रतीति होनी चाहिये। देवोऽहं, मनुष्योऽहं इस विशेष्यविशेषण भाव में सामानाधिकरण्य प्रतीति नहीं हो सकती क्योंकि जहाँ गुणगुणि भाव या उपादानोपादेय भाव होता है वहीं विशेष्यविशेषण भाव-मूलक सामानाधिकरण्य प्रतीति होती है। अहमर्थ एवं देवादि शरीर का उक्त दोनों ही सम्बन्ध नहीं है इसलिये बाधा में ही 'योऽयं स्थाणुः पुमानेषः' के

समान सामानाधिकरण्य कहना चाहिये। यदि अपृथक् सिद्धत्व के आधार पर सामानाधिकरण्य हो तो जब तक अहं रहेगा तब तक मनुष्यत्वादि का भी अनुवर्तन मानना पड़ेगा। क्योंकि अपृथक् सिद्धत्वेन सामानाधिकरण्य दो नित्यों अथवा नित्य अनित्य में होता है। जहाँ उपादानोपादेय भाव होता है वहाँ नित्य अनित्य में सामानाधिकरण्य होता है; जैसे 'मृद्घटः', 'तन्तुःपटः' यहाँ सर्वत्र उपादानोपादेय भाव है। उपादानोपादेयभाव के बिना जहाँ द्रव्यों में अपृथक् सिद्धत्वेन सामानाधिकरण्य होता है वहाँ नित्यों में ही होता है। जैसे सूक्ष्मचित् एवं ब्रह्म का अथवा सूक्ष्म अचित् एवं ब्रह्म का। जहाँ शरीरशरीरि भाव-मात्र के कारण सामानाधिकरण्य होगा वहाँ अहं और शरीर का गुणगुणि भाव भी नहीं है; उपादानोपादेय भाव भी नहीं है। अतः दोनों के नित्य होने में ही वैसा सामानाधिकरण्य बन सकेगा। फिर मुक्ति में भी मनुष्यत्वादि की अन्विति दुर्वार हो जायगी। यदि शरीर अनित्य है, मुक्ति में अनन्वित है, तो शरीरशरीरि भावमूलक सामानाधिकरण्य नहीं हो सकता। यदि स्थूल शरीर की अनित्यता दृष्ट होने के कारण उसका अन्वय न हो तो भी (इन्द्रिय मनः प्राणादि समुदाय) सूक्ष्म शरीर की (अनित्यता जिनकी दृष्ट नहीं है) मोक्ष में अनुवृत्ति होगी। सूक्ष्म चित् एवं अचित् में 'चेष्टावदन्त्यावयवित्व' (चेष्टावान् हो और अन्त्यावयवी हो) यह शरीरलक्षण मान्य नहीं है।

अहमर्थ अनात्मा है क्योंकि वह शरीर के तुल्य अहं प्रत्यय का विषय है। शरीर भी अहं प्रत्यय का विषय होता है। उसकी अनात्मता भी प्रतिवादिसम्मत है। अहमर्थ आत्मा से अन्य है, अहं शब्दाभिधेय होने से। क्योंकि अहङ्कार शब्दाभिधेय अहङ्कार तत्त्व को प्रतिवादी भी अनात्मा मानता है। इन दोनों अनुमानों से स्थूल शरीरोपहित आत्मा के तुल्य ही सूक्ष्म शरीरोपहित एवं तदेकदेश अन्तःकरणोपहित चैतन्य का भी अनात्मत्व ही सिद्ध होता है। सुप्ति में उक्त दोनों उपाधियाँ नहीं रहतीं इसी लिये आत्मा में अहं प्रतीति नहीं होती; क्योंकि उस समय अन्तःकरण स्वरूप से नहीं रहता किन्तु अविद्योपहित रूप से आत्मा ही रहता है। स्थूल शरीर एवं सूक्ष्म शरीर में अहं पद प्रयोग इसलिये होता है कि अन्तःकरण रूप से अभिव्यक्त अविद्या से उपहित साक्षि चैतन्य में स्थूल शरीरादि का अध्यास होता है। सुप्ति में अविद्यामात्र उपाधि होने के कारण ही आत्मा साक्षी होता है। वहाँ अन्तःकरण सूक्ष्म, स्थूल शरीरादि स्वरूप से नहीं होते अतः अन्तःकरणोपहित साक्षि चैतन्य का अध्यास न होने से सोपुप्त आत्मा में अहं प्रत्यय विषयता नहीं होती। अहङ्कारोपहित

साक्षि चैतन्य में स्थूल, सूक्ष्म देह का अध्यास होने से ही देहादि में अहं प्रत्यय विषयता होती है। अतः जो कहा जाता है कि देह में अहङ्कार भ्रम होने से उस में अहं प्रत्यय मानना पड़ेगा, यह ठीक नहीं है, किन्तु जैसे इदमवच्छिन्न चैतन्य में अध्यस्त रूप्य का चैतन्यावच्छेदक इदं के साथ तादात्म्य होने से 'इदं रूप्यं' ऐसी प्रतीति होती है उसी तरह अहङ्काररूप में अभिव्यक्त अविद्योपहित साक्षि चैतन्य में देहादि का अध्यास होता है अतः अवच्छेदक 'अहं' के साथ देहादि का तादात्म्य होने से अहं रूप से देहादि का भान होता है। अहङ्कार मात्र देह का अधिष्ठान नहीं हो सकता। देहादि में अहं प्रत्यय आत्माहङ्काराध्यास के कारण ही होता है। यदि अहमर्थ अनध्यस्त आत्मस्वरूप ही होता तो जागरादि के समान ही सुप्ति में भी विशद 'अहं' प्रत्यय होता। 'अहं जानामि' इत्यादि प्रत्यय तो सोपाधिक भ्रमरूप है। पहले संविद् में अन्तःकरण का तादात्म्याध्यास होता है उससे चिदचिद्ग्रन्थिरूप आत्मा के संविदंश में आरोपित अन्तःकरण के धर्म कर्तृत्व, ज्ञातृत्वादि का अध्यास होता है। केवल संविद्रूप आत्मा न तो अधिष्ठान ही हो सकता है और न केवल स्वप्रकाशरूप से 'अहं जानामि' प्रतीति में उसका भान ही हो सकता है। साक्षात् या परम्परा से अविद्योपहित ही अधिष्ठान होता है। उसी में ज्ञातृत्वादि होता है। जिस रूप से अविद्योपहित संविद्रूप अधिष्ठान होता है उसी रूप से अध्यस्यमान भी होता है। अतः अहङ्काररूप से अभिव्यक्त अविद्योपहित संविद् में अध्यस्त शरीरादि अहं रूप से अध्यस्यमान होते हैं।

'महाभूतान्यहङ्कारः' इस गीता वचन से अहंकार क्षेत्र ही है यह कहा गया। 'निर्ममो निरहंकारः' इस वचन से आत्मा अहंकार एवं तद्धर्म अहन्ता, ममता से शून्य है यह भी कहा गया। थोड़ी देर के लिए 'मान्त' 'दान्त' रूप से अहं का भेद मान भी लिया जाय और अस्मद् शब्द निष्पन्न अहं को अहमर्थवाचक मान लिया जाय तथा अहंकार को उपाधिपरक मान लिया जाय तो भी अहंकारोपहित अहमर्थ मुख्य आत्मा नहीं है। इस दृष्टि से भी 'अहं ब्रह्मास्मि' के तुल्य लक्ष्यभूत शुद्धात्मरूप से भूमा का उपदेश करने के लिये अहंकारादेश है। अहंकार को पृथक्कर शोधित त्वं पदार्थ स्वरूप लक्ष्य का ही सर्वाभेदेन उपदेशकर फिर 'अथात आत्मादेशः' से भूमा को शुद्धात्म स्वरूप कहा गया है। 'अथातोऽहंकारादेशः' यहाँ अहंकार शब्द से प्रस्तुतकर 'अहमेवोपरिष्टात्' के द्वारा अहं शब्द से सर्वतादात्म्य का प्रतिपादन है। इस तरह अहंकारवर्जित ही अहमर्थ की सर्वात्मता सिद्ध है। परन्तु यह भूमा की अहंरूपता

अहंकारोपहित रूप से नहीं किन्तु अनुपहित रूप से ही है। इसी लिये 'अथात आत्मादेशः' इससे अहंकारानुपहित आत्मा का ही भूम रूप से उपसंहार बनता है। किन्तु जहाँ 'मान्त, दान्त' भेद से दोनों अहमर्थों का भेद है वहाँ 'अहमेवाधस्तात्' के द्वारा अहंकार शब्द से प्रस्तुत दान्त अहमर्थ का अहं बुद्धि विषय रूप अहमर्थ रूप से परामर्श कैसे होगा? यदि अहंकार का अहं बुद्धि अर्थ करके अहं बुद्धि से ब्रह्मोपासना का उपदेश ही अहंकारादेश का अर्थ है तब फिर 'स एवोपरिष्टात् अहमेवोपरिष्टात्' इतने से ही काम चल सकता था उससे पृथक् 'अथात आत्मादेशः' यह उपदेश व्यर्थ ही होगा। निरहंकार शब्द से गर्वराहित्य ही कहा गया है यह कहना भी ठीक नहीं। 'निर्ममो निरहंकारः' यहाँ 'मम' के साहचर्य से तत्सम्बन्धी अहंकाररूप उपाधि का ही राहित्य कहना संगत है।

जब अहंकारादेश का ही अहङ्ग्रहोपासना के लिये उपदेश मान्य है और भूमा अहमर्थ के अन्तरात्मरूप से उपास्य है तब फिर भूमा को साधक का अन्तरात्मा कहने के लिये आत्मादेश प्रवृत्त है यह कहना नितान्त असङ्गत है। और उसमें 'एवं विजानतः', 'आत्मतः', 'प्राणः' इत्यादि प्रमाण उपस्थापित करना और भी लचर है। जब चेतनाचेतन सभी का अन्तर्यामी रूप आत्मा है और उसी से प्राणादि की उत्पत्ति होती है तो फिर उपर्युक्त वाक्य में 'ऐसा जाननेवाले के आत्मा से प्राणादि की उत्पत्ति होती है', इस कथन का कोई अर्थ ही नहीं रह जाता। वस्तुतः भूमा साधक के आत्मा का आत्मा है साधक का नहीं। साधक के आत्मा का अन्तर्यामी होने से ही साधक का औपचारिक रूप से आत्मा है। अद्वैत सिद्धान्त के अनुसार वस्तुतः साधक का भूमा ही आत्मा होता है। इसी पक्ष में 'एवं जानतः' आदि कहना सार्थक है। क्योंकि ज्ञानवान् साधक का ही आत्मा भूमा होता है। इस तरह ज्ञानवान् के आत्म स्वरूप भूमा से ही प्राणादि की उत्पत्ति होती है। 'आत्मेत्येवोपासीत' त्वं वा अहमस्मि भगवो देवते अहं वै त्वमसि भगवो देवते यथाहं सोऽसौ योऽसौ सोऽहं', इत्यादि वाक्यों की सङ्गति भी अद्वैतवाद में ही सम्भव है। जहाँ वास्तविक रूप से नियम्यनियामक भाव है वहाँ अभेदनिर्देश नहीं हो सकता। नियम्य प्रजा का नियामक राजा से अभेद नहीं समझा जाता।

मूल

यह भी कहा जाता है—

"भूमानारायणाख्यः स्यात् स एवाहङ्कृतिः स्मृतः ।
जीवस्थसत्वनिरुद्धो यः सोहङ्कार इतीरितः ॥
अणुरूपोऽपि भगवान् वासुदेवः परो विभुः ।
आत्मेत्युक्तः सच व्यापी"……………… ॥

इस स्मृति में भूमाधिकारस्थ इन वचनों का अर्थ स्पष्ट किया है। परब्रह्म के नारायण रूप को भूमा, अनिरुद्ध रूप को अहङ्कार और वासुदेव रूप को आत्मा मानकर तीनों में स्वरूपैक्य होने से तीनों की सर्वव्यापकता सर्वात्मकता का प्रतिपादन है।

नारायण नाम का तत्त्व भूमा है, वही अहङ्कार है, जीव में रहनेवाला अनिरुद्ध ही अहङ्कार है। अणुरूप अत्यन्त सूक्ष्म रूप होते हुए भी जो पर विभु भगवान् वासुदेव हैं वही आत्मा कहे गये हैं। तथा ये व्यापक हैं। वस्तुतः श्रुतिवचनों के अनुसार स्मृति की व्याख्या होनी उचित है। जहाँ श्रुत्यर्थ संदिग्ध हो वहाँ अवश्य स्मृति के अनुसार श्रुत्यर्थ समझने में सुविधा रहती है। प्रतिवादी स्वयं भी स्मृति के अनुसार स्मृति का अर्थ नहीं करता, किन्तु वह भी अहङ्कार का अर्थ अहं बुद्धि करता है। परन्तु स्मृति में जीवान्तर्यामी को अहङ्कार कहा गया है।

वस्तुतः श्रुतियों के अनुसार उक्त स्मृति का यही अर्थ है कि नारायण ही भूमा है और वही अहङ्कृति है अर्थात् अहङ्कारोपलक्षित चैतन्यरूप है। वही सोपाधिक जीव में लक्ष्यार्थरूप होने से जीवस्थ भी है। कहीं न रुकने के कारण वही अनिरुद्ध भी है। इस तरह अहङ्कारोपलक्षित चैतन्य या अहंपदलक्ष्य नारायण से अभिन्न होने पर भी अहङ्कारोपहित का कुछ भेद रहता ही है। यदि दोनों ही पर्यायवाचक शब्द नहीं हैं तो प्रतिवादी को भी कुछ न कुछ भेद मानना ही पड़ेगा।

मोक्ष धर्म के निम्नलिखित वचन से इसका स्पष्टीकरण होता है—

अव्यक्ताद्व्यक्तमुत्पन्नं लोकसृष्ट्यर्थमीश्वरात्।
अनिरुद्धो हि लोकेषु महानात्मा परात्परः॥
योऽसौ व्यक्तत्वमापन्नो निर्ममे स पितामहम्।
सोहङ्कार इति प्रोक्तः सर्व तेजोमयो हि सः॥
पृथिवी वायुराकाशमापो ज्योतिश्च पञ्चमम्।
अहङ्कार प्रसूतानि महाभूतानि पञ्च च॥

—सर्व० द० सं०।

अर्थात् अव्यक्त भावापन्न ईश्वर से लोक सृष्टि के लिये व्यक्त उत्पन्न होता है वही अनिरुद्ध है। वही महान् आत्मा है। वही समष्टि बुद्धि हिरण्यगर्भ सर्व लोकों में अनिरुद्ध अप्रतिहत होने से परात्पर है। वही विराट् रूप पितामह का रचयिता है। इसी लिये सर्वकार्यापेक्षया विराट् पर है। वह उससे भी पर है अतः परात्पर है। सत्त्वप्रधान समष्टि बुद्धिरूप होने से वह सर्व तेजोमय भी है। उसी से पञ्चभूत आदि की सृष्टि होती है। यहाँ उसी में अहङ्कार शब्द का प्रयोग हुआ है। इन वाक्यों में सांख्यानुसार महत्तत्त्व में एवं अहन्तत्त्व में ही महान् एवं अहं शब्द का प्रयोग हुआ है। वेदान्तानुसार ईक्षण एवं चिकिर्षा में उक्त दोनों शब्द प्रयुक्त हैं; 'तदैक्षत' से कहा गया ईक्षण ही महत्तत्त्व है। 'एकोऽहं बहुस्याम्' के अनुसार बहु भवन की इच्छा ही अहन्तत्व है। इसी लिये श्रुति में ईक्षण के बाद अहं शब्द का प्रयोग हुआ है। आत्म शब्द का प्रयोग शुद्ध आत्मा एवं परमात्मा में भी यत्र तत्र होता ही है। अहमर्थ जीवात्मा हो या अहमर्थ अहङ्कार हो, अथवा अहन्तत्व हो, कोई भी सर्वात्मा नहीं हो सकता। यदि प्रतिपक्षी अहं शब्द का जीवान्तर्यामी अर्थ लेकर अहङ्कार की सर्वात्मकता का उपपादन करता है तब तो अहं पद का लक्ष्यार्थ लेकर उसे परमात्मा से अभिन्न मानकर सर्वात्मता का उपपादन अद्वैत मत में भी हो ही सकता है। स्वप्रकाश साक्षी ही प्रत्यक् होता है। 'प्रतीपं विपरीतमात्मानं अञ्चति जानातीति प्रत्यक्'। अकर्ता अभोक्ता नित्य मुक्त आत्मा को कर्ता आदि माननेवाला अविद्यावान् आत्मा प्रत्यक् है। 'देहादिभ्यः प्रतीपतया विपरीततया अञ्चते इति प्रत्यक्', देहादि से वैपरीत्येन असंहत असङ्ग स्वप्रकाश रूप से जो जाना जाता है वही प्रत्यक् है। सर्वथापि अहङ्कार या अविद्यारूप उपाधि से ही

चैतन्य साक्षी बनता है। जाग्रत् स्वप्न में अहङ्काररूप उपाधि से एवं सुषुप्ति में अविद्यारूप उपाधि से साक्षी बनता है। मुक्ति में दोनों ही उपाधि नहीं रहती अतः वहाँ साक्षि की बात भी नहीं होती। इसी लिये वहाँ प्रत्यक्त्व का व्यवहार भी नहीं होता। शुद्ध चैतन्य प्रत्यक्त्व पराक्त्व वर्जित ही है। अहं प्रत्यय विषय में प्रत्यक्ता होने पर उसे अनुपहित शुद्धात्म स्वरूप नहीं कहा जा सकता क्योंकि प्रत्यक्ता उपहित का ही धर्म है। प्रत्यक्ता ही आत्मस्वरूपता का प्रयोजक नहीं है। इसलिये अहम्प्रत्यय विषय में आत्मत्व न होने पर भी कोई हानि नहीं।

अहमर्थ एवं प्रत्यक्

इसके अतिरिक्त अहं प्रत्यय विषय होना ही यदि प्रत्यक्त्व का प्रयोजक है तब प्रतिवादी का यह मत दूषित हो जाता है कि अहम्प्रत्यय विषय जीव ही होता है। क्योंकि 'बहुस्यां प्रजायेय' इस श्रुति में ईश्वर को ही अहम्प्रत्यय विषय कहा गया है। यदि जीव एवं ईश्वर दोनों ही अहमर्थ हों तो 'तत्त्वमसि', 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्यादि में अपृथक्त्व लक्षण सामानाधिकरण्य नहीं बन सकेगा। क्योंकि जब दोनों अहमर्थ हैं तो वही उससे अपृथक् कैसे सिद्ध होगा? अद्वैत मत में मायापरिणामक वृत्तिविशेष का आश्रय होने से जगत्कारण ईश्वर है।

प्रतिवादी के मतानुसार शुद्ध प्रत्यागात्म स्वरूप निरूपण करनेवाले वेदान्त भाग और प्रत्यागात्म शरीरक परमात्मस्वरूप निरूपण करनेवाले वेदान्त भाग, इस तरह दो प्रकार के वेदान्त भाग हैं। इसलिये स्वप्रकाशत्व ही प्रत्यक्त्व और तद्भिन्नत्व ही पराक्त्व है, यही अनुगत लक्षण मानना अच्छा है। इस तरह अहम्प्रत्यय विषयत्व प्रत्यक्त्व का अप्रयोजक है। अतः अहम्प्रत्यय के अविषय आत्मा में प्रत्यक्ता न होगी यह कहना व्यर्थ है। अद्वैत मतानुसार अहम्प्रत्यय विषयत्व या साक्षित्व ही प्रत्यक्त्व का प्रयोजक है। अहम्प्रत्यय के अविषय शुद्ध आत्मा में प्रत्यक्त्व न होना इष्ट ही है। अहम्प्रत्यय विषय के अनात्मा होने में प्रत्यक्त्वानुपपत्ति बाधक है यह नहीं कहा जा सकता। प्रत्यगर्थ परागर्थ विवेक भी शुद्ध संविद् व्यतिरिक्त व्यावहारिक विषय को लेकर ही समझना चाहिये। क्योंकि शुद्ध संविद् में यह कोई भेद नहीं है। इदम्प्रत्यय गोचरता पराक्ता है। साक्षित्व ही प्रत्यक्त्व है यह विवेक अद्वैत मत में ही है।

प्रतिवादी के मत में अहम्प्रत्यय विषयता यदि प्रत्यक्त्व का प्रयोजक होगी तो धर्मभूत स्वप्रकाश ज्ञान में भी प्रत्यक्ता न होगी। क्योंकि अहम्प्रत्यय विषय धर्मिस्वरूप आत्मा से यह पृथक् ही है। 'युष्मदस्मत्प्रत्यय गोचरयोः' इस भाष्य में अविद्योपहित संविन्मात्र को जो अस्मत्प्रत्यय गोचर कहा गया है वह भी भ्रान्तिकालीन अहम्प्रत्यय गोचरता को ही लेकर। क्योंकि उस अधिष्ठान का शब्दान्तर से व्यवहार नहीं हो सकता; अथवा अध्यासविरोधी पूर्वपक्षियों

की दृष्टि से अस्मत्प्रत्यय गोचर कहा गया है। क्योंकि उन्हें अहमर्थ में ही आत्मत्व का भ्रम है अन्यथा 'विषय विषयिणोः' भाष्य में उसी में विषयित्व कहना भी संगत न होता; अथवा दोनों शब्द लक्षणा से आत्मा अनात्मा के बोधक हैं। सर्वथापि अहम्प्रत्यय विषय की अनात्मता सिद्ध है। शुद्ध चैतन्य अहम्प्रत्यय का विषय नहीं है। प्रत्यक्त्वान्यथानुपपत्ति से यदि अहमर्थ की आत्मता सिद्ध की जाय तो अनात्मा और धर्मभूत ज्ञान में अनैकान्तिकता होगी क्योंकि अप्रत्यक्भूत परमात्मा में भी अहमर्थत्व के पक्षैकदेश में विद्यमान होने से भागासिद्धि होगी।

प्रतिवादी के मत में चित्, अचित्, ईश्वर तीन पदार्थ हैं। धर्मभूत ज्ञान अचित्पदार्थ नहीं है, क्योंकि वह स्वयंप्रकाश होने से अजड़ है। ईश्वर भी वह नहीं है, क्योंकि प्रतिवादी को उसमें ईश्वरत्व स्वीकृत नहीं है। वह चित् भी नहीं है क्योंकि वह चित् का धर्म होने से आत्मा नहीं है। इसलिये या तो उसे अतत्त्व कहना होगा या चित् में अन्तर्भाव किया जायगा। यदि चित् माना जाय तो उसे प्रत्यक् होना ही चाहिये। परन्तु अहमर्थ न होने पर उसमें प्रत्यक्त्व नहीं बनेगा।

यद्यपि कहीं कहीं जड़ अजड़ भेद से दो पदार्थ माने गये हैं। धर्मिभूत ज्ञान एवं धर्मभूत ज्ञान के भेद से अजड़ दो प्रकार का है। इस पक्ष में भी धर्मिभूत ज्ञान की अपेक्षा धर्मभूत ज्ञान यदि तत्त्वान्तर है, तो जैसे धर्मिभूत ज्ञान को जीवेश्वर भेद से दो प्रकार का माना है वैसे ही धर्मभूत ज्ञान को जीवेश्वर धर्मभूत ज्ञानभेद से दो प्रकार कहना चाहिये। इस तरह प्रकृति, जीव, धर्मभूत ज्ञान, ईश्वर एवं तद्धर्मभूत ज्ञान मिलाकर तत्त्वपञ्चक ठहरते हैं। फिर तत्त्वत्रय की कथा निराधार होती है। किसी धर्मभूत अजड़ ज्ञान को भी यदि पराक् मान लें तो भी केवल प्रत्यक् पद प्रतिवादी को जीवात्ममात्रपरक ही मान्य है। मुख्य अहमर्थ जीवात्मा ही होता है। तथा च मुख्य अहमर्थता न होने पर भी ईश्वर में प्रत्यक्त्व विद्यमान है। इस तरह 'अहमर्थत्वाभाव होनेपर प्रत्यक्त्व नहीं हो सकता', 'यह कथन ईश्वर में बाधित है।

वस्तुतस्तु स्वस्मै प्रकाशमानस्वरूप प्रकाशमानत्व ही प्रत्यक्त्व है और वह अहमर्थत्वप्रयुक्त नहीं होता, किन्तु चैतन्यप्रयुक्त होता है। वह नित्य जीव ईश्वर दोनों में समान रूप से रहता है। धर्मभूत ज्ञान व्यावृत्त भी है, अन्यथा अहमर्थभिन्न ईश्वर में प्रत्यक्रूपता नहीं बनेगी। यदि ईश्वर को भी अहमर्थ -

मान लिया जाय तो फिर अचित् एवं अहमर्थभेद से दो ही तत्त्व ठहरता है। फिर तत्त्वत्रय कथा निराधार हो जायगी। 'हन्ताहमिमास्तिस्रो देवताः' इत्यादि श्रुतियों में ईश्वर द्वारा स्वयं अहं शब्द का प्रयोग किया गया है, वह भी शरीर-सम्बन्ध की अपेक्षा से ही। क्योंकि आगे शरीर का प्रसङ्ग है। निष्कृष्ट केवल ईश्वर में कहीं भी अहं शब्द का प्रयोग नहीं है।

'अहं ब्रह्मास्मि' इत्यादि स्थलों में तो जीव में ही अहं शब्द का प्रयोग है। यह सब ईश्वर में प्रत्यक्त्व मानकर कहा गया है। परन्तु जब प्रत्यक् पद जीव-परक ही है तब तो ईश्वर को प्रत्यक् कहा ही नहीं जा सकता। यदि उपर्युक्त भेद न माना जाय तो प्रतिवादी का 'ज्ञानयोग शुद्ध प्रत्यगात्म विषयक है और भक्तियोग परमात्म विषयक' यह विभाग नहीं बनेगा। परन्तु स्वस्मै प्रकाशमानत्व प्रत्यक्त्व है यह लक्षण ईश्वर में अतिव्याप्त है। अहमर्थ को प्रत्यक् स्वीकार करने में अद्वैती को कोई हानि नहीं है। क्योंकि अवस्थात्रयवान् ही प्रत्यक् है, वही जीव है, चिदचिद्ग्रंथिरूप में भी उसमें प्रत्यक्त्व रहता ही है। आत्मत्व प्रत्यक्त्व का प्रयोजक नहीं है, इसी लिये अहमर्थ के अखण्डात्म रूप होने में प्रत्यक्त्वानुपपत्ति प्रमाण नहीं है।

'कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन्' कोई धीर प्राणी अमृतत्व की इच्छा करता हुआ बाह्य विषयों से उपरत करणग्राम होकर प्रत्यगात्मा को देखता है। परन्तु इतने से ही यह नहीं सिद्ध होता कि प्रत्यगात्म-दर्शन साक्षात् अमृतत्व का हेतु है। तत्त्वमसि आदि वाक्यों के अनुसार प्रत्यक् चैतन्याभिन्न परमात्मदर्शन ही अमृतत्व का हेतु निश्चित है। वाक्यार्थबोध में पदार्थबोध आवश्यक होता है। अतः तत् पदार्थबोध के समान ही त्वं पदार्थ-बोध भी अपेक्षित होता ही है। तथाच 'निषादस्थपतिन्याय' से प्रत्यगात्मा में कर्मधारय समास ग्राह्य होने पर भी कोई आपत्ति नहीं क्योंकि प्रत्यक्रूप आत्मा प्रत्यगात्मा उसका अर्थ होगा। प्रत्यक् का आत्मा प्रत्यगात्मा इस तरह तत्पुरुष समास के द्वारा 'प्रत्यक् के अन्तर्यामी के दर्शन से भी मोक्ष होता है' यह कहना कोई महत्त्व नहीं रखता है, क्योंकि अन्तर्यामी के दर्शन से मोक्ष होता है यह कहने से ही वह काम चल ही जाता है। 'तमेव विदित्वातिमृत्युमेति' इत्यादि श्रुतियों में सीधे ही परमात्मदर्शन से मोक्षप्राप्ति कही गई है। यह पीछे कहा जा चुका कि प्रत्यक् पद औपाधिक आत्मा का ही बोधक है, शुद्ध आत्मा प्रत्यक्त्व परात्व दोनों से ही रहित है।

परमात्मा प्रतिवादी के मत में अहमर्थ नहीं है तो भी प्रत्यक् है ही। सुख दुःखादि पदार्थ स्वप्रकाश होने से प्रत्यक् बन जायँगे, यह कथन निःसार है क्योंकि सुखदुःखादि साक्षिभास्य हैं। स्वप्रकाशत्व उनमें है ही नहीं। विषयप्रकाशक ज्ञान भी प्रतिवादी के मतानुसार ही प्रत्यक् ठहरेगा, यह पीछे कहा जा चुका है। अद्वैत मत में स्वप्रकाश साक्षी ही प्रत्यक् होता है अतः विषयप्रकाशक ज्ञान में प्रत्यक्त्व की आपत्ति नहीं हो सकती। यह परिभाषा यदि वैशेषिकों के यहाँ नहीं घटित होगी तो यह कोई दूषण नहीं है। 'परमञ्चति प्रतीपं अञ्चति' इत्यादि रीति से जो आत्मा से भिन्न के लिये प्रकाशते हैं वह पराक् है, जो अपने ही लिये प्रकाशता है वह प्रत्यक् है, ऐसा पराक् प्रत्यक् की व्याख्या मान लेने पर भी अद्वैती को कोई हानि नहीं? क्योंकि अद्वैती जैसे औपाधिक आत्मा को ही अहमर्थ मानता है वैसे ही औपाधिक आत्मा को ही प्रत्यक् भी मानता है, वही चिद्चिद्ग्रन्थिरूप भी है। उसी में अचिदंश को लेकर अहंप्रतीतिविषयता भी बन जायगी। चिदंश को लेकर स्वप्रकाशता भी उपपन्न हो जाती है अतएव इदमनिदं रूप या दृक्दृश्य रूप अहमर्थ अद्वैतियों को मान्य है। प्रत्यक्त्व शुद्ध आत्मत्व का प्रयोजक नहीं है, यह कहा जा चुका है। आत्मा के स्वप्रकाश होने का यह अर्थ नहीं है कि आत्मा का अपने आप प्रकाश होता है। किन्तु अवेद्य होकर अपरोक्ष होना ही आत्मा की स्वप्रकाशता है। आत्मा के विषय में अज्ञान संशय विपर्यय नहीं होता, इसलिये वह वृत्ति या वेदन का अविषय होकर भी अपरोक्ष माना जाता है। यदि आत्मा भी ज्ञेय होगा तो वह घटादि के तुल्य जड़ ही होगा, आत्मा नहीं कहा जा सकेगा। नैयायिक का अनुकरण करना अनात्मवाद में ही पतन है। यह सही है कि यह यह प्रतीति का विषय पराक् होता है इसी तरह अहं प्रतीति का विषय प्रत्यक् है, इसी लिये जीवात्मा सोपाधिक आत्मा प्रत्यक् है, तद्भिन्न देहादि पराक् कहे जाते हैं। परन्तु कुछ आत्मा प्रत्यक्त्व पराक्त्व दोनों से अतीत है जो सब में अनुस्यूत है और स्वयंशब्द बोध्य होता है। इदं अहं युष्मद् अस्मद् सब में स्वयं अनुस्यूत होता है। अथ स्वयं गच्छति, अहं स्वयं गच्छामि, त्वं स्वयं गच्छ। 'अहमिति प्रत्यगात्मनि भावात्परत्राभावादर्थान्तरप्रत्यक्षः', यह वैशेषिक सूत्र भी उसी सोपाधिक आत्मा को ही लेकर चरितार्थ है। अहं ऐसी प्रतीति प्रत्यगात्मा अर्थात् अपने में ही होती है अन्यत्र देह में नहीं होती। अतः इस प्रतीति से देहादिभिन्न आत्मा की ही सिद्धि होती है। कहा जाता है यदि देहादि अहं प्रत्यय गोचर हो तब तो अन्य देहों में भी अहं प्रत्यय होना चाहिये क्योंकि

देहान्तर भी प्रत्यक्ष है। आत्मान्तरों के सम्बन्ध में यह नहीं कहा जा सकता क्योंकि अन्य आत्मा के प्रति अन्य आत्मा प्रत्यक्ष नहीं होता; परन्तु 'इसमें भी देहादि भिन्न अहमर्थरूप अमुख्य आत्मा ही अहं प्रत्यय का गोचर होता है' इस सिद्धान्त में बाधा नहीं पड़ती। वैशेषिकों का सभी सिद्धान्त प्रतिवादी को भी नहीं मान्य है। यदि मान्य हो तब तो उसी के समान अचेतन व्यापक आत्मा प्रतिवादी को भी मानना चाहिये। अद्वैतियों के यहाँ भी औपाधिक आत्मा ही अहंप्रतीति का गोचर होता है। वह प्रतिशरीर भिन्न है, अतः प्रत्येक अहमर्थ को अपने में ही अहंप्रतीति होती है, अन्य अहमर्थ में नहीं। इतने महान् प्रयास से अहमर्थ को प्रत्यगात्मा सिद्ध कर देने पर भी उसकी मुख्य आत्मस्वरूपता नहीं सिद्ध होती।

इसी तरह कहा जाता है कि "शांकर भाष्य में 'कथं पुनः प्रत्यगात्मन्यविषयेऽध्यासो विषयतद्धर्माणाम्' इत्यादि अंश में यह शंका उठायी गयी है कि प्रत्यगात्मा अविषय है, उसमें विषय एवं विषय धर्मों का अध्यास कैसे बन सकता है। अन्त में इसका समाधान किया गया है कि 'न तावदयमेकान्तेनाविषयः अस्मत्प्रत्ययविषयत्वादपरोक्षत्वाच्च प्रत्यगात्मप्रसिद्धेः' अर्थात्, प्रत्यगात्मा सर्वथा ज्ञान का अविषय नहीं कहा जा सकता किन्तु वह अस्मत् प्रत्यय का गोचर होता है। अहं अहं इस प्रकार आत्मा प्रत्यक्षरूप से प्रसिद्ध है, इसी अंश का परिमल भी पोषण करता है। यदि अन्तःकरण मात्र अहंप्रतीति का गोचर हो तो उसमें इदंप्रतीति भी होनी चाहिये। क्योंकि जड़ वस्तु इदं प्रत्यय का ही गोचर होती है। परागर्थ यह यह प्रतीति का गोचर और प्रत्यक् अहंप्रतीति का गोचर होता है। प्रत्यगात्मा अत्यन्त अज्ञात पदार्थ नहीं अतः उसमें अध्यास हो सकता है। इस शांकर भाष्य आदि से सिद्ध होता है कि अहं बुद्धि केवल परागर्थ से भिन्न प्रत्यगात्मा को विषय करती है। अहंप्रतीति से सिद्ध अहमर्थ ही प्रत्यगात्मा है और वही आत्मा है।" परन्तु यह ठीक नहीं क्योंकि उक्त शांकर भाष्य से अहमर्थ की मुख्य आत्मरूपता नहीं सिद्ध होती। यहाँ भी श्रीशंकराचार्य ने शुद्ध आत्मा को अस्मत्प्रत्यय गोचर नहीं कहा है। तभी एकान्तेन यह शब्द सार्थक होता है। उसका अभिप्राय यही है कि यद्यपि शुद्ध आत्मा सर्वथा अविषय ही है, तथापि अविद्योपहित या अहंकारोपहित आत्मा प्रत्यगात्मा कहा जाता है, और वह अस्मत्प्रत्यय गोचर होता ही है। वही अधिष्ठान भी होता है। उसी उपहित की दृष्टि से उसे अस्मत्प्रत्यय गोचर कहा जाता है। चिदंश की दृष्टि से ही वह

स्वतः अपरोक्ष है, इसी दृष्टि से 'अपरोक्षत्वाच्च' यह पृथक् हेतुनिर्देश है। अर्थात् प्रसिद्ध में अध्याहार होता है। वह प्रसिद्धि किसी प्रत्यय का गोचर होकर हो या स्वतः अपरोक्ष होने से हो। परिमल का यह कथन कि 'केवल अन्तःकरण मात्र इदं प्रत्यय का गोचर होता है' यही सिद्ध करता है कि अन्तःकरणोपहित चैतन्यरूप चिद् अचिद् ग्रन्थि ही अस्मत्प्रत्यय गोचर है तथा परिमल का उक्त अंश पूर्वपक्षान्तर्गत है। परागर्थ से पृथक् प्रत्यगात्मा है, वह अहं प्रत्यय गोचर होने से अहमर्थ है, वही प्रत्यगात्मा है, यह सिद्ध भी हो जाय तो भी शुद्ध आत्मा अहमर्थ एवं प्रत्यक् से पृथक् ही है। 'अहमर्थ न होने से आत्मा में प्रत्यक्त्व सिद्ध ही न होगा' यह कहना भी निःसार है। क्योंकि प्रतिवादी के मत में प्रत्यक् और अहमर्थ जीव होता है, अन्य नहीं, परन्तु आत्मा तो परमेश्वर भी है ही। शुद्ध आत्मा अहंप्रतीति का विषय न होने पर भी औपाधिक आत्मा अहंप्रतीति का गोचर है ही, फिर अहंप्रतीति के निर्विषय होने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। अहंकार जो कि चिदचिद्ग्रन्थि का एक भाग है वह भी अहंप्रतीति का गोचर है ही। स्वतंत्ररूप से अन्तःकरण भले ही इदं प्रत्यय का गोचर हो तथापि चिदचिद्ग्रन्थि रूप से या उसके भागरूप से वह अहं प्रत्यय का गोचर होता ही है। आत्मा संविद्स्वरूप है, वह ज्ञेय नहीं होता, इस परम सिद्धान्त को कभी न भूलना चाहिये। शुद्ध आत्मा कभी भी अहंप्रतीति का विषय नहीं होता, इसी लिये अहंकारोपहित चैतन्य अहंप्रतीति का विषय माना जाता है।

कहा जाता है कि "स्फटिक को छोड़कर जपाकुसुम में रक्तता दिखायी देती है। तब जपाकुसुम के सन्निधान से जपाकुसुम की रक्तिमा स्फटिक में भासित होती है, यह कहा जाता है। परन्तु वैसे आत्मा से अलग अन्तःकरण में अहं ऐसा व्यवहार नहीं होता। फिर उसकी अहन्ता आत्मा में कैसे आरोपित हो सकती है? इदंप्रतीति के योग्य अन्तःकरण में अहंप्रतीति हो ही नहीं सकती"। परन्तु यह सब कहना ठीक नहीं है, क्योंकि पहले तो जब चिदचिद्ग्रन्थि ही अहं शब्द वाच्य है तब यह प्रश्न ही नहीं उठता। वहाँ अन्तःकरण अहंप्रतीति का विषय न हो तो भी कोई हानि नहीं। साथ ही जब मन, बुद्धि, अहंकार और चित्त अंतःकरण के ये चार रूप हैं तो अहंकाररूप अन्तःकरण अहंप्रतीति का विषय नहीं हो सकता यह कहना वैसा ही वदतोव्याघात है, जैसे घट घटप्रतीति का विषय नहीं हो सकता यह कहना। कहा जाता है कि 'ईश्वर में अहंकार नहीं होता, उसको भ्रम भी नहीं होता, यदि अहन्ता भ्रममूलक है तो ईश्वर तो सर्वज्ञ ही है।

फिर उसमें 'बहुस्यां' 'हन्ताहमिमाः तिस्रो देवताः' इस प्रकार अहंकार का उल्लेख कैसे होगा ?' परन्तु यह ठीक नहीं। यह पीछे कहा जा चुका है कि ईश्वर का ईक्षण ही समष्टि बुद्धिरूप महत्तत्व, एवं ईश्वर की ईक्षणानन्तरभावी व्याचिकीर्षा ही समष्टि अहंतत्व है। अतः ईश्वर में अहन्ता प्रतीति के लिये उसे अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य होने की आवश्यकता नहीं है। हाँ यह आपत्ति प्रतिवादी के ही मत में होगी, क्योंकि प्रतिवादी के मतानुसार अहमर्थ जीव ही है, ईश्वर नहीं। अहं का उल्लेख ईश्वरीय संकल्प के पहले नहीं, किन्तु ईक्षण के पश्चात् ही होता है, वही व्याचिकीर्षारूप वृत्ति है। अहमर्थ आत्मा नहीं है यह अद्वैती नहीं कहते, किन्तु शुद्ध आत्मा अहमर्थ नहीं है औपाधिक आत्मा अहमर्थ है यही मानते हैं। अतएव यह कहना निःसार है कि 'अद्वैतियों को अहंकार में इदंप्रतीति विषमता इष्ट है, अतः अहंकार-विशिष्टात्मवाचक अहं शब्द का आत्मा ही प्रतिपाद्य है।' क्योंकि पीछे कहा जा चुका है कि विशिष्ट ही अहं शब्दार्थ है, शुद्ध नहीं। साथ ही अहंकार भी अहंप्रतीति का विषय एवं अहं शब्द का अर्थ वैसा ही है, जैसे घट घटशब्दार्थ है। इसी तरह प्रत्यक्त्व को शुद्ध आत्मा का धर्म कहना भी ठीक नहीं, क्योंकि शुद्ध आत्मा निधर्मक है। 'कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षत्' इस वचन का तात्पर्य अन्य श्रुतियों के अनुसार यही समझना चाहिये कि प्रत्यक् चैतन्याभिन्न परब्रह्म ज्ञान ही मोक्ष का हेतु है। अहंकारावच्छिन्न या अविद्यावच्छिन्न चैतन्यरूप साक्षी ही प्रत्यगात्मा है, यह भी कहा ही जा चुका।

कहा जाता है कि "यदि अहमर्थ आत्मा न हो किन्तु अहंकार ही अहमर्थ हो तो देहादि अनात्मा के विषय में होनेवाली अहं बुद्धि को देहात्मभ्रम न कहकर देहाहंकार भ्रम ही कहना चाहिये।" यह भी कहा जाता है कि 'देह एवं चैतन्य के अभेद का ग्रहण करनेवाला ज्ञान ही देहात्मा भ्रम बन सकता है, पर देहात्मवादी चार्वाक देह को चैतन्यस्वरूप नहीं मानते किन्तु देह को अहमर्थ एवं चेतन मानते हैं तथा चैतन्य को देह का धर्म कहते हैं। उनके मत में देह एवं चैतन्य का धर्मधर्मि भाव माना जाता है, अभेद नहीं। यदि वे देह एवं चैतन्य में अभेद मानते तो अद्वैती उसे देहात्म भ्रम कहकर निराकरण कर सकते थे। किन्तु धर्मधर्मि भाव में तो भेद ही रहता है। चार्वाकों का देहाहमर्थवाद अद्वैतानुसार देहाहंकारवाद ही ठहरता है। फिर उसे अद्वैती देहात्म भ्रम मानकर कैसे निराकरण कर सकते हैं? यदि चैतन्य को आत्मा मानकर देह में आत्मा सिद्ध करने का प्रयत्न किया जाय तो चार्वाक

सिद्धसाधन दोष कह सकता है; किन्तु सभी दार्शनिक 'देह अहमर्थ नहीं' यह कहकर ही उसके देहात्मवाद का खण्डन करते हैं। देह व्यतिरिक्त आत्मा ही अहमर्थ है यह कहते हैं। इससे सिद्ध होता है कि ज्ञाता अहमर्थ ही आत्मा है।' परन्तु यह सब ठीक नहीं है, क्योंकि यह कहा जा चुका है कि स्थूल शरीर एवं सूक्ष्म शरीरान्तर्गत इन्द्रियादि में अहम्पद प्रयोग का कारण यह है कि अन्तःकरणरूप में अभिव्यक्त अविद्या से उपहित साक्षि चैतन्य में स्थूल शरीरादि का अध्यास होता है, परन्तु सुषुप्ति में स्थूल शरीरादि स्वरूप से नहीं होते। उस समय केवल अविद्या उपधानमात्र से आत्मा में साक्षिता होती है इसी लिये अहं प्रत्यय भी नहीं होता। जैसे इदमवच्छिन्न चैतन्य में जो रजत अध्यस्त होता है उसमें भी 'इदं रजतम्' ऐसी प्रतीति होती है। इसी तरह अहंकाररूप में अभिव्यक्त अविद्या से उपहित साक्षि चैतन्य में देहादि का अध्यास होने के कारण ही अवच्छेदक अहंकार के रूप में देहादि की प्रतीति होती है। अतएव देह में अहंकारभ्रम के कारण देह में अहं प्रत्यय नहीं होता, क्योंकि न तो अहंकारमात्र देह का अधिष्ठान हो सकता है और न देहमात्र अहंकार का ही अधिष्ठान बन सकता है, किन्तु आत्माहंकाराध्यास के कारण ही देहादि में अहम्प्रत्यय होता है।

यह कहना भी ठीक नहीं कि आत्मा एवं अहंकार का अध्यास असिद्ध है क्योंकि यदि अहंकाराध्यास न हो तो आत्मा में अहंप्रतीति का निर्वाह ही नहीं हो सकता। यदि कहा जाय कि अनध्यस्त आत्मा ही अहमर्थ है, तब तो जागर आदि के समान सुषुप्ति में भी विशद अहं प्रत्यय होना चाहिये। सुप्ति में अहं प्रत्यय नहीं होता यह श्रुति से भी सिद्ध है ही। 'अहं जानामि' इत्यादि प्रत्यय तो चिदचिद्ग्रन्थिरूप आत्मा में ही होता है। संविदंश में आरोपित अन्तःकरण के ज्ञातृत्व, कर्तृत्व आदि धर्म का अध्यास होता है। उक्त भ्रम सोपाधिक भ्रम ही है। अतएव संविद्रूप आत्मा का 'अहं जानामि' इत्यादि प्रतीति में केवल स्वप्रकाशरूप से भान नहीं होता और केवल आत्मा में अधिष्ठानत्व भी नहीं बनता। साक्षात् या परम्परा से अविद्योपहित में ही अधिष्ठानता होती है। 'जिस रूप से अविद्योपहित संविद् अधिष्ठान होती है, उस रूप से ही अध्यस्यमान प्रतीत होता है' इस नियम के अनुसार अहंकार-रूप से अभिव्यक्त अविद्योपहित संविद् में अध्यस्त होने के कारण देहादि में अहं प्रत्ययविषयता होती है। फिर भले ही संविद् एवं शरीर परस्परविरुद्ध

स्वभाववाले हों। अधिष्ठान में आरोप्यविरुद्ध स्वभावत्व का ज्ञान ही अध्यास का विरोधी है, विरुद्ध स्वभाव स्वतः विरोधी नहीं। अन्यथा शुक्तिमत् रज्जु सर्पादि विभ्रम भी नहीं बन सकेंगे।

देह का ही स्वाभाविक धर्म चैतन्य है यही देहात्मवाद है। देहात्मवादी के मत में उससे भिन्न कोई आत्मा नहीं है। अद्वैतानुसार शरीरादि स्वातिरिक्त चैतन्य में अध्यस्त है। अतएव स्वाधिष्ठानचैतन्य के साथ तादात्म्य के कारण उसमें चैतन्य है और यह श्रुतिमात्र गम्य है। जब तक अधिष्ठान साक्षात्कार नहीं होता तब तक वह देह नष्ट होकर भी अविद्यारूप से अवस्थित रहता है। उसी के कर्मवशात् शरीरान्तररूप से ग्रहण होने पर जन्मान्तर का व्यवहार होता है। वस्तुतः प्रतिवादी के मत में ही देह में 'स्थूलोऽहं' यह देहात्मता-दात्म्यावगाही सामानाधिकरण्य प्रत्यय नहीं बन सकता। क्योंकि "चित् एवं अचित् रूप शरीरों का परमात्मा से अपृथक् सिद्धत्व सम्बन्ध होने के कारण ही 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' यह सामानाधिकरण्य प्रत्यय होता है। नित्य एवं अनित्य शरीर और आत्मा का उपादेयोपादान सम्बन्ध हो नहीं सकता। इसी लिये 'अपृथक् सिद्धत्व' के आधार पर सामानाधिकरण्य प्रत्यय नहीं हो सकता।" इत्यादि बातें अन्यत्र कही जा चुकी हैं। अद्वैत मतानुसार चिदचिद्ग्रन्थिरूप अहमर्थ आत्मा नहीं है। इसका अभिप्राय यह है कि वह शुद्ध आत्मा नहीं है, सोपाधिक आत्मा तो है ही। उसी सोपाधिक आत्मा में ज्ञान होता है, यह बात कही जा चुकी है। 'अचिद् अहंकार और चिद् आत्मा में परस्पर तादात्म्याध्यास होता है इसमें कोई प्रमाण नहीं हैं' यह कहना निराधार है।

कहा जाता है कि "अद्वैती 'अन्तःकरणभेद भ्रम' को अहं बुद्धि कहते हैं परन्तु अनात्मा में होनेवाले आत्मभ्रम का कोई प्रमाण नहीं मिलता। देहात्म-भ्रम ही शास्त्रों में मिलता है। शुद्ध आत्मा में होनेवाली अहं बुद्धि भ्रम नहीं अतः आत्मा ही अहमर्थ है। साथ ही अद्वैतवाद के अनुसार 'अहं' इस प्रकार होनेवाले अहंकाराध्यास में 'अहं' शब्द का अर्थ अन्तःकरण है। 'मैं स्थूल हूँ' इस प्रकार होनेवाले स्थूल देहाध्यास में 'अहं' शब्द का अर्थ अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य है। इस तरह एक ही 'अहं' शब्द का दो अर्थ मानना गौरव है, इसलिये सर्वत्र एक आत्मा को ही 'अहं' शब्दार्थ मानना उचित है"। परन्तु यह ठीक नहीं; कहा जा चुका है कि उक्त अध्यास के बिना 'अहं जानामि, अहं कर्ता' इत्यादि प्रतीति का निर्वाह नहीं हो सकता अतः उक्त भ्रम मानना अनिवार्य है। अन्तःकरण अहमर्थ का अंश होने से ही अहं पद से व्यवहृत होता है। देहात्मभ्रम

का अधिष्ठान केवल अन्तःकरण या केवल चैतन्य नहीं बन सकता। इसी लिये अन्तःकरणरूप से अभिव्यक्त अविद्यावच्छिन्न चैतन्य ही अधिष्ठान हो सकता है। इसी लिये अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य 'अहं' शब्द का अर्थ मान्य है। रजत का अधिष्ठान शुक्ति मानी जाती है परन्तु केवल शुक्ति अधिष्ठान नहीं बन सकती अतः शुक्त्यवच्छिन्न चैतन्य ही शुक्ति पद से ग्राह्य होता है।

वस्तुतः 'अहं जानामि, अहं कर्ता, भोक्ता' इत्यादि अनुभवों द्वारा आत्मा में जो ज्ञातृत्व, कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि धर्म प्रतीत होते हैं, ये धर्म हैं जाग्रत्, स्वप्न इन दो अवस्थाओं में अनुगत अहंरूप से भासमान चिद्-चिद्ग्रन्थिरूप अहमर्थ के। फिर तो अद्वैतवाद में भी यही मान्य है। यदि सुप्ति में अनुगत अविद्योपहित चैतन्य का धर्म कहें तो ठीक नहीं। क्योंकि सुप्ति में 'अहं जानामि, अहं कर्ता' इत्यादि अनुभव नहीं होता। कहा जाता है कि 'ज्ञोऽत एव' इस सूत्र के आधार पर सिद्ध होता है कि आत्मा ज्ञान का कर्ता ज्ञाता है परन्तु यह ठीक नहीं। वस्तुतः 'ज्ञ' शब्द भाव अर्थ में 'क' प्रत्यय होने से बना है। तस्मात् ज्ञप्तिमात्र या चिन्मात्र ही 'ज्ञ' शब्द का अर्थ है। अतः इससे ज्ञाता आत्मा नहीं सिद्ध होता। इस तरह कर्तृत्वादि आत्मा का धर्म नहीं सिद्ध होता है। 'यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्' इस श्रुति के अनुसार आत्मा में कर्तृत्वादि का निषेध ही है। श्रुति का अर्थ यह है कि जिस ज्ञानकाल में सब कुछ आत्मा ही होता है वहाँ कौन किससे किसको देखे? 'नहि विज्ञातुर्विज्ञाते-र्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वात्' इस श्रुति में 'विज्ञातुर्विज्ञातेः' यहाँ अभेद में षष्ठी है अतः 'विज्ञानस्वरूप विज्ञाता का विपरिलोप नहीं होता' यही उसका अर्थ है। इसके द्वारा धर्मभूत विज्ञान का अविपरिलोप नहीं कहा गया है। यदि धर्मभूत ज्ञानमात्र का अविनाश ही श्रुत्यर्थ हो तो नैयायिक आदि की तरह विज्ञाता की अचेतनता ही होगी। यहाँ विज्ञातारूप धर्मी को विज्ञानरूप बतलाने के लिये यह श्रुति प्रवृत्त है, अर्थात् 'विज्ञाति से अभिन्न स्वरूप विज्ञाता का विलोप नहीं होता' यही श्रुति का अर्थ है। 'अत्रैव मा भगवान् मोहमपीपदत्' इस उत्तर वाक्य में मैत्रेयी की शंका है कि आत्मा अचेतन है या चेतन? धर्मज्ञान के अविनाश प्रतिपादन का क्या तात्पर्य होगा? अथवा धर्मिरूप ज्ञान के अविनाश बोधन में तात्पर्य है? धर्मधर्मि भाव आत्मा में है भी या नहीं? इसी का परिहार है कि 'अविनाशी वाऽरे आत्मा अनुच्छित्तिधर्मा'। तात्पर्य यही है कि यहाँ धर्मधर्मि भाव नहीं है अतएव धर्मज्ञान का अविनाश नहीं कहा जा सकता।

'ज्ञानमुत्पन्नं ज्ञानं नष्टम्' इस प्रकार ज्ञान की उत्पत्ति विनाश का अनुभव

स्वभाववाले हों। अधिष्ठान में आरोप्यविरुद्ध स्वभावत्व का ज्ञान ही अध्यास का विरोधी है, विरुद्ध स्वभाव स्वतः विरोधी नहीं। अन्यथा शुक्तिमत् रज्जु सर्पादि विभ्रम भी नहीं बन सकेंगे।

देह का ही स्वाभाविक धर्म चैतन्य है यही देहात्मवाद है। देहात्मवादी के मत में उससे भिन्न कोई आत्मा नहीं है। अद्वैतानुसार शरीरादि स्वातिरिक्त चैतन्य में अध्यस्त है। अतएव स्वाधिष्ठानचैतन्य के साथ तादात्म्य के कारण उसमें चैतन्य है और यह श्रुतिमात्र गम्य है। जब तक अधिष्ठान साक्षात्कार नहीं होता तब तक वह देह नष्ट होकर भी अविद्यारूप से अवस्थित रहता है। उसी के कर्मवशात् शरीरान्तररूप से ग्रहण होने पर जन्मान्तर का व्यवहार होता है। वस्तुतः प्रतिवादी के मत में ही देह में 'स्थूलोऽहं' यह देहात्मता-दात्म्यावगाही सामानाधिकरण्य प्रत्यय नहीं बन सकता। क्योंकि "चित् एवं अचित् रूप शरीरों का परमात्मा से अपृथक् सिद्धत्व सम्बन्ध होने के कारण ही 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' यह सामानाधिकरण्य प्रत्यय होता है। नित्य एवं अनित्य शरीर और आत्मा का उपादेयोपादान सम्बन्ध हो नहीं सकता। इसी लिये 'अपृथक् सिद्धत्व' के आधार पर सामानाधिकरण्य प्रत्यय नहीं हो सकता।" इत्यादि बातें अन्यत्र कही जा चुकी हैं। अद्वैत मतानुसार चिदचिद्ग्रन्थिरूप अहमर्थ आत्मा नहीं है। इसका अभिप्राय यह है कि वह शुद्ध आत्मा नहीं है, सोपाधिक आत्मा तो है ही। उसी सोपाधिक आत्मा में ज्ञान होता है, यह बात कही जा चुकी है। 'अचिद् अहंकार और चिद् आत्मा में परस्पर तादात्म्याध्यास होता है इसमें कोई प्रमाण नहीं हैं' यह कहना निराधार है।

कहा जाता है कि "अद्वैती 'अन्तःकरणभेद भ्रम' को अहं बुद्धि कहते हैं परन्तु अनात्मा में होनेवाले आत्मभ्रम का कोई प्रमाण नहीं मिलता। देहात्म-भ्रम ही शास्त्रों में मिलता है। शुद्ध आत्मा में होनेवाली अहं बुद्धि भ्रम नहीं अतः आत्मा ही अहमर्थ है। साथ ही अद्वैतवाद के अनुसार 'अहं' इस प्रकार होनेवाले अहंकाराध्यास में 'अहं' शब्द का अर्थ अन्तःकरण है। 'मैं स्थूल हूँ' इस प्रकार होनेवाले स्थूल देहाध्यास में 'अहं' शब्द का अर्थ अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य है। इस तरह एक ही 'अहं' शब्द का दो अर्थ मानना गौरव है, इसलिये सर्वत्र एक आत्मा को ही 'अहं' शब्दार्थ मानना उचित है"। परन्तु यह ठीक नहीं; कहा जा चुका है कि उक्त अध्यास के बिना 'अहं जानामि, अहं कर्ता' इत्यादि प्रतीति का निर्वाह नहीं हो सकता अतः उक्त भ्रम मानना अनिवार्य है। अन्तःकरण अहमर्थ का अंश होने से ही अहं पद से व्यवहृत होता है। देहात्मभ्रम

का अधिष्ठान केवल अन्तःकरण या केवल चैतन्य नहीं बन सकता। इसी लिये अन्तःकरणरूप से अभिव्यक्त अविद्यावच्छिन्न चैतन्य ही अधिष्ठान हो सकता है। इसी लिये अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य 'अहं' शब्द का अर्थ मान्य है। रजत का अधिष्ठान शुक्ति मानी जाती है परन्तु केवल शुक्ति अधिष्ठान नहीं बन सकती अतः शुक्त्यवच्छिन्न चैतन्य ही शुक्ति पद से ग्राह्य होता है।

वस्तुतः 'अहं जानामि, अहं कर्ता, भोक्ता' इत्यादि अनुभवों द्वारा आत्मा में जो ज्ञातृत्व, कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि धर्म प्रतीत होते हैं, ये धर्म हैं जाग्रत्, स्वप्न इन दो अवस्थाओं में अनुगत अहंरूप से भासमान चिद्-चिद्ग्रन्थिरूप अहमर्थ के। फिर तो अद्वैतवाद में भी यही मान्य है। यदि सुप्ति में अनुगत अविद्योपहित चैतन्य का धर्म कहें तो ठीक नहीं। क्योंकि सुप्ति में 'अहं जानामि, अहं कर्ता' इत्यादि अनुभव नहीं होता। कहा जाता है कि 'ज्ञोऽत एव' इस सूत्र के आधार पर सिद्ध होता है कि आत्मा ज्ञान का कर्ता ज्ञाता है परन्तु यह ठीक नहीं। वस्तुतः 'ज्ञ' शब्द भाव अर्थ में 'क' प्रत्यय होने से बना है। तस्मात् ज्ञप्तिमात्र या चिन्मात्र ही 'ज्ञ' शब्द का अर्थ है। अतः इससे ज्ञाता आत्मा नहीं सिद्ध होता। इस तरह कर्तृत्वादि आत्मा का धर्म नहीं सिद्ध होता है। 'यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्' इस श्रुति के अनुसार आत्मा में कर्तृत्वादि का निषेध ही है। श्रुति का अर्थ यह है कि जिस ज्ञानकाल में सब कुछ आत्मा ही होता है वहाँ कौन किससे किसको देखे? 'नहि विज्ञातुर्विज्ञातेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वात्' इस श्रुति में 'विज्ञातुर्विज्ञातेः' यहाँ अभेद में षष्ठी है अतः 'विज्ञानस्वरूप विज्ञाता का विपरिलोप नहीं होता' यही उसका अर्थ है। इसके द्वारा धर्मभूत विज्ञान का अविपरिलोप नहीं कहा गया है। यदि धर्मभूत ज्ञानमात्र का अविनाश ही श्रुत्यर्थ हो तो नैयायिक आदि की तरह विज्ञाता की अचेतनता ही होगी। यहाँ विज्ञातारूप धर्मी को विज्ञानरूप बतलाने के लिये यह श्रुति प्रवृत्त है, अर्थात् 'विज्ञाति से अभिन्न स्वरूप विज्ञाता का विलोप नहीं होता' यही श्रुति का अर्थ है। 'अत्रैव मा भगवान् मोहमपीपदत्' इस उत्तर वाक्य में मैत्रेयी की शंका है कि आत्मा अचेतन है या चेतन? धर्मज्ञान के अविनाश प्रतिपादन का क्या तात्पर्य होगा? अथवा धर्मिरूप ज्ञान के अविनाश बोधन में तात्पर्य है? धर्मधर्मि भाव आत्मा में है भी या नहीं? इसी का परिहार है कि 'अविनाशी वाऽरे आत्मा अनुच्छित्तिधर्मा'। तात्पर्य यही है कि यहाँ धर्मधर्मि भाव नहीं है अतएव धर्मज्ञान का अविनाश नहीं कहा जा सकता।

'ज्ञानमुत्पन्नं ज्ञानं नष्टम्' इस प्रकार ज्ञान की उत्पत्ति विनाश का अनुभव

होता है। धर्मज्ञान का नित्यत्व प्रतिपादन करने से धर्मिज्ञान में धर्मज्ञान का सम्बन्ध नहीं सिद्ध होगा। सम्बन्ध बिना उस धर्मज्ञान से धर्मिज्ञान ज्ञाता कैसे बन सकेगा? यदि कहा जाय कि धर्मीभूत ज्ञान के साथ धर्मज्ञान का अपृथक्-सिद्धत्व सम्बन्ध है, तो यह भी नहीं कहा जा सकता। क्योंकि दो नित्य द्रव्यों में नित्यत्वेन द्रव्यत्वेन उपादानोपादेय भाव नहीं बन सकता, अतः उनका अपृथक्-सिद्धत्व नहीं हो सकता। नित्य चिदचित् शरीर और परमात्मा का शरीर-शरीरि भाव के कारण अपृथक्सिद्धत्व सम्बन्ध होता है परन्तु धमरूप धर्मिज्ञान का शरीरशरीरि भाव अस्वीकृत ही है। अतएव नित्य धर्मज्ञान से आत्मा में विज्ञातृत्व नहीं बन सकता किन्तु अद्वैत सिद्धान्तानुसार कर्तृत्वविशिष्ट अन्तःकरणरूप अहंकार का संविद्रूप अधिष्ठान में उसी तरह आरोप होता है जैसे स्फटिक में लौहित्यविशिष्ट पुष्प का प्रतिबिम्ब अध्यारोपित होता है; अतएव 'लोहितः स्फटिकः' के समान 'अहं जानामि' यह प्रत्यय होता है। दो धर्मियों का परस्पराध्यास निरुपाधिक अध्यास कहलाता है। एक धर्मी के धर्म का दूसरे धर्मी में अध्यास होता है उसे सोपाधिक अध्यास कहा जाता है। यह भी दो प्रकार का होता है। पूर्वसिद्ध उपाधिधर्म का पूर्वसिद्ध धर्मी में अध्यास पहला है। दूसरा अहं कर्ता इत्यादि सोपाधिक अध्यास होता है। यहाँ अहं धर्मी पूर्व-सिद्ध नहीं है तो भी धर्मसहित धर्मी कर्तृत्व ज्ञातृत्वादिविशिष्ट अहं का अध्यारोप संविद् में होता है यह सोपाधिक अध्यास है; परन्तु जिस पक्ष में अहं या अन्तःकरण उपाधि पूर्वसिद्ध है वहाँ तो प्रथम कोटि का ही सोपाधिक अध्यास होता है। इस पक्ष में भी अहंकाराध्यास प्रथम होता है पश्चात् उसके धर्म का संविद् में अध्यास होता है। सर्वथापि चिदचिद्ग्रन्थि रूप ही अहमर्थ है। केवल चिद्रूप आत्मा में स्वाभाविक विज्ञातृत्व बन नहीं सकता। उसी तरह कर्तृत्वादि भी आत्मा में स्वाभाविक नहीं होता। 'कर्ता शास्त्रार्थवत्त्वात्' इस सूत्र से धर्मि-समसत्ताक होने के कारण अहमर्थ में कर्तृत्व स्वाभाविक कहा गया है। इससे स्वर्गादि के उद्देश्य से अग्निहोत्रादि कर्मों में प्रवृत्ति हो सकेगी। इसी से शास्त्र की अर्थवत्ता भी हो जायगी। इसी लिये शास्त्र की अर्थवत्ता में यादृश कर्तृत्व अपेक्षित होता है तादृश ही कर्तृत्व साधित होता है। वह व्यावहारिक ही होता है क्योंकि शास्त्र भी अविद्यावान् पुरुष को ही लेकर प्रवृत्त होता है। आचार्य ने भाष्य में स्पष्ट ही कहा है कि अविद्यावान् पुरुष को ही बोधन करने के लिये लौकिक प्रत्यक्षादि प्रमाण और वैदिक विधिप्रतिषेध एवं मोक्षपरक शास्त्र होते हैं। इस तरह जब तक अहमर्थ की सत्ता रहती है तब तक कर्तृत्व अनुवृत्त

रहता है। इसी लिये अहमर्थ में स्वाभाविक ही कर्तृत्व मान्य होता है। 'यथा च तक्षोभयथा' इस अधिकरण में अहमर्थानुगत चिन्मात्र की जो इदमंश से असम्वलित अवस्था है उसको लेकर आत्मा में स्वाभाविक कर्तृत्व के निरास के लिये यह कहा गया है कि अहंकारादि उपाधि सम्बन्ध से ही अहमर्थ में स्वाभाविक कर्तृत्व है, शुद्ध आत्मस्वरूप को लेकर स्वाभाविक कर्तृत्व नहीं है, उपाधि तादात्म्याध्यास के कारण कर्तृत्वविशिष्ट अहंकार का अध्यास होने से औपाधिक ही कर्तृत्व है। निष्कर्ष यह है कि प्रथम सूत्र से त्वम्पदवाच्य में धर्मिसमसत्ताक होने से स्वाभाविक कर्तृत्व कहा गया है और दूसरे से त्वंपदलक्ष्यार्थ में अकर्तृत्व ही स्वाभाविक है, यह कहने के लिये औपाधिक कहा गया है। त्वंपदवाच्य का आरोपित कर्तृत्व ही उपपादन किया गया है। यही दोनों अधिकरणों का भेद है। कर्त्रधिकरण से अहमर्थ के कर्तृत्वादि को न अस्वाभाविक ही कहा जाता है न अपारमार्थिक ही। औपाधिक होने से अपारमार्थिकत्व प्रतिपादन भी उसका विषय नहीं है किन्तु 'यथा च तक्षोभयथा' इस न्याय का विषय है। कर्तृत्वमात्र भी उसका विषय नहीं है किन्तु धर्मिसमसत्ताक धर्मत्व ही कर्तृत्वादि में साधन करना इष्ट है। अतः 'यथा च तक्षोभयथा' इस अधिकरण का विरोध नहीं और पौनरुक्त्य संशयाभाव आदि कुछ भी नहीं होगा। 'यथा च तक्षोभयथा' इस सूत्र से बुद्धि उपाधि द्वारा आत्मा में औपाधिक कर्तृत्व कहा गया है। जैसे, तक्षा वासी आदि ग्रहण करके छेत्ता होता है उसके बिना छेत्ता नहीं होता, उसी तरह बुद्धि उपाधि को लेकर आत्मा में कर्तृत्व है स्वभाव से नहीं। यह कथन जीवात्मा के ही सम्बन्ध में है ईश्वर के सम्बन्ध में नहीं। कर्तृत्वविशिष्ट बुद्धि के तादात्म्य से जीवात्मा में बुद्धि उपाधि से कर्तृत्व होता है। कर्तृत्वविशिष्ट बुद्धितादात्म्याध्यास कर्तृत्वविशिष्ट बुद्धि के उपादानभूत अविद्यातादात्म्याध्यास के कारण अनादि है; इसी कारण जीवत्व भी अनादि है। बुद्धि की अनादिता भी प्रवाह-सिद्ध है, अविद्यादि के समान बुद्धि की अनादिता स्वाभाविक नहीं है। इस दृष्टि से बुद्धिरूप महत्तत्त्व के लय होने से भी कोई हानि नहीं होती। प्रवाह-रूप से अनादि होने पर भी 'बीजांकुर न्याय' से परस्पराश्रयता दूषण नहीं भूषण है। 'विज्ञानं यज्ञं तनुते कर्माणि तनुतेऽपि च' इत्यादि श्रुतियाँ त्वंपद वाच्य अहमर्थ में कर्तृत्वादि के धर्मिसमसत्ताक होने में ही प्रमाण हैं। कृति, ज्ञान, कृति आदि मन के धर्म हैं। इसमें 'कामः संकल्पो विचिकित्सा श्रद्धा अश्रद्धा ह्रीर्धीर्भीरित्येतत् सर्वं मन एव' यह श्रुति प्रमाण है। अतएव गीता में भी कहा गया है—

"प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।
अहंकार विमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते॥"

प्रकृति के कार्यकारण रूप से परिणत गुणों के द्वारा क्रियमाण कर्मों में अहंकार विमूढात्मा होकर अर्थात् कार्य-कारण संघात में आत्म प्रत्ययरूप अहङ्कार से विमूढ़ात्मा होकर प्राणी मैं कर्ता हूँ ऐसा मानता है। परन्तु—

"तत्त्ववित्तु महाबाहो गुण कर्म विभागशः।
गुणा गुणेषु वर्तन्ते इति मत्वा न सज्जते॥"

के अनुसार गुण कर्म विभाग का तत्त्ववित् इन्द्रियरूप से परिणत गुण ही तत्तद्विषयरूप गुणों में प्रवृत्त होते हैं यह जानकर उनमें आसक्त नहीं होता।

"तत्रैवं सति कर्तारमात्मानं केवलं तु यः।
पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्मतिः॥"

अधिष्ठानादि मिलकर ही कोई कार्य करते हैं अतः जो केवल आत्मा को ही कर्ता मानता है वह असंस्कृत बुद्धि होने के कारण अज्ञानी है, दुर्मति है।

"यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।
हत्वापि स इमान् लोकान् न हन्ति न निबध्यते॥"

जिसको अहङ्कार नहीं है, अनात्मा में आत्मभ्रान्ति नहीं है, जिसकी बुद्धि कर्तृत्व के अभिमान से लिप्त नहीं होती, वह इन सभी लोकों का हनन करके भी न हन्ता होता है और न लिप्त होता है, इत्यादि गीता वचनों से आत्मा में स्वतःकर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि का निषेध ही सिद्ध होता है।

"नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति।
गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति॥

गुणों से अन्य कोई कर्ता नहीं है, जब द्रष्टा यह समझता है और आत्मा को गुणों से परे साक्षिभूत जानता है तब वह मुझ वासुदेव को प्राप्त होता है।

"प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः।
यः पश्यति तथात्मानं कर्तारं स न पश्यति॥"

जो कर्मों को प्रकृति के द्वारा क्रियमाण तथा आत्मा को अकर्ता समझता है वही बुद्धिमान् है।

ईश्वर में भी कर्तृत्वादि मायिक ही हैं वास्तविक नहीं हैं—

"त्वत्तोऽस्य जन्मस्थितिसंयमान् विभो,
वदन्त्यनीहादगुणादविक्रियात् ।
त्वयीश्वरे ब्रह्मणि नो निरुद्ध्यते,
त्वदाश्रयत्वादुपचर्यते गुणैः ॥"

स्तुति के प्रसंग से भक्त कहता है कि संसार की उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय, निर्गुण निर्विकार निरीह परमात्मा से कहा जाता है परन्तु यह आपके ईश्वररूप एवं ब्रह्मरूप के भेद से उपपन्न ही है। ब्रह्मरूप से आप निरीह निर्विकार होते हुए भी मायाविशिष्ट ईश्वररूप से आप में उत्पादकत्व पालकत्व आदि सब संभव हैं। 'अजायमानो बहुधा विजायते' का भी यही अभिप्राय है कि कूटस्थ नित्यरूप से भगवान् सदा निर्विकार रहते हुए भी माया के द्वारा आकाशादि प्रपञ्चरूप से जायमान होते हैं।

इसी तरह निम्नलिखित अनुमान भी इस बात को सिद्ध करते हैं।

"ज्ञातृत्व कर्तृत्वादिकं, नात्मधर्मः, विक्रियात्मकत्वात्, दृश्यत्वात्, दृश्यनिष्ठत्वात्, अहमर्थ समानाधिकरणतया प्रतीयमानत्वात्, संप्रतिपन्नवत्"।

ज्ञातृत्व कर्तृत्वादि आत्मधर्म नहीं हैं, विक्रियात्मक होने से, अथवा दृश्य होने से, ज्ञातृत्वादि दृश्यनिष्ठ हैं इसलिये वह आत्मधर्म नहीं है, अहमर्थ समानाकरणरूप से ज्ञातृत्व आदि प्रतीत होते हैं; इसलिये भी वे आत्मधर्म नहीं हैं, सम्पन्न के समान। ज्ञातृत्वादि विकारि द्रव्यस्थ धर्म हैं यह भी इन्हीं हेतुओं से सिद्ध होता है।

विप्रतिपन्न अहं प्रत्यय आत्मगोचर नहीं है, अहं प्रत्यय होने से, देहात्म प्रत्यय के समान। इसी तरह आत्मा, ज्ञातृत्वादि धर्म रहित है, निर्विकार होने से, एवं अन्तःकरणादि व्यतिरिक्त होने से, अजड होने से, प्रत्यक् होने से, आत्मा होने से। आत्मा क्रिया का आश्रय होगा तो उसमें अनित्यता आदि अवश्य होगी। जो लोग धर्मभूत ज्ञान को नित्य एवं स्वतंत्र तत्व मानते हैं और उसे धर्मी से अपृथक् सिद्ध मानते हैं उनके यहाँ 'आत्मा ज्ञानम्' ऐसी प्रतीति होनी चाहिये 'अहं जानामि' ऐसी प्रतीति नहीं होनी चाहिये। अहमर्थ आत्मा हो तब तो सशरीर अहमर्थ में ही आत्मत्व पर्यवसित होगा। आत्मा ज्ञातृत्वादि विकार रहित है, निर्विकार होने से, अन्तःकरणरूप अहङ्कार से रहित होने से, धर्मभूत ज्ञान में

संकोचविकासशालित्व एवं नित्यत्व दोनों विरुद्ध होने से असंगत ही हैं। संकोचविकास यदि अवस्था है तो अवस्थावान् अनित्य ही होता है। यदि संकोचविकासवान् भी नित्यमान्य है तब तो अनेकान्तवादि जैनमत प्रवेश होगा। अवस्थाविशेष अवस्थावाले के साथ तादात्म्येन प्रतीत होता है। जैसे 'मृद्घटः' यहाँ वैसी प्रतीति नहीं होती। संकोचविकास विषयसंयोग विभागरूप ही होता है, वह क्रियारूप ही है। संयोग विभाग द्रव्याश्रित ही होते हैं अतः विकार ही हैं। विज्ञातृत्वबोधिका श्रुति भी आत्मा में औपाधिक ही विज्ञातृत्व कहती है।

निर्विकारत्व श्रुति के अनुरोध से ही यह व्यवस्था उचित है। निर्विकारत्व श्रुति उभयसम्मत होने से प्रबल है। अतः ज्ञातृत्व श्रुति को तदनुसार ही लगाना उचित है। कहा जाता है कि "ज्ञान के संकोचविकास होने से भी आत्मा में कोई विकार नहीं होता। क्योंकि संकोचविकास का आश्रय आत्मा नहीं है किन्तु ज्ञान ही है। निर्विकारत्व श्रुति आत्मा को ही निर्विकार कहती है। अतः निर्विकारत्व श्रुति से ज्ञातृत्वबोधक श्रुति का कोई विरोध नहीं है"। परन्तु यह भी ठीक नहीं। भले आत्मा उससे विकारी न हो परन्तु धर्मभूत ज्ञान तो विक्रियात्मक हुआ ही। यदि साक्षात् संकोचविकासशाली होने से धर्मभूत ज्ञान विक्रियात्मक है यह मान्य है, तब भी 'उपयन्नपयन् धर्मो विकरोति हि धर्मिणम्' के अनुसार धर्मभूत ज्ञान के आने जाने से धर्मी में भी विकार अवश्य होगा ही।

कहा जाता है पूर्वोक्त अनुमानों में बाध दोष है। श्रुति नित्य ज्ञातृत्व का प्रतिपादन करती है, श्रुतिविरोध से अनुमान बाधित हो जाता है। परन्तु यह भी ठीक नहीं; क्योंकि यह कहा जा चुका कि ज्ञातृत्व श्रुति सोपाधिक आत्मा में ही ज्ञातृत्व बतलाती है। उससे शुद्ध आत्मा की निर्विकारता का अपनोदन ही होता है। इसी तरह यह भी कहा जाता है कि अनुमान के विक्रियात्मकत्व हेतु में विक्रिया का क्या अर्थ है। स्वरूपपरिणामरूप विक्रिया तो असिद्ध ही है। यदि क्रियायोग मात्र ही विक्रिया है तब तो अस्ति आदि क्रिया शुद्ध आत्मा के साथ अद्वैती को भी मान्य है, फिर अनैकान्तिक दोष होगा। परन्तु यह भी ठीक नहीं क्योंकि 'यथा न क्रियते ज्योत्स्ना मल प्रक्षालनान्मणेः' इत्यादि शौनकादि वाक्यों द्वारा ज्ञान में स्वरूपपरिणामता रूप विक्रिया ही कही गयी है। संकोच-विकास रूप क्रियायोगी होने से क्रियायोग पक्ष भी धर्मभूत ज्ञान में मानना पड़ेगा; इस तरह धर्मभूत ज्ञान विक्रियात्मक ही मानना पड़ेगा। 'आत्मा अस्ति'

इत्यादि स्थलों में आत्मा का अस्तित्व आदि क्रियायोग लिप्त ही होता है। इसके अतिरिक्त 'अस्ति' क्रिया का अर्थ है सत्ता। वह कालसम्बन्धमात्र रूप है अतः वह स्वसम्बन्धीमें विक्रिया नहीं उत्पन्न करता। 'आकाशोऽस्ति, परमात्मास्ति' इत्यादि स्थानों में उसका विकार अर्थ नहीं मान्य होता किन्तु उपचय, अपचय, उत्पत्ति, विनाशरूप क्रियायोग ही विक्रिया है। यह सब अनुभूति में अमान्य ही है अतः अनैकान्त्य दोष नहीं होगा। ज्ञातृत्वादिबोधक श्रुतियाँ न तो आत्मा की निर्विकारता को ही बाधित कर सकती हैं और न धर्मभूत ज्ञान की विक्रियात्मता को ही बाधित कर सकती हैं। चिन्मात्र दृश्य नहीं है किन्तु अहमर्थ तो दृश्य है, अहमर्थरूप द्रष्टा के दृश्य होने पर भी चिन्मात्र दृश्य नहीं होता। द्रष्टृत्व चिन्मात्र का धर्म नहीं है, यही अद्वैती को इष्ट है।

'अहमात्मा गुडाकेश' इत्यादि स्थलों में अहं पद का मुख्य आत्मा अर्थ लक्षणा से ही मान्य है। इस तरह—

"नाहं पीवान् न चैवोढा शिविका भवतो मया।
न श्रान्तोऽस्मि न चायासो सोढव्योऽस्ति महीपते।"

मैं मोटा नहीं हूँ मैंने तुम्हारी शिविका नहीं उठायी न मैं थका हूँ न मुझे सहन करना है।

"पिण्डः पृथग्यतः पुंसः शिरः पाण्यादि लक्षणः।
ततोऽहमिति कुत्रैतां राजन् संज्ञां करोम्यहम्॥"

राजन्! शिर, कर, चरणादि शरीर आत्मा से भिन्न है अतः 'अहं' इस बुद्धि को किसमें समझें?

"शब्दोऽहमिति दोषाय नात्मन्येष तथैव तत्।
अनात्मन्यात्म विज्ञानं.................॥"

आत्मा के सम्बन्ध में अहं शब्द का प्रयोग दोषावह नहीं है। अनात्मा में आत्मविज्ञान एवं अनात्मा में ऐसा प्रयोग भ्रान्ति है, इत्यादि जड़ भरत प्रसंग में भी आत्मा में अहं पद का प्रयोग भ्रान्ति नहीं है यह ठीक है, परन्तु तभी यह भ्रान्ति नहीं है यदि अहमर्थ के साक्षिरूप शुद्ध आत्मा में लक्षणा से अहं शब्द का प्रयोग हो। यदि ज्ञातृत्वादि विशिष्ट अहमर्थ को ही आत्मा समझकर उसमें अहं पद का प्रयोग किया जाता है तब तो भ्रान्ति है ही। 'अहमन्नमहमन्नमहमन्नादः' इत्यादि स्थलों में भी 'अहं मनुरभवं' के समान अहं पद लक्ष्यार्थ आत्मा

में लक्षणा से अहं शब्द का प्रयोग हुआ है। जीवात्मा परमात्मा का भोग्यरूप अन्न बने अथवा परमात्मा जीवात्मा का भोग्यरूप अन्न बने ऐसा अन्नअन्नाद भाव शुद्ध आत्मा में नहीं होता। शुद्ध आत्मा या भूमा में द्वैतनिषेध होता है, 'यत्रत्वस्य सर्वमात्मैवाभून् तत्केन कं पश्येत् केन कं विजानीयात्', 'यत्र नान्यच्छृणोति' इत्यादि से शुद्ध भूमात्म भाव प्राप्ति में सर्वद्वैतनिषेध ही श्रुत है। 'अहं प्रत्यय गम्यत्वात् स यूय्या अपि केचन' इत्यादि उपवर्षाचार्य का मतोल्लेख पूर्व मीमांसा दृष्टि से ही उद्धृत किया गया है। अहमर्थ समानाधिकरण रूप से प्रतीयमानत्व भी चिन्मात्र में संभव नहीं है।

कहा जाता है "अहमात्मा गुडाकेश' इत्यादि वचन से अहं और आत्मा का अभेद कहा गया है। तथा च आत्मत्वहेतु अहमर्थ में प्रयुक्त होने से अनैकान्तिक हो गया। अहमर्थ में आत्मत्व है परन्तु ज्ञातृत्वादि रहितत्व नहीं है।" परन्तु यह ठीक नहीं, क्योंकि यहाँ आत्म शब्द स्वरूपपरक है। अथवा शुद्ध आत्मा में अहं पद का लक्षणा से ही प्रयोग है।

कहा जाता है 'यद्यपि आत्मा है' परन्तु आत्मत्व नाम की कोई चीज नहीं, फिर आत्मत्वहेतु कहाँ अनैकान्तिक होगा? परन्तु इस तरह तो यह भी कहा जा सकता है कि ज्ञाता नाम का कोई है परन्तु ज्ञातृत्व कुछ भी नहीं। पर यह ठीक नहीं; क्योंकि चिन्मात्र आत्मा ब्रह्म स्वरूप ही है। वह अविद्यानिवर्तक ज्ञान का विषय एवं त्रिकालाबाध्य है। तद्भिन्न सब कुछ मिथ्या है अतः आत्मत्व का मिथ्यात्व कहना संगत है, परन्तु उस प्रकार विज्ञातृत्व स्वरूप कल्पित धर्मिमात्र की सत्ता स्वीकृत नहीं हो सकती। ज्ञातृत्वादि चिन्मात्र आत्मा के धर्म नहीं हैं यही कहा जा सकता है। यह नहीं कहा जा सकता कि विज्ञाता आत्मा का ज्ञातृत्व धर्म कभी नहीं हो सकता। आत्मा स्वयं चिन्मात्र है यह पीछे सिद्ध किया है अतः अप्रसिद्ध विशेषणत्व दोष नहीं कहा जा सकता। 'अशरीरं शरीरेष्वनवस्थेष्ववस्थितम्' इत्यादि श्रुति से यही सिद्ध होता है कि आत्मा अधिष्ठानमात्र होनेसे निर्विकार है, वह शरीरादि के समान विकारी नहीं है। यदि आत्मा शरीरादि से संपृक्त होने से ही विकारी है यह मानकर सिद्धसाधन दोष देना है तो यह भी अद्वैती को इष्ट है। स्वरूपतः भी उपाधि द्वारा जो उत्पत्यादिमान होता है वही विकारी होता है। अन्तःकरण स्वरूपतः उत्पत्यादिमान है। अहमर्थ भी उपाधि द्वारा उत्पत्यादिमान होता है। चिन्मात्र ऐसा नहीं है इसलिये ज्ञातृत्वादिधर्माभावसाधन में बाध आदि नहीं है। वस्तुतः भ्रान्तिस्थल को छोड़कर कहीं भी आत्मा में अहं पद का प्रयोग नहीं होता। अहमर्थ भी

अध्यस्त स्वरूप है ही। अध्यस्त रूप चाहे प्रातिभासिक हो चाहे व्यावहारिक, वह अधिष्ठानमात्रविषयक ज्ञान में भासित नहीं होता, इसलिये अतिप्रसंग का कोई अवसर नहीं है।

कहा जाता है कि "जो अहमर्थ में ज्ञातृत्व मानता है वह फिर दृश्यत्व, प्रकृतिपरिणामित्व आदि हेतुओं से देह का अचेतनत्व कैसे सिद्ध करेगा? यदि दृश्यत्वनिर्विशेष होने पर भी देह में अचेतनत्व और अन्तःकरण में ज्ञातृत्व संभव है और देहत्वादि के तुल्य व्यवस्थित है तब तो दृशित्वादि भी अन्तःकरण में सिद्ध किया जा सकता है"। पर यह ठीक नहीं क्योंकि ज्ञातृत्व जड़ धर्म ही है वह अजड़ धर्म या चिद्धर्म नहीं। तथा अजड़त्व हेतु से ज्ञातृत्वाभावसिद्धि में कोई बाधा नहीं। हेतु को अप्रयोजक नहीं कहा जा सकता क्योंकि अजड़त्व रहे और ज्ञातृत्वाभाव न रहे तो इस प्रसञ्जक व्याप्ति में ज्ञातृत्व होने पर अजड़त्वानापत्ति होनी चाहिये, यही विपक्ष में बाधक तर्क है। यदि ज्ञातृत्वाभाव होने पर अजड़त्व न होगा, यह आपादन किया जाय तो यह ठीक न होगा, क्योंकि अजड़त्व तो चित्स्वरूप से ही प्रयुक्त है। वस्तुतः जहाँ अजड़त्व है वहाँ ज्ञातृत्व है यह व्याप्ति प्रतिवादी को नहीं मान्य है। क्योंकि धर्मभूत ज्ञान में व्यभिचार है। इसी तरह जहाँ ज्ञातृत्व है वहाँ अजड़त्व है, इस अन्वयव्याप्ति में भी व्यभिचार है। क्योंकि ज्ञातृत्ववान् अन्तःकरण में अजड़त्व नहीं है अतः अन्तःकरणादि का दृष्टान्त असिद्ध है। इसी तरह दृश्यत्व या अविद्यापरिणामत्व अन्तःकरण के ज्ञातृत्वादि का कारण नहीं है। क्योंकि आकाश वायु आदि सभी प्रपञ्च का प्रतिनियत विभिन्न धर्मवत्त्व भङ्ग होने से सर्वसाङ्कर्य का प्रसंग होगा। सत्त्व, रजस्, तमोगुणात्मक अविद्या सम्बन्धी तत्तद्गुणों के तारतम्यादि के कारण होनेवाला प्रतिनियत तत्तद्धर्म-विशिष्टरूप परिणाम ही प्रतिनियत धर्मवत्त्व का कारण कहा जा सकता है। अन्तःकरण के तुल्य शरीरादि सत्त्वप्रधान सूक्ष्म आकाशादि भूतों का परिणाम नहीं है; इसी लिये फिर अन्तःकरण के समान शरीरादि नहीं होते तथा, चार्वाकादि तुल्यता भी अद्वैती के यहाँ नहीं होती। दृशिरूपता तो चित्स्वरूपता के कारण होती है। अविद्या या अन्तःकरणादि तो दृशि के अधीन ही प्रकाशित होते हैं। दृशिसाक्षात्कार से ही उनका बाध भी होता है। फिर उनमें दृशिरूपता कैसे बन सकती है? इसलिये ज्ञातृत्वविशिष्ट अन्तःकरण के तादात्म्याध्यास से ही चिन्मात्र में औपाधिक ज्ञातृत्व होता है। वह शुद्ध आत्मा की अपेक्षा विषम सत्तावाला होने से मिथ्या ही है। ज्ञातृत्वादिरहित निर्विशेष

आत्मा ही श्रुतिसिद्ध है; उसी अज्ञानाश्रय एवं अज्ञानविषय या अज्ञानोपहित आत्मा में ही तद्भिन्न सब कुछ कल्पित है इसलिये ज्ञातृत्वादि सभी कल्पित एवं औपाधिक ही हैं। ज्ञातृत्वादि प्रकाश भ्रान्ति हैं, क्योंकि 'स्थूलोऽहम्' इत्यादि प्रतीति के समान ही वह भी देहात्माभिमानवाले को ही भासित होता है।

ईश्वर का ज्ञातृत्व भी ऐसा ही है। ईश्वर सर्वशरीरक है। 'हन्ताहमिमास्तिस्रो देवताः' के अनुसार शरीरानुप्रवेश के द्वारा वह भी देहात्मप्रत्ययवान् होता है। यद्यपि वह नित्य ज्ञानवान् है फिर भी व्यवहार काल में ज्ञानियों के समान वह भी देहात्मप्रत्यय धारण करता है। ब्रह्मसाक्षात्कार से ब्रह्मातिरिक्त सभी बाधित होता है। ब्रह्मसाक्षात्कारमात्र निवर्त्य पदार्थविषयक ज्ञान ही भ्रान्ति है। वामदेवादि जीवन्मुक्तों में भी बाधितानुवृत्ति से देहात्मप्रत्यय होता है इसी लिये हेतुसाध्य दोनों का ही समन्वय हो जाता है। अद्वैतानुसार ईश्वर का ज्ञान भी मायापरिणामात्मक वृत्ति होने से व्यावहारिक ही है। अतः उसके ज्ञान में भी ब्रह्मसाक्षात्कारमात्रनिवर्त्य विषयज्ञानत्व है और देहात्मप्रत्ययवान् का जायमान प्रकाश भी है। निर्विशेष में ज्ञातृत्व प्रकाश स्वीकृत नहीं हो सकता। अहंकाराध्यास बिना ज्ञातृत्वादि धर्म का अध्यास भी नहीं होता। योगी, ज्ञानी, ईश्वर, जहाँ भी ज्ञातृत्व होगा वहाँ अहं प्रत्यय भी होगा। वह बाधितानुवृत्ति से होगा। धर्मभूत ज्ञानाश्रयता इसी तरह बन सकती है। संविद् स्वरूप ज्ञान चाहे विशद हो चाहे अविशद, भ्रान्ति उसमें नहीं होती। अधिष्ठान एवं आरोप्य उभयविषयक ज्ञान ही भ्रम होता है। अतः केवल संविद्भान स्वयंप्रकाश एवं अजायमान है। इसलिये संविद्भान स्वयंप्रकाश तथा अजायमान होने से भ्रान्ति नहीं। वह देहात्माभिमानवान् को ही जायमान होता है, यह भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि सुषुप्ति एवं असंप्रज्ञात समाधि में देहात्माभिमान न होनेपर भी संविद्भान रहता है। संविद् का दूसरा अधिष्ठान नहीं प्रसिद्ध है। मुक्ति दशा में सर्वविषय बाध और संविन्मात्र का प्रकाश श्रुतिबोधित है। ईश्वरादि के ज्ञातृत्वबोधक श्रुति का अन्यथा उपपादन किया ही जा चुका है।

"ज्ञातृत्वाध्यास संविद् अधिष्ठान में नहीं हो सकता क्योंकि यदि संविद् ज्ञातृत्व का अधिष्ठान हो तब तो अनुभविता के 'इदं रजतं' के समान ही 'ज्ञातृत्वं ज्ञानम्' ऐसा प्रकाश होना चाहिये। ज्ञातृत्व का अन्य कोई पारमार्थिक अधिष्ठान अद्वैती को मान्य नहीं है; अपरमार्थ किसी भी

वस्तु का अधिष्ठान अन्त में संविद् को मानना पड़ेगा। उसमें भी संविद् सामानाधिकरण्येन प्रकाश प्रसक्त होगा।" परन्तु यह ठीक नहीं क्योंकि ज्ञातृत्व आदि का साक्षात् संवित् अधिष्ठान नहीं है किन्तु ज्ञातृत्व धर्मवाले अहं का पहले संविद् में अध्यास होता है। फिर उसके ज्ञातृत्व धर्म का संविद् में अध्यास होता है। इसी लिये अहंकाररूप द्वार के बिना संविद् के साथ ज्ञातृत्व का सामानाधिकरण्येन प्रकाश नहीं होता। अतएव 'ज्ञानं ज्ञातृत्वं' ऐसी प्रतीत्यापत्ति नहीं होती। 'इदं रजतम्' इत्यादि स्थलों में रजतत्वविशिष्ट रजत का अध्यास होने पर रजतत्व धर्म का भी स्वधर्मि रजत के द्वारा अध्यास होता है। इसी लिये 'इदं रजतत्वं' ऐसी प्रतीति नहीं होती। इसी तरह अग्नि के द्वारा दग्धृत्व के भी आरोप होने पर धर्मितादात्म्य की प्रतीति बिना धर्ममात्र की 'अयोदग्धृत्वं' ऐसी प्रतीति नहीं होती। 'इदं रजतम्' इस प्रतीति में जैसे रजत एवं इदं दोनों साक्षात् धर्मी का ही सामानाधिकरण्य होता है, उसी तरह साक्षात् धर्मी संविद् एवं अहं का ही सामानाधिकरण्य प्रत्यय होता है। तत्रापि यद्यपि 'अहं संवित्' ऐसी प्रतीति नहीं है तथापि 'अहं' यह प्रतीति चिदचित्-ग्रन्थिरूप ही है अतः 'इदं रजतं' के तुल्य ही है। 'इदं रजतं' के समान ही अहं में भी परस्पराध्यास मान्य है। ऐसे स्थलों में आरोप्यांश में अधिष्ठान का संसर्गमात्र अध्यस्त होता है, किन्तु अधिष्ठान में तो आरोप्य का स्वरूप एवं संसर्ग दोनों ही अध्यस्त होता है, इस तरह अधिष्ठान का स्वरूपाध्यास नहीं होता, अतएव संवित् की असत्यत्वापत्ति का कोई प्रसंग नहीं। अतएव 'अहं ज्ञानं' ऐसी प्रतीति भी नहीं होती क्योंकि ज्ञातृत्वविशिष्ट अहंकार का ही संविद् में अध्यास होता है, अतएव 'अहं जानामि' यहाँ साश्रयज्ञान या ज्ञाता अध्यस्त रूप से ही अहमंशान्तर्गत संविदाश्रयत्वेन प्रतीत होता है। यहाँ अहमर्थ को अधिष्ठान मानकर तद्गतरूप से संविद् की प्रतीति नहीं होती, अतएव सत्यरूप से अभिमत संविद् का अहमर्थ अधिकरणरूप से प्रतीत होना चाहिये यह नहीं कहा जा सकता। अर्थात् 'अहं जानामि' इस प्रत्यय में अहमर्थान्तर्गत अविद्योपहित स्वप्रकाश एक चैतन्य अविशद रूप से भासमान होता है और 'ज्ञा' धात्वर्थ एक अध्यस्त अन्य ज्ञान भी प्रतीत होता है। द्वितीय अध्यस्त है। साक्षी के द्वारा उसका विशद अवभास उसी तरह होता है जैसे 'इदं रजतम्' इस साक्षिभास्य ज्ञान में रजत का।

अहमर्थ का ज्ञानाधिकरण रूप से भान होता है। कहा जाता है कि "मुख प्रतिबिम्ब स्थल में तो दर्पणप्रतिहत होने से परावर्तित नयनरश्मि से देश-

वियुक्त मुखमात्र का ग्रहण होता है और दर्पणदेश ग्रहण होता है। देशत्व साम्येन मुख भेदाग्रह से दर्पण में मुखदेशत्व का आरोप होता है, यत्किंचिद् देशवर्ती मुख में दर्पणदेशवृत्ति वस्त्वन्तर से देशित्वादि साम्य होने एवं अन्यदेशवृत्तित्व के अग्रहण होने से दर्पणदेशित्व का अध्यारोप होता है। परन्तु संवित् तो निर्विशेष है, उसमें देश्यन्तर साम्य असंभव है, साथ ही तद्भेदाग्रह भी असंभव है, फिर उसमें अहमर्थदेशित्व का आरोप कैसे होगा? निर्विशेष में भेदाग्रहमूलक भ्रम भी दुर्ग्रह है"। परन्तु यह भी ठीक नहीं; क्योंकि जैसे दर्पण में मुखसंसर्ग का अध्यास होता है वैसे संविद् में अन्तःकरण ज्ञातृत्वादि संसर्गमात्र का अध्यास नहीं है, किन्तु अध्यस्त के अधिष्ठानगत-रूप से प्रतीति होने में ही प्रतिबिम्ब का दृष्टान्त दिया गया है। जहाँ धर्मियों का तादात्म्याध्यास मान्य है उस पक्ष में 'लोहितः स्फटिकः' के तुल्य धर्ममात्र का प्रतिबिम्बाध्यास भी विरुद्ध नहीं है। इससे भी संविद्रूप अधिष्ठान की अहंकारदेशता की कल्पना नहीं होती। जल में आकाश का प्रतिबिंब नीरूप का ही प्रतिबिम्ब है।

अहंकारोपहित चैतन्य ही अहंकार तादात्म्याध्यास से अहमर्थ है। ज्ञातृत्व-विशिष्ट अहङ्कार ज्ञप्तिमात्र में अध्यस्त होता है। विशिष्ट में 'अहं जानामि' ऐसी प्रतीति होती है। धर्म धर्मि दोनों का ही तादात्म्याध्यास होता है इस सिद्धान्त से ज्ञप्तिधर्म रूप से ज्ञातृत्व धर्म का अध्यास होता है। इसी लिये ज्ञप्ति की ज्ञातृता का व्यवहार होता है। ज्ञातृत्वविशिष्ट अहंकार अविद्या का परिणाम है और अहंकार का ज्ञातृत्व अहङ्कारसमसत्ताक है। ज्ञप्तिमात्र के अधिष्ठान होने पर भी साश्रयरूप से ही ज्ञातृत्व का अध्यास होता है अतएव 'ज्ञप्ति ज्ञान है' ऐसी प्रतीति नहीं होती। ज्ञप्ति में ज्ञातृत्व प्रातिभासिक ही है। सोपाधिकाध्यास पक्ष में ज्ञातृत्व संसर्गमात्र का ज्ञप्ति में अध्यास होता है। फिर तो ज्ञप्तिमात्र में संसृष्टरूप से ही ज्ञातृत्व प्रतीत होता है। 'लोहितः स्फटिकः', 'अयोदहति' के तुल्य 'अहं जानामि' यह सोपाधिक अध्यास है। इस पक्ष में क्षणमात्र पहले अहङ्कारमात्र का अध्यास होता है, अनन्तर धर्माध्यास होता है। इस प्रकार की विवक्षा करके दोनों धर्मियों का अध्यास धर्माध्यास से पूर्व सिद्ध ही है। ज्ञप्ति और अहंकार में 'अग्नि' और 'अय' के तुल्य लौकिक पारमार्थिकता भी रहेगी। 'लोहितः स्फटिकः' इत्यादि में लौहित्यसंसर्गमात्र का ही अध्यास है, वहाँ भी यही न्याय है।

शुद्धात्मसाक्षात्कार और भक्ति

अप्पययाजी दीक्षित ने अद्वैतवाद में निष्ठा रखते हुए भी भक्ति के लिये विशिष्टाद्वैत पर्यवसायी श्रीकण्ठीय शैवभाष्य पर 'शिवार्कमणि दीपिका' लिखी है। उनका कहना है कि यद्यपि अद्वैत में ही श्रुतिशीर्ष उपनिषदों का पर्यवसान है और सभी आगमों का भी पर्यवसान उसी में है। सभी पुराणों, उपपुराणों, मन्वादि धर्मशास्त्रों तथा महाभारत, रामायणादि सभी प्रबन्धों की भी अद्वैत में ही निष्ठा है। विचार करने पर ब्रह्मसूत्रों की भी अद्वैत में ही विश्रान्ति है, अतएव प्राचीन शङ्कर, पतञ्जलि, गौड़पाद, शुक, व्यास, पराशर, वशिष्ठ, नारायण प्रभृति आचार्यरत्नों ने भी अद्वैत सिद्धान्त ही स्वीकार किया है; तो भी तरुणेन्दुशिखामणि भवानीपति शिव के अनुग्रह बिना अद्वैत निष्ठा प्राप्त नहीं होती अतः शिवार्कमणि दीपिका द्वारा शिवतत्व निरूपण का प्रयास है।

"यद्यप्यद्वैत एव श्रुति-शिखरगिरामागमानाञ्च निष्ठा।
साकं सर्वैः पुराणैः स्मृतिनिकर महाभारतादिप्रबन्धैः॥
तत्रैव ब्रह्मसूत्राण्यपि च विमृशतां भान्ति विश्रान्तिमन्ति।
प्रत्नैराचार्यरत्नैरपि परिजगृहे शङ्कराद्यैस्तदेव॥
तथाप्यनुग्रहादेव तरुणेन्दुशिखामणेः।
अद्वैत वासना पुंसां केषाञ्चिदिह जायते॥"

अद्वैतनिष्ठा योग्यता प्राप्ति के लिये प्रथम भक्ति की जाती है परन्तु अन्त में भक्ति करना ज्ञानी का स्वभाव बन जाता है। यही बात 'त्रिपुरा रहस्य' में कही गयी है—

"यत्तु भक्तैरतिशय प्रीत्या कैतव वर्जनात्।
स्वभावस्य स्वरसतो ज्ञात्वापिस्वाद्वयंपदम्॥
विभेद भावमाहृत्य सेव्यतेऽत्यन्त तत्परैः"।

अर्थात् मुमुक्षु लोग कैतवशून्य होकर अतिशय प्रीति से जिसका सेवन करते हैं वह यद्यपि ज्ञानी भक्तों का स्वात्मा ही है फिर भी उसे आहार्यभेद ज्ञान से ज्ञानी अतिशय प्रीति से उसे भजते हैं। परम आप्तकाम, पूर्णकाम ज्ञानी फलानुसन्धान बिना स्वभाव से ही उसमें प्रेम करते हैं—

आचार्य शङ्कर ने कहा ही है—

"यावज्जीवं त्रयो वन्द्या वेदान्तो गुरुरीश्वरः।
आदौ विद्याप्रसिद्ध्यर्थं कृतघ्नत्वापनुत्तये॥"

जब तक जीवन रहे वेदान्त, गुरु एवं ईश्वर की भक्ति वन्दना करते रहना चाहिये। प्रथम ब्रह्मविद्या प्राप्ति के लिये वैसा करना आवश्यक है पश्चात् कृतघ्नता दूर करने की दृष्टि से उनकी वन्दना आवश्यक है।

भागवत का स्पष्ट घोष है कि आत्माराम महामुनीन्द्र चिदचिद्ग्रन्थि के विमोक के अनन्तर भी भगवान् में अहैतुकी भक्ति करते हैं। यद्यपि लोक में बिना प्रयोजन के किसी कार्य में किसी की प्रवृत्ति नहीं होती तथापि भगवान् में गुण ही कुछ इस प्रकार के हैं कि जिससे कुछ प्रयोजन न होने पर आत्मारामों का चित्त उनमें आकृष्ट हो जाता है। वे चाहें तो भी अपने मन को उधर से हटा नहीं सकते। तभी तो एक भक्त कहता है—जब तक मैं निरञ्जन निर्गुण सर्वव्यापी तत्त्व का हृदय में अनुभव करने का प्रयत्न करता हूँ, उससे पहले ही मेरे हृदय में अञ्जनपुञ्जमञ्जु कोई गोप शिशु बलात् प्रस्फुरित होने लगता है—

"यावन्निरञ्जनमजं पुरुषं जरन्तं सञ्चिन्तयामि सकले जगति स्फुरन्तम्।
तावद्बलात् स्फुरति हन्त हृदन्तरे मे गोपस्य कोपि शिशुरञ्जनपुञ्जमञ्जुः॥"

शुक के सम्बन्ध में कहा ही गया है—

"परिनिष्ठितोऽपि नैर्गुण्ये उत्तमश्लोक लीलया।
गृहीतचेता राजर्षे आख्यानं यदधीतवान्॥"

निर्गुण ब्रह्म में परिनिष्ठित होने पर भी हरिगुणों से आकृष्ट होकर श्रीभागवत के अभ्यास में संलग्न हुए। कुन्ती ने तो यहाँ तक कह डाला कि अमलात्मा परमहंस महामुनीन्द्रों को भक्तियोग विधानकर श्री परमहंस बनाने के लिये निर्गुण निराकार परब्रह्म सगुण साकार रूप में प्रकट होते हैं—

"तथा परमहंसानाम् मुनीनाममलात्मनाम्।
भक्तियोग विधानार्थं कथं पश्येमहि स्त्रियः॥"

यद्यपि कुछ लोग तो कहते हैं कि निर्गुण निराकार अद्वैत ब्रह्मतत्त्व है ही नहीं। अगणित प्रतिष्ठित भक्तों के ऐसे उदाहरण हैं कि जो ब्रह्म को निर्गुण निराकार अद्वैत मानते हुए भी भगवान् की भक्ति में लयलीन रहे हैं।

श्री भागवत एवं श्री रामचरित मानस तो इसी आधार पर भक्ति विरक्ति भगवत्प्रबोध का सामंजस्य बतलाते हैं। वेद उपनिषदों तथा अन्य पुराणों का भी ऐसा ही स्वारस्य प्रतीत होता है। सन्त ज्ञानेश्वर, निवृत्तिनाथ, मुक्ता बाई, तुकाराम, एकनाथ, समर्थ आदि सब अद्वैतवादी होते हुए भी अनन्य वैष्णव थे।

भारत में लाखों नहीं करोड़ों व्यक्ति उनके अनुयायी हैं—

"तस्मादिदं जगदशेषमसत्स्वरूपम्।
स्वप्नाभमस्तधिषणं पुरुदुःखदुःखम्॥
त्वय्येव नित्यसुखबोध तनावनन्ते,
मायात उद्यदपि यत् सदिवावभाति॥"

श्लोक का सीधा अर्थ है—यह सम्पूर्ण संसार असत्स्वरूप है, स्वप्न तुल्य, विचारासहिष्णु, अविचारितरमणीय तथा बहुदुःख संकुल किंवा दुःखरूप ही है। नित्य सुखबोधस्वरूप अनन्त भगवान् में माया से उदित सा होकर सत् सा प्रतीत होता है।

"झूँठहु सत्य जाहि बिनु जाने। जिमि भुजङ्ग बिनु रजु पहिचाने॥"
"रजत सीप महँ भास जिमि यथा भानुकर बारि।
यद्यपि मृषा तिहुँ काल महँ भ्रम न सकइ कोउ टारि॥"
"जेहि जाने जग जाइ हेराई। जागे यथा स्वप्न भ्रम जाई॥"
"जगत् प्रकाश्य प्रकाशक रामू।"
"सकल दृश्य निज उदर मेलि सोवइ निद्रा तजि योगी।
सो हरि पद अनुभवइ परमसुख अतिशय द्वैतवियोगी॥"

कई लोग कहते हैं "जो द्वैत को मिथ्या मानेगा वह भक्ति कर ही नहीं सकता। सगुण साकार जिसकी दृष्टि में सर्वथा मिथ्या एवं असत् है उसकी भक्ति विडम्बनामात्र है"। परन्तु ऐसा कथन तथ्यहीन है। क्योंकि मिथ्या शब्द का अपह्नव या अपलाप अर्थ करना लोगों को भ्रम में डालना है। घट मृत्तिका की अपेक्षा मिथ्या अनिर्वचनीय है, इसका इतना ही अर्थ है कि वह मृत्तिका के समान सत्तावाला नहीं है किंतु मृत्तिका की अपेक्षा वह बाधित है। उसकी अपेक्षा मृत्तिका अबाधित है अतएव सत्य है। परन्तु अपने कारण जल की अपेक्षा बाधित होने से मृत्तिका भी मिथ्या ही है, तो भी जलानयनादि कार्यकरण-क्षमता उसमें है ही।

नास्तिक बौद्धों की अपेक्षा आस्तिक अद्वैत वेदान्तियों की विशेषता है। देहादि द्वैत के मिथ्या होने पर भी उसमें जितना स्नेह एवं उसके रक्षण-पोषण में तत्परता होती है उतनी भक्ति भगवान् में हो तो अनायास ही प्राणी का कल्याण हो जाता है। भक्तों ने यही प्रभु से मांगा है कि अविवेकियों को देहादि अनात्मा में जितनी प्रीति होती है उतनी प्रीति आपके चरणों में हो—

"सेवत सीय लषण रघुवीरहिं।
जिमि अविवेकी पुरुष शरीरहिं॥"

"या प्रीतिरविवेकानां विषयेष्वनपायिनी।
त्वामनुस्मरतो नाथ हृदयान्मापसर्पतु॥"

जैसे पक्षहीन पक्षिशावक अपनी अम्बा को मिलना चाहते हैं, अतृणाद क्षुधातुर वत्सतर माता का स्तन्य पाने को उत्सुक होते हैं, विरहिणी प्रेयसी अपने प्रोषित प्रेयान् से मिलने के लिये व्याकुल होती है, उसी तरह अरविन्दनयन! आप को देखने के लिये मेरा मन उत्कण्ठित है।

"अजातपक्षा इव मातरं खगाः स्तन्यं यथा वत्सतराः क्षुधार्ताः।
प्रियं प्रियेव व्युषितं विषण्णा मनोऽरविन्दाक्ष दिदृक्षते त्वाम्॥"

ब्रह्मादि देवशिरोमणि ब्रजरज की अभिलाषा करते हैं। रज का महत्त्व भगवान् के चरणस्पर्श से ही है। चरणादि भगवान् के अङ्गसङ्ग से ही पीताम्बर तथा कौस्तुभादि का महत्त्व है। उनकी अपेक्षा भी भगवान् के सौन्दर्य माधुर्य आदि दिव्य गुणों का महत्त्व है। भगवान् अपने कण्ठ की शोभा के लिये नहीं किन्तु कौस्तुभ की शोभा बढ़ाने के लिये उस पर अनुग्रह करके उसे धारण करते हैं—"कण्ठश्च कौस्तुभ मणेरधिभूषणार्थम्"; इसी तरह गुणों के द्वारा भगवान् के स्वरूप में महत्त्वातिशय या आनन्दातिशय का आधान नहीं किया जा सकता क्योंकि भगवान् के स्वरूप का महत्त्व एवं आनन्द निरतिशय है। अनर्थ उसमें है ही नहीं अतएव अनर्थनिवर्हण भी गुणों का प्रयोजन नहीं। इसी लिये निर्गुण निरपेक्ष भगवान् गुणों पर भी अनुग्रह करके ही उन्हें स्वीकार कर लेते हैं—"निर्गुणं मां गुणाः सर्वे भजन्ति निरपेक्षकम्।"

जैसे अन्तरङ्ग-अन्तरङ्ग उपकरण भूषण गुणस्वरूप आदि के उत्कर्ष में तारतम्य है वैसे ही उनके सत्त्व एवं स्फूर्ति में भी तारतम्य है। जैसे स्वरूपापेक्षया

गुणादि में उत्कर्ष का तारतम्य होता है वैसे सत्त्व और स्फूर्ति में भी तारतम्य है। अधिष्ठानभूत स्वरूप की स्वतःसत्ता तथा स्वतःस्फूर्ति होती है तद्भिन्न में स्वरूपापेक्ष ही सत्ता और स्फूर्ति होती है।

जैसे कुछ लोग राजा के बनाये हुए राजा होते हैं कोई स्वतः राजा होता है। स्वतः राजा ही राजाओं का राजा राजराज कहा जाता है। उसी तरह अन्य अप्रभुओं को प्रभु बनानेवाला प्रभु का प्रभु इस ढङ्ग के प्रयोग ब्रह्मतत्त्व के सम्बन्ध में मिलते हैं।

"सूर्यस्यापिभवेत्सूर्यः अग्नेरग्निः प्रभोः प्रभुः।
श्रियः श्रीश्च भवेदग्र्या कीर्तिः कीर्त्याः क्षमा क्षमा॥"
—वा० रा०, उ० का०, सर्ग ४४

सुमित्रा कौशल्या से कहती हैं—राम सूर्य के भी सूर्य, अग्नि के भी अग्नि, प्रभु के प्रभु और श्री के भी श्री हैं। इसी तरह श्रोत्रस्य 'श्रोत्रं चक्षुषश्चक्षुः प्राणस्यप्राणः' इत्यादि श्रौत प्रयोग भी हैं। ठीक ऐसे ही ब्रह्म को सत्य का सत्य कहा गया है 'सत्यस्य सत्यम्' षष्ठयन्त सत्य प्रथमान्त सत्य की अपेक्षा न्यून है, इसी आधार पर सत्तात्रैविध्य की कल्पना भी है।

शुक्ति रजतादि की अपेक्षा घटादि सत्य हैं, क्योंकि घटादि की अपेक्षा शुक्ति रजतादि बाध्य होते हैं अतः वे प्रातिभासिक सत्य कहे जाते हैं, घटादि उनकी अपेक्षा अबाध्य होने से व्यावहारिक सत्य होते हैं। घटादि मृत्तिका कार्य में स्वकारण की अपेक्षा बाध्य मिथ्या एवं न्यून सत्तावाले होते हैं। मृत्तिका उनकी अपेक्षा अबाध्य, सत्य एवं अधिक सत्तावाली होती है। क्रमेण इसी तरह बढ़ते-बढ़ते भगवद्गुणादि सर्वापेक्षया सत्य, उत्कृष्ट, अबाध्य एवं अधिक सत्तावाले होते हैं। परन्तु सर्वान्तरतम भगवत्स्वरूप उनकी अपेक्षा भी अधिक उत्कृष्ट सत्य एवं अत्यन्ताबाध्य होता है। इस तरह भगवत्स्वरूपापेक्षया गुणादि के किञ्चिन्न्यून सत्तावाला होने पर भी कोई बाधा नहीं, यही स्व समान सत्ता के द्वितीय का न होना ही भगवत् स्वरूप की अद्वितीयता है। भगवान् का लीलाविग्रह एवं सौन्दर्य-माधुर्य आदि वस्तु भी चिदानन्दसारसर्वस्व भगवत्स्वरूप ही है। जैसे जल ही बर्फ के रूप में व्यक्त होता है, जैसे अव्यक्त अग्नि दारु में दाहकत्व, प्रकाशकत्व विशिष्ट होकर प्रकट होता है वैसे ही प्रकृत में समझना चाहिये। इस रूपान्तर प्रतीति का मूल भगवान् की दिव्य अचिन्त्य शक्ति है, उसी में भगवत्स्वरूपापेक्षया किञ्चिन्न्यून सत्ताकत्व पर्यवसित होता है। अतएव

ब्रह्मविद्वरिष्ठ भी पूर्णानुराग रससारसरोवर समुद्भूत सरोजस्वरूप प्रभु में अपने मनोमिलिन्द को लगाने में लोकोत्तर रस का अनुभव करते हैं। इतना ही नहीं भावुकों ने सच्चिदानन्द सार सरोवर समुद्भूत सरोजस्वरूप व्रज को माना है। सरोजस्थ केशरों को व्रज सीमन्तिनी, तदन्तर्गत पराग को कृष्ण और परागान्तर्गत मकरन्द को श्रीवृषभानुनन्दिनी कहा है। यह सभी उत्कर्ष तारतम्य भगवत्स्वरूप में ही दिव्य लीलाशक्ति के द्वारा सम्पन्न होता है। यद्यपि संसार भी परब्रह्मस्वरूप में मायाकृत विलासविशेष ही है तथापि जैसे नेत्र और सूर्य के मध्य में मेघादि अस्वच्छ उपाधि सूर्यस्वरूप का आच्छादन करती है और उपनेत्र एवं सूक्ष्म दूरवीक्षणादि सूर्यस्वरूप के आच्छादक न होकर व्यञ्जक ही होते हैं, उसी तरह सत्त्वादिमयी मायाशक्ति स्वरूप को प्रावृत करके प्रपञ्च प्रतिभासित करती है। परन्तु अचिन्त्य दिव्य परमान्तरङ्गा लीलाशक्ति स्वरूप प्रावरण बिना ही विविध माधुर्यमय भावों की अभिव्यञ्जिका होती है।

परमार्थसार

खंड : २

'परमार्थसार'

भगवान् शेष को कौन आस्तिक नहीं जानता। अनन्त ब्रह्माण्डनायक, परात्पर, परब्रह्म, भगवान् विष्णु के जो न केवल विष्णु पुराण, पद्म पुराण, भागवत पुराण, अपितु वेदादि सकल सच्छास्त्रों के महातात्पर्य के विषय हैं—आधारभूत शय्याभूत हैं। परब्रह्म का आधार वह स्वयं ही होता है। अन्तिम मूल का कोई मूल न होने से वह अमूल कहलाता है। उसी तरह अन्तिम प्रकाशक का कोई प्रकाशक न होने से यह स्वप्रकाश कहलाता है। ठीक इसी तरह अन्तिम आधार का आधार न होने से वह 'निराधार', 'स्वप्रतिष्ठ' कहलाता है। यही श्रुति भी कहती है—'स भगवः कस्मिन् प्रतिष्ठितः स्वे महिम्नि,' (छान्दोग्य); परब्रह्म किसमें प्रतिष्ठित है, इस प्रश्न का यही उत्तर है कि वह स्वमहिमा में ही प्रतिष्ठित है। इस दृष्टि से उसके स्वरूप में ही अघटितघटना-पटीयसी, मंगलमयी मायाशक्ति की महिमा से आधाराधेय की कल्पना होती है। इसी दृष्टि से कार्यों की अपेक्षा कारण में परत्व की कल्पना है। सब कार्यों के ऊपर कारण होता है। सूक्ष्म प्रकृतिशक्तिविशिष्ट चैतन्य ही अव्याकृत कारण ब्रह्म कहा जाता है, वही शेष भी होता है। कार्य के बाध होने पर कारण ही शेष रहता है। 'शिष्यते यः स शेषः' जो बाकी बचे वही शेष है। ब्रह्मा की द्विपरार्द्ध आयु व्यतीत हो जाने पर सब लोक नष्ट हो जाते हैं। पञ्च महाभूत भी अहङ्कार में लीन हो जाते हैं। काल के वेग से सम्पूर्ण 'अहम्' आदि व्यक्त पदार्थ भी अव्यक्त में लीन हो जाते हैं। तब उस समय सब संज्ञानों के अधिष्ठान भगवान् ही शेष रहते हैं। इसी लिये उनकी शेष संज्ञा होती है।

"नष्टे लोके द्विपरार्द्धावसाने महाभूतेष्वादिभूतं गतेषु।
व्यक्तेऽव्यक्तं कालवेगेन जाते भवानेकःशिष्यते शेषसंज्ञः॥"

अमृताम्भोधिमय दिव्य क्षीरसागर के मध्य में अनन्तानन्त भास्कर प्रभा-भास्वर, चिदानन्द, प्रकाशपुञ्जमय, दिव्याङ्गप्रभासंवलित, अचिन्त्य अद्भुत रत्नप्रभामण्डित, महत्फणाटोप विराजित, भगवान् शेष अपने आपको शेषशायी भगवान् की शय्या बनाकर सचमुच सर्वशेषी भगवान् के शेष (अङ्ग)

बन गये। उनके ऊपर दामिनीद्युतिविनिन्दक, पीतवाससंवलित, चिदानन्दसार-सर्वस्व, परममङ्गलमय भगवान् विष्णु विराजमान होते हैं—'अव्याकृतमनन्ताख्यमासनं यदधिष्ठितः' (भागवत); अव्याकृत शेष अनन्त भगवान् ही भगवान् के आसन हैं। जैसे कार्यों के ऊपर कारण होता है वैसे ही कारण के ऊपर कार्यकारणातीत परब्रह्म भगवान् विराजमान होते हैं।

भगवान् के सगुण साकार रूप में प्रादुर्भाव का परम प्रयोजन मर्त्यशिक्षण ही है। प्रीति, भक्ति, सेवा के आदर्श स्थापनार्थ ही भगवान् का विविध रूप में आविर्भाव होता है। सीताराम, राधाकृष्ण के रूप में, शिव-विष्णु के रूप में प्रभु का प्रादुर्भाव इसी परानुरक्ति का आदर्श दिखलाने के लिये होता है। स्वात्मसमर्पण-सेवा का लोकोत्तर आदर्श उपस्थापित करने के लिये ही भगवान् का शेषशायी रूप में प्रादुर्भाव है। भगवान् को ही सर्वशेषी मानकर अपने को उनका उपकरण शेष बना देना यही आदर्शसेवा का उदाहरण है। शय्या के रूप में, छत्र के रूप में, सिंहासन के रूप में, शेष ही प्रकट होते हैं; व्यापि-वैकुण्ठ, अवध, व्रजधाम, आदि के रूप में भी उसी कारण शेष तत्त्व का प्रादुर्भाव होता है। प्रभु की सभी सेवाओं के उपकरण रूप से भक्त स्वयं प्रकट होने की अभिलाषा रखते हैं, और प्रभु को ही अपना अलङ्कार बनाकर अपने हृदय में, शिर में, प्रभु को धारण करने की कामना ही भक्त की कामना होती है। व्रजयुवतियों ने अपने प्राणवल्लभ मदनमोहन को अपने कानों का कुवलय (कमलकुण्डल), नयनों का अञ्जन, उरोजों का मृगमद और उरस्थली का हार बना लिया था—

"श्रवसोःकुवलयमक्ष्णोरञ्जनमुरसो महेन्द्रमणिदाम।
वृन्दावनतरुणीनां मण्डनमखिलं हरिर्जयति॥"

अर्थात् व्रजसीमन्तिनी जनों के कानों के कुण्डल, आँखों के अञ्जन, उरस्थल की महेन्द्रमणिमाला, किं बहुना उनके सर्वाङ्गमण्डन होकर श्रीहरि ही विराजमान हैं।

भक्तिभावरसभाविता सुमति के द्वारा भक्त अपने आप को अनन्तानन्त उपकरणों के रूप में प्रस्तुत करता है। वही शेष भगवान् लक्ष्मण के रूप में धनुष बाण धारण किये सजग प्रहरी बने हुए हैं। देह गेह सब कुछ तृण के तुल्य त्यागकर अखण्ड सेवाव्रत में लवलीन हैं। वही बलराम के रूप में अभिभावक बनकर विशिष्ट सेवाव्रत का पालन करते हैं, वही भगवान् शेष प्रभु

के परम प्रिय स्वांशसन्तान तथा स्वात्मभूत जीवों के उद्धारार्थ आचार्य बनकर भी प्रकट होते हैं। सांख्यायन के लिये श्रीभागवत सिद्धांत का उपदेश भी उन्होंने ही किया है। सहस्रमुख से दो सहस्र जिह्वा के द्वारा भगवान् के नामामृत, कथामृत का पान और वितरण करने का व्रत लिये हुए चराचर प्रपञ्चधारयित्री धरित्री का अनायास ही धारण भी करते हैं।

उन्हीं शेष ने चरक, महाभाष्य, पातञ्जल दर्शन जैसे दिव्य सद्ग्रन्थों के द्वारा प्राणियों के देह, वाक् एवं चित्त का संशोधनकर अन्त में परमार्थसार का उपदेश करके प्राणियों को परात्पर परब्रह्म तत्त्व प्रदान करके पूर्ण कृतार्थ बनाने का भी अनुग्रह किया है।

कहा जाता है आद्य शङ्कराचार्य के गुरु श्रीगोविन्द भगवत्पाद भी भगवान् पतञ्जलि शेष भगवान् ही थे और रामानुज सम्प्रदाय के अनुसार श्रीमद् रामानुजाचार्य भी शेष के ही अवतार हैं। कोई आश्चर्य नहीं कि विभिन्न अधिकारियों की दृष्टि से भगवान् शेष ने योग, भक्ति और ज्ञान के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। गीता में भगवान् भी तो कहते हैं कि एकत्व तथा पृथक्त्व से भिन्न भिन्न अधिकारी मेरी उपासना करते हैं—'एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतो मुखम्।'

आप्तकाम पूर्णकाम आत्माराम परमनिष्काम भगवान् शेष ही जब प्राणि-कल्याण के लिये उतारू हो जायँ तब फिर क्या बाकी रह सकता है। देह वाक् चित्त शुद्धि का अन्तिम फल है भगवद्रूपसाक्षात्कार तथा तन्निष्ठा। सब कुछ होने पर यदि भगवत्तत्त्व की अनुभूति न हुई तब तो फिर सब केवल श्रम ही है। इस सद्ग्रन्थ की चर्चा 'लघुमञ्जूषा' में नागेश जी भट्ट करते हैं—'तदुक्तं परमार्थसारे शेषनागेन'। इस ग्रन्थ में भी कहा गया है कि—

"वेदान्तर्शास्त्रमखिलं विलोक्य शेषस्तु जगदाधारः।
आर्यापञ्चाशीत्या बबन्ध परमार्थसारमिदम्॥"

जगत् के आधारभूत शेषनाग ने अखिल वेदान्तशास्त्र का आलोडन करके पचासी आर्या के द्वारा परमार्थसार का सङ्कलन किया है। जो भगवान् का अनन्य भक्त होता है वही भगवान् के रहस्य का ज्ञाता हो सकता है। अन्तरङ्ग रहस्य का ज्ञान अन्तरङ्ग को ही हो सकता है। जो भगवान् शेष परमार्थतः भगवान् के आसन छत्र आदि हैं, और जो स्वात्मसमर्पण करके सर्वतोभावेन तत्सेवानिष्ठ हैं, और जो परम कारुणिक विश्वकल्याणनिरत हैं उनका उपदेश सचमुच महाभाग्यशालियों को ही उपलब्ध हो सकता है। प्रथम श्लोक से

उन्होंने भगवान् विष्णु का स्वरूप बतलाते हुए नमस्कार व्याज से अनुबन्ध-चतुष्टय दिखाया है :—

"परं परस्याः प्रकृतेरनादिमेकं निविष्टं बहुधा गुहासु।
सर्वालयं सर्वचराचरस्थं त्वामेव विष्णुं शरणं प्रपद्ये" ॥१॥

नित्य अपरोक्ष सच्चिदानन्द ब्रह्मस्वरूप व्यापनशील परमात्मा को मैं प्रपन्न होता हूँ।

भगवान् विष्णु शेष के लिये कोई परोक्ष वस्तु नहीं हैं, नित्य ही प्राप्त हैं अतएव 'त्वां' शब्द का प्रयोग है। मैं शेष आप परब्रह्म विष्णु को प्रपन्न हूँ अर्थात् आप को ही अपना रक्षकरूप से एवं आश्रयरूप से जानता हूँ। शरण का अर्थ है 'आश्रय' एवं 'रक्षक'। 'शरणं गृहरक्षित्रोः।' (कोष)

आप सर्वकारणभूता प्रकृति से परे हैं, अनादि हैं, एक होते हुए भी विविधरूपा गुहाओं में प्रविष्ट होकर सर्वालय एवं सर्वचराचरस्थ होकर विराजमान होते हैं।

'वेवेष्टीति विष्णुः' इस व्युत्पत्ति के अनुसार सर्वव्यापी नित्य अपरोक्ष सच्चिदानन्द परमात्मा ही विष्णु हैं, वे ही प्रत्यक् चैतन्याभिन्न रूप से सर्व वेदनों के अगोचर होते हुए अपरोक्ष हैं। वे ही 'त्वं' पद के लक्ष्यार्थ हैं। उन्हीं प्रत्यक् चैतन्याभिन्न परंब्रह्म विष्णु को अपना रक्षक समझना शरणागति है। 'नैनमविदितो देवो भुनक्ति' यह श्रुति कहती है कि देव अविदित रहकर पालन नहीं करते हैं अतः साक्षात्कृत् देव ही पालक होते हैं। प्राणिमात्र के हृदय में सर्वाधिष्ठान परमानन्द स्वरूप भगवान् विराजमान हैं परन्तु उनको बिना जाने प्राणी संसार में भटक रहा है :—

"व्यापक ब्रह्म विरज अविनाशी।
सत चेतन घन आनन्द राशी॥
अस प्रभु अछत हृदय अविकारी।
फिरहिं जीव जग दीन दुखारी॥
आनन्द सिन्धु मध्य तव वासा।
बिनु जाने कत मरसि पियासा॥"

"त्वामात्मानं परं मत्वा परमात्मानमेव च।
आत्मा पुनर्बहिर्मृग्यः अहोऽज्ञजनताज्ञता॥"

आत्मा को देहादि समझकर, देहादि अन्य अनात्मा को आत्मा समझकर आत्मा के अन्वेषण के लिये बाहर भटकना जनता की अज्ञता ही है। केवल प्रपत्ति शब्द भी शरणागति का बोधक होता है परन्तु जहाँ शरण शब्द भी संनिहित हो वहाँ तो प्रपत्ति का अर्थ सम्यक् ज्ञान है 'शरणं प्रपद्ये', 'शरणं व्रज' इत्यादि स्थलों में शरण 'रक्षक' जानता हूँ शरण 'रक्षक' जानो। पद्, व्रज् आदि धातु ज्ञानार्थक हैं; जैसे रज्जु के ज्ञान से उसमें कल्पित सर्प एवं तज्जन्य भय मिट जाता है। उसी तरह ब्रह्मात्मतत्त्व ज्ञान से उसमें कल्पित संसार एवं तज्जनित भय की निवृत्ति हो जाती है। जैसे विज्ञात रज्जुतत्त्व भयनिवर्तक रक्षक होता है उसी तरह अविज्ञात ब्रह्म भय का कारण होता है। वही विज्ञात होकर संसारनिवर्तक रक्षक होता है। यही रक्षकरूप से विष्णु को जानना है। अथवा शरण का अर्थ आश्रय है, जैसे घटाकाश का आश्रय महाकाश होता है, तरङ्ग का आश्रय समुद्र जल होता है, उसी तरह उपाधिपरिच्छिन्न चैतन्यरूप जीव का आश्रय अनवच्छिन्न चैतन्यरूप ब्रह्म है। अतः सर्वाधिष्ठान स्वप्रकाश ब्रह्मरूप नित्य अपरोक्ष विष्णु को मैं अपना भयनिवर्तक रक्षकरूप से एवं आश्रय-रूप से निश्चय करता हूँ। यही शरणागति प्रपत्ति सर्वशास्त्रों का सार है—

"सकृदेव प्रपन्नाय, तमेव शरणं गच्छ, मामेकं शरणं व्रज,
मुमुक्षुवै शरणमहं प्रपद्ये, तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये"। इत्यादि।

हाँ, यह शरणागति अधिकारी के भेद से विभिन्न प्रकार की होती है। जीव प्रथम परोक्षरूप से ही प्रभु में विश्वास करके उन्हें अपने रक्षक के रूप से वरण करता है। पहले भगवान् के प्रति अपने आपको उनकी श्रुति, स्मृति, लक्षण आज्ञानुसार ठीक अनुकूल बनाने का सङ्कल्प करना, प्रतिकूलता का वर्जन करना, अर्थात् शास्त्रविरुद्ध देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि के सब व्यापारों को छोड़कर शास्त्रा-नुसार ही देहादि के व्यापारों को बनाना और भगवान् अवश्य रक्षा करेंगे, इस प्रकार का विश्वास करना, और प्रभु का रक्षकत्वेन वरण करना, प्रभु में ही आत्मसमर्पण करके तदधीन होकर दैन्यभाव से प्रभु का चिन्तन करना, यह छः प्रकार की शरणागति है।

आत्मसमर्पण में भी प्रथम भगवान् में आत्मा एवं आत्मीय देहादि का समर्पण होता है, परन्तु अन्त में जैसे घटाकाश अपने आप को उपाधिभङ्ग करके महाकाश में अर्पण करता है उसी तरह सर्वोपाधिबाध करके उपहित प्रत्यक् चैतन्य को अनन्त चैतन्य ब्रह्मस्वरूप प्रभु में अर्पण करना ही मुख्य आत्म-

समर्पण ठहरता है। जैसे घट एवं घटाकाश सभी आकाश से ही वायु आदि के क्रम से उत्पन्न होते हैं। अतः सबका आकाश में विलयन सम्भव है, उसी तरह ब्रह्मात्मतत्त्व से ही प्रतिभासित समष्टि, व्यष्टि, स्थूल, सूक्ष्म, कारणात्मक प्रपञ्च एवं तदुपहित चैतन्य सब का ही विलयन अनन्त चैतन्य में सम्भव होता है। प्रभु की अपरिच्छिन्नता एवं पूर्णता के लिये निजी पृथक् अस्तित्व को समाप्त करना सचमुच उत्तम त्याग है।

साधन, अभ्यास एवं पाक भेद से शरणागति तीन प्रकार की भी होती है। मैं प्रभु का हूँ इस प्रकार की निष्ठा 'साधन शरणागति' है। प्रभु मेरा ही है यह निष्ठा 'अभ्यास शरणागति' है। सर्वोपाधि सर्वपरिच्छेद शून्य प्रभु से भिन्न मेरा अस्तित्व नहीं है, वही मैं हूँ, वही तुम हो, वही सब कुछ है, यह निष्ठा 'पाक शरणागति' है। पहली का उदाहरण है:—

"सत्यपि भेदापगमे नाथ, तवाहं न मामकीनस्त्वम्।
सामुद्रो हि तरङ्गः क्वचन समुद्रो न तारङ्गः॥"

नाथ! मेरा आपका वास्तव भेद न होने पर भी मैं आपका हूँ आप मेरे नहीं। क्योंकि समुद्र तरङ्ग का अभेद होने पर भी समुद्र का तरङ्ग कहलाता है तरङ्ग का समुद्र नहीं कहलाता। दूसरी निष्ठा का उदाहरण है:—

"हस्तमुत्क्षिप्य यातोऽसि बलात्कृष्ण किमद्भुतम्।
हृदयाद्यदि चेद्यासि पौरुषं गणयामि ते॥"

प्रभो! आप सर्वशक्तिमान् हैं, मुझ से बलात् हाथ छुड़ाकर जा रहे हैं, यह कोई बड़ी बात नहीं, यदि आप मेरे हृदय से चले जायँ तो मैं आपका पौरुष मानूँ।

जैसे द्रवीभूत लाक्षा में निविष्ट रङ्ग उससे पृथक् नहीं हो सकता है इसी तरह द्रवीभूत भक्त के चित्त में प्रविष्ट भगवान् चाहें तो भी निकलने में असमर्थ ही रहते हैं। इस सम्बन्ध में भगवान् की अनन्त ब्रह्माण्डनायकता, सर्वज्ञता, सर्वशक्तिमत्ता कुण्ठितप्राय रहती है। तभी तो भक्त का आह्वान है— 'हृदयाद्यदि चेद्यासि पौरुषं गणयामि ते।'

तीसरी निष्ठा का उदाहरण है—

"वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः।
सकलमिदमहञ्च वासुदेवः॥"

सब कुछ भगवान् वासुदेव ही हैं। सब संसार तथा मैं सब भगवान् ही हैं। तत्त्वप्रबोध के प्रथम तत्त्वसाक्षात्कार आदि की कुछ कामना भी रहती है। तत्त्व-साक्षात्कार होने पर तो अत्यन्त निष्काम भाव से ज्ञानी प्रभु में भक्ति करता है। भक्ति के लिये ही आहार्यभेद ज्ञान से भगवान् का भजन होता है।

वस्तुतः तत्त्वप्रबोध के पहले ही द्वैतप्रपञ्च मोह का हेतु होता है। तत्त्वप्रबोध होने पर तो द्वैत अद्वैत से भी सुन्दर होता है।

"द्वैतं मोहाय बोधात्प्राक् जाते बोधे मनीषया।
भक्त्यर्थं भावितं द्वैतमद्वैतादपि सुन्दरम् ॥"

पारमार्थिक अद्वैतनिष्ठा होने पर भी भक्ति के लिये द्वैत का समाश्रयण हानिकारक नहीं होता—

"पारमार्थिकमद्वैतं द्वैतं भजनहेतवे,
तादृशी यदि भक्तिः स्यात्
सा तु मुक्तिशताधिका ॥"

प्रेयसी चाहे प्रियतम के उरस्थल पर क्रीड़ा करे, चाहे प्रेमपूर्वक पदयुग-परिचर्या में लीन रहे, दोनों ही अच्छा है। उसी तरह ज्ञानी चाहे अभेदनिष्ठ होकर समाहित हो, चाहे भजन में संलग्न रहे दोनों ही अच्छा है—

"प्रियतमहृदये वा खेलतु प्रेमरीत्या,
पदयुगपरिचर्यां प्रेयसी वा विधत्ताम्।
विहरतु विदितार्थो निर्विकल्पे समाधौ,
ननु भजनविधौ वा तुल्यमेतद्द्वयं स्यात् ॥"

इतना ही क्यों, तत्त्वविद् की भजननिष्ठा तो और महत्त्व की होती है। जैसे प्रियतम के साथ अत्यन्त अभिन्नहृदय होने पर भी व्यवहार में प्रेयसी घूँघट के व्यवधान से ही प्रियतम को निहारती है उसी तरह पूर्णतम पुरुषोत्तम से तादात्म्यानुभूति के अनन्तर भी तत्त्ववित् भक्तिभाव के साथ ही प्रभु की पूजा करता है।

"विश्वेश्वरोऽपि सुधिया गलितेऽपि भेदे।
भावेन भक्तिसहितेन समर्चनीयः॥
प्राणेश्वरश्चतुरया मिलितेऽपि चित्ते।
चैलाञ्चलव्यवहितेन निरीक्षणीयः ॥"

अस्तु इस तरह सगुण साकार, सगुण निराकार, तथा निर्गुण निराकार इन तीनों ही भगवान् के स्वरूप की शरणागति, ज्ञान तथा साक्षात्कार परम कल्याणकारी है। 'परमार्थसार' में निर्गुण निराकार ब्रह्म का ही प्राधान्येन वर्णन है, अतः तदनुरूप विशेषणों का उपादान है। अपने कार्यों की अपेक्षा प्रकृति पर है परन्तु परब्रह्म विष्णु उस प्रकृति के भी अधिष्ठान, भासक एवं नियामक होने से उससे भी पर हैं। प्रकृति की सत्ता और स्फूर्ति स्वतः सिद्ध नहीं है। उसमें सत्ता और स्फूर्ति देकर ब्रह्म ही उसका प्रेरक होता है। शक्तिमान् से पृथक् शक्ति की स्फूर्ति एवं सत्ता अप्रसिद्ध है ही। परब्रह्म सच्चिदानन्द एकरस होने पर भी अपनी मायाशक्ति का आश्रयण करके महदादिमय समष्टि, व्यष्टि, देह एवं तद्धर्मविशिष्ट होकर भासमान होता है।

यद्यपि ब्रह्म के समान ही प्रकृति भी अनादि है तथापि वह एक एवं स्वतन्त्र है, प्रकृति तो अनेकात्मक और अस्वतन्त्र है। प्रकृति अचेतन है। भगवान् चेतन हैं।

"अजामेकांलोहितशुक्लकृष्णां, बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः।
अजोह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः॥"

श्रुति के अनुसार प्रकृति भी अजा अनादि है। लोहित, शुक्ल, कृष्ण, अङ्गवाली है। त्रिगुणात्मिका प्रकृति में रञ्जनात्मक होने से रज लोहित, प्रकाशक होने से सत्व शुक्ल, तथा आवरणात्मक होने से तम कृष्ण रङ्ग का समझा जाता है। वह लोहित, शुक्ल, कृष्णा त्रिगुणा प्रकृति अपने समान रूपवाले ही त्रिगुणात्मक महदादि प्रपञ्च की सृष्टि करती है। अर्थात् महदादि रूप में स्वयं ही परिणत होती है। कुछ अज जीव उसी प्रकृति का उपभोग करते हुए उसका अनुगमन करते हैं। कुछ भाग्यशाली अज प्रकृति के द्वारा ही भोग अपवर्ग सम्पादन करके कृतार्थ होकर उससे विरक्त हो जाते हैं। कुछ लोग अविच्छिन्न पारम्पर्य होने के कारण क्षेत्र को ही अनादि प्रकृति कहते हैं। अनादि प्रपञ्चाध्यास ही अनादि प्रकृति है। इस पक्ष में 'अजामेकाम्' इस श्रुति के द्वारा रूपकविन्यास है, लोहित, शुक्ल, कृष्ण रङ्ग की कबरी बकरी का आरोप त्रिगुणात्मिका प्रकृति या तेज, अप्, अन्नस्वरूपा प्रकृति में किया गया है। जैसे कबरी बकरी अपने समान ही कबरे बच्चे पैदा करती है, उसी तरह त्रिगुणात्मिका प्रकृति त्रिगुणात्मक महदादि प्रपञ्च का निर्माण करती है। जैसे कुछ बकरे उस अजा का सेवन करते हुए अनुगमन करते हैं, कुछ उससे भोग

प्राप्त करके भुक्तभोगा अजा को छोड़ देते हैं, वैसे ही अकृतार्थ जीव प्रकृति के भोगों में आसक्त होकर उसका अनुसरण करते रहते हैं। परन्तु कोई धीर पुरुष प्रकृति द्वारा देहादि प्राप्त करके उसके उपयोगी भोग लेकर तथा उसी के द्वारा विवेक, विज्ञान तथा अपवर्ग प्राप्तकर उससे विरक्त हो जाते हैं। श्रुति महान् से अव्यक्त को और उस अव्यक्त से भी ब्रह्म को पर कहती है—'महतः परमव्यक्तमव्यक्तात् पुरुषःपर।'

वही अन्तिम है उससे पर और कुछ नहीं है—'पुरुषान्न परं किञ्चित् सा काष्ठा सा परागतिः।'

एक का अर्थ अद्वितीय भी है। अतः उसी की स्वतः सत्ता और स्वतः स्फूर्ति होती है—'अथ नित्यो देव एको नारायणः।' यह श्रुति भी नारायण को एक एवं नित्य कहती है।

कहा जाता है कि श्रुतियों में जीवों का बहुत्व ही स्पष्ट है फिर ब्रह्म का एकत्व कैसे सिद्ध होगा? परन्तु इसी लिये कहा गया है कि माया एवं तत्परिमाणभूत बुद्धिरूपा गुहा में प्रविष्ट होकर अनेक देव, मनुष्य आदि रूप से भासमान होने पर भी वस्तुतः एक ही हैं। माया दुर्ज्ञेय होती है। इसी लिये उसे गुहा कहते हैं। 'इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते', श्रुति कहती है इन्द्र-परमात्मा माया वृत्तियों से अनेक रूप में प्रतीत होता है।

फिर भी कहा जा सकता है यदि मायारूप उपाधि वास्तविक तत्त्व है तब तो फिर एकत्व असिद्ध ही है? परन्तु इसी का समाधान करने के लिये कहा गया है 'सर्वालयम्', अर्थात् सर्वप्रपञ्च का आत्मा अधिष्ठान है। उसी की सत्ता से उपाधियाँ भी सत्ता स्फूर्ति सम्पन्न होती हैं। अतः स्वतः उनका पृथक्त्व नहीं है। सर्वालय होते हुए सब चराचर में वही निविष्ट है। अर्थात् सब भूत अध्यस्त रूप से उसमें हैं और सबमें अधिष्ठान रूप से, कारण रूप से वही अनुस्यूत है।

एतावता ब्रह्मात्मैकत्व ही 'परमार्थसार' का विषय है। वही अज्ञात होकर विषय एवं विज्ञान होकर प्रयोजन है। उसका जिज्ञासु ही इसका अधिकारी है। ग्रंथ का विषय के साथ प्रतिपाद्य प्रतिपादक भाव सम्बन्ध है।

ब्रह्माण्ड पुराण में कहा गया है—

"स्थूलं विलाप्यकरणे करणं निदाने,
तत्कारणं करणकारणवर्जिते च।
इत्थं विलाप्य यमिनः प्रविशन्ति यत्र,
तं त्वां हरिं विमल बोधघनं नमामः" ॥

स्थूल प्रपञ्च को सूक्ष्म करणसमूह में, करणसमूह को कारण में, कारण को कार्यकारण वर्जित शुद्ध ब्रह्म में प्रविलीन करके जिस विमल बोधघन स्वरूप ब्रह्म में यति लोग प्रवेश करते हैं, उन हरि को मैं प्रणाम करता हूँ।

कहा जाता है यदि आत्मा ही ब्रह्म है तब तो सभी को 'मैं ब्रह्म हूँ', ऐसा अनुभव होना चाहिये। परन्तु लोगों को 'मैं मनुष्यादि हूँ' यही अनुभव होता है। इसका समाधान यही है कि विचार बिना किये ही उक्त अनुभव होता है।

"आत्माम्बुराशौ निखिलोऽपि लोको
मग्नोऽपि नाचामति नेक्षते च।
आश्चर्यमेतन्मृगतृष्णिकाभे
भवाम्बुराशौ रमते मृषैव" ॥२॥

सम्पूर्ण लोक (जीववर्ग) परमात्मास्वरूप अमृताम्भोधि में निमग्न होने पर भी 'नाचामति' उसका अनुभव नहीं करता और न उसपर विचार ही करता है, प्रत्युत मिथ्याभूत भवाम्बुराशि (संसार हेतुभूत देहादि) में भ्रान्ति से ही रमण करता है। अर्थात् उसी में आत्मबुद्धि करता है। यही आश्चर्य है। जो वस्तु सम्भव न होने पर भी भासमान होती है वह मायामात्र है। विष्णु के निज स्वरूप का तिरोधान करके रूपान्तर का प्रकाशन करनेवाली शक्ति ही माया है। यही माया प्रकृति है। उसके विवेक के साथ आत्मा के सम्बन्ध में जिज्ञासा किस प्रकार उदित होती है, इसी सम्बन्ध में कहा गया है—

"गर्भवाससम्भव जन्मजरामरणविप्रयोगाब्धौ।
जगदालोक्य निमग्नं, प्राह गुरुं प्राञ्जलिः शिष्यः" ॥३॥

साधक अपने आप और समस्त जीव लोक को गर्भगृह-वासप्राप्ति, जन्म, मरण एवं कलत्र पुत्र वित्तादि इष्ट विप्रयोग-समुद्र में निमग्न देख उत्तितीर्षा से किसी तत्त्वज्ञ गुरु से करबद्ध प्रश्न करता है। श्रुति भी कहती है कि ब्रह्मविज्ञान के लिये समित्पाणि होकर गुरु की शरण जाना चाहिये।

भाव यह है कि पूर्व के अनेक जन्मों में यज्ञ, दान, तप आदि कर्मों के अनुष्ठान से विशुद्धान्तःकरण साधक वेदान्त वाक्यों से विशिष्ट विचार बिना भी विधिपूर्वक साङ्ग वेदाध्ययन के माध्यम से इतना जान लेता है कि आत्मा ही नित्य है। तद्भिन्न सब अनित्य है। पुत्रकलत्रादि संसार सुखाभासमात्र हैं, वस्तुतः दुःख ही है। अतः सांसारिक सुखाभास से विरक्त एवं शम, दमादि से सम्पन्न होकर आत्मज्ञ जीवन्मुक्त के पास जाकर प्रश्न करता है—

"त्वं साङ्गवेदवेत्ता, भेत्ता, संशयगणस्य श्रुतवक्ता।
संसारार्णवतरणप्रश्नं, पृच्छाम्यहं भगवन्" ॥४॥

भगवन्! आप साङ्ग वेद के वेत्ता हैं और संशय समूह के भेत्ता भी हैं। साथ ही संपूर्ण वेदान्तार्थभूत आत्मतत्व के वक्ता हैं। अतः मैं संसार समुद्र की उत्तितीर्षा से प्रश्न पूछता हूँ।

"दीर्घेऽस्मिन् संसारे, संसरतः कस्य केन सम्बन्धः।
कर्म शुभाशुभफलदम् अनुभवति गतागतैरिह कः" ॥५॥

इस दीर्घ (अनादि) संसार में भटकते हुए संसारी प्राणियों का किस हेतु से संसार सम्बन्ध है। यदि संसार स्वाभाविक होता तब तो अग्नि की उष्णता के तुल्य उसकी निवृत्ति ही असम्भव होती। यदि सहेतुक सम्बन्ध है तब तो हेतु यदि सत्य है तो संसार भी सत्य होना चाहिये। फिर उसकी निवृत्ति कैसे? यदि असत्य है तब तो खपुष्पादि के तुल्य कार्यकारण भाव ही नहीं सम्पन्न हो सकेगा। इसी तरह लोकत्रय में शुभाशुभ फल देनेवाले कर्म का अनुभव कौन करता है? शुद्ध आत्मा का संसरण तो नहीं कहा जा सकता क्योंकि वह व्यापक एवं निरञ्जन है। अतः एक लोक से अन्य लोक की प्राप्ति एवं कर्मफल सम्बन्ध उसमें सम्भव नहीं। साङ्ख्ययोग, न्याय, वैशेषिक, पूर्वमीमांसा आदि शास्त्र आत्मा को व्यापक ही मानते हैं। मध्यम परिमाण एवं सङ्कोच विकासशाली मानने पर उसमें अनित्यता अवश्य प्रसक्त होगी। अणुपरिमाण आत्मा एवं सङ्कोच विकासशाली ज्ञान उसका गुण माना जायगा तो भी उसकी अनित्यता होगी। नित्यव्यापी ज्ञान गुण मानने पर तो उसी को आत्मा मानना उचित है।

अस्तु, व्यापक एवं असङ्ग आत्मा में संसार नहीं बन सकता। प्रकृति का भी संसरण नहीं हो सकता, क्योंकि वह अचेतन है। उसमें भोगादि सम्भव नहीं। अतः प्रकृतिमोहित प्राणी (जीव) कर्मगुणजालबद्ध होकर उसी तरह

संसारी बनता है जैसे कोशकार कृमि स्वनिर्मित कोश से निबद्ध होता है। यही कहा गया है—

"कर्मगुणजालबद्धो जीवः संसरति कोशकार इव।
मोहान्धकारगहनात्, तस्य कथं बन्धनान्मोक्षः" ॥६॥

जैसे उर्णनाभि (मकड़ी) स्वनिर्मित जाल द्वारा स्वयं निबद्ध होती है वैसे ही कर्मरज्जुमय जाल से बँधा हुआ, अथवा कर्म एवं सत्वादि गुणमय जाल से निबद्ध जीव संसरण करता है, और देहादि सम्बन्ध को प्राप्त करता है। अब यह प्रश्न उठता है कि यह जीव यदि परमेश्वर ही है तो मायातीत है—उसमें संसार बन नहीं सकता। यदि अन्य है तो एकत्वबोधक श्रुतियाँ बाधित होती हैं। यदि स्वमाया से जीवभाव को प्राप्त होकर पुरुष ही संसारी होता है तो मोहरूपी अन्धकार ही दुरुच्छेद बन्धन है, उससे किस प्रकार मोक्ष सम्भव है?

यदि कहा जाय कि गुणपुरुषविवेक ज्ञान से पुरुष में धर्माधर्म बन्धक न होंगे, तो यह भी कैसे? क्षेत्र क्षेत्रज्ञ विवेक का मोक्षफल कैसे? साथ ही गुणात्मिका प्रकृति एवं पुरुष क्या हैं।

"गुणपुरुषविभागज्ञे धर्माधर्मौ न बन्धकौ भवतः।
इति गदितपूर्ववाक्यैः प्रकृतिं पुरुषञ्च मे ब्रूहि" ॥७॥

मञ्जूषाकार आदि संसार को 'प्रवाह-न्याय' से ही अनादि मानते हैं। उनके अनुसार प्रकृति अध्यासरूपा अविद्या ही है, वह भी प्रवाहरूप से अनादि है। इस पक्ष में जीव भी सादि एवं जन्य है, पर उपाधिविशिष्ट रूप से। विशेष्यांश की दृष्टि से नित्य है। जैसे लोहस्थ अग्नि से अनेक विस्फुलिङ्ग अग्निकण उत्पन्न होते हैं वैसे ही ईश्वर से चित्कण जीव उत्पन्न होते हैं। जैसे एक ही दिनकर अनेक सलिलपूर्ण घटादि में प्रतिबिम्ब रूप से व्यवस्थित होता है, उसी तरह समस्त उपाधियों में परमात्मा व्यवस्थित है।

"यद्वद्दिनकर एको विभाति सलिलाशयेषु सर्वेषु।
तद्वत् सकलोपाधिष्ववस्थितो भाति परमात्मा" ॥८॥

इस प्रकार शिष्य के प्रश्न को सुनकर उत्तर देते हुए भगवान् जगदाधार शेष ने कहा—यद्यपि यह वक्तव्य विषय अत्यन्त गहन है तथापि तुम सावधान होकर सुनो।

"इत्याधारो भगवान्, पृष्टः शिष्येण तं स होवाच।
विदुषामप्यतिगहनम् वक्तव्यमिदं शृणु तथापि त्वम्॥
सत्यमिव जगदसत्यं, मूलप्रकृतेरिदं कृतं येन।
तं प्राणिपत्योपेन्द्रं वक्ष्ये परमार्थसारमिदम्"॥ ९॥

जिन्होंने अपनी मायाशक्तिरूप मूलप्रकृति के द्वारा सत्य के तुल्य प्रतीयमान इस असत्य जगत् को (सत्यवत्) रचा है, उन उपेन्द्र भगवान् विष्णु को श्रद्धा भक्तिपूर्वक प्रणाम करके मैं परमार्थसार अर्थात् उपनिषत् सार-सर्वस्व कहता हूँ।

सत्त्वासत्त्व विलक्षण अनिर्वचनीय मायाशक्ति से निर्मित होने के कारण जगत् भी अनिर्वचनीय है। सत् स्वरूप ब्रह्म की शक्ति सत् तथा अत्यन्तासत् से विलक्षण होने के कारण अनिर्वचनीय परन्तु अनादि है। दूसरे लोग ब्रह्म भिन्न सब वस्तु को ब्रह्म का कार्य ही मानते हैं। अतएव 'तदनन्यत्वमारम्भण शब्दादिभ्य' इस न्याय से सब की ब्रह्माभिन्नता सिद्ध होती है। दूसरे पक्ष के लोग शक्ति की सद्विलक्षणता से ही सत् की अद्वितीयता-सिद्धि मानते हैं।

"अव्यक्तादण्डमभूदण्डाद् ब्रह्मा ततः प्रजासर्गः।
मायामयी प्रवृत्तिः संह्रियत इयं पुनः क्रमशः"॥१०॥

साधिष्ठान प्रकृति या प्रकृतिविशिष्ट ब्रह्म से ईक्षणपूर्वक महदादि क्रमेण अण्ड की उत्पत्ति हुई। पुरुषानुप्रविष्ट उस अण्ड से ब्रह्मा की उत्पत्ति हुई। उसी ब्रह्मा से चराचर प्रजा की उत्पत्ति हुई। इसी प्रकार यह मायामयी अर्थात् मायोपाधिक पुरुषप्रकृति (कार्यसृष्टि) होती है। ईश्वरेच्छानुसार ही इसका उपसंहार होता है। यही बात—

नारायणः परोऽव्यक्तादण्डमव्यक्तसम्भवम्।
अण्डस्यान्तस्त्विमे लोकाः सप्तद्वीपा च मेदिनी॥

से कही गयी है। यहाँ स्वतन्त्र अव्यक्त से प्रपञ्चोत्पत्ति नहीं कही गयी है। इसी लिये—'सत्यमिव जगदसत्यं मूलप्रकृतेरिदं कृतं येन', इत्यादि पूर्व कथन सङ्गत होता है।

अतएव सांख्य का, स्वतन्त्र प्रकृति जगत्कर्त्री है, यह मत यहाँ अभिप्रेत नहीं है। किंतु स्वमाया शक्ति के द्वारा परमात्मा ही विश्वप्रपञ्च रूप से विवर्तित होता है यही कहा गया है। यही कारण है श्रुति आत्मा से आकाशादि प्रपञ्च की सृष्टि कहती है—'तस्माद् वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः'।

इस तरह प्रकृति मायाशक्ति एवं पुरुष शक्तिमान् ईश्वर ही सम्पूर्ण जगत् का कारण कहा गया है। एक ही पुरुष माया में प्रविष्ट हो 'अन्तर्यामी' होता है, मायाकार्य देहादि में प्रविष्ट होकर 'जीव' होता है। प्रथम आठ श्लोकों के द्वारा जीव का स्वरूप कहा गया है।

"मायामयोऽप्यचेता, गुणकरणगणः करोति कर्माणि।
तदधिष्ठाता देहः सचेतनोऽपि, न करोति किञ्चिदपि" ॥११॥

मायामय मायाशक्ति विशिष्ट परमेश्वर का विवर्तभूत कार्यकरण सङ्घात गुणों एवं करणों का समुदाय अचेतन होता हुआ भी विविध कर्मों का कर्ता होता है। उसका आश्रयभूत जीव चेतन होता हुआ भी कुछ नहीं करता है क्योंकि व्यापक चिदेकरस में चलन रूप कर्म नहीं हो सकता।

कहा जा सकता है अचेतन अतएव निश्चेष्ट कार्यकरण संघात की प्रवृत्ति कैसे बन सकती है। परन्तु इसका समाधान स्वयं ही भगवान् शेष करते हैं—

"यद्वदचेतनमपि सन्निकटस्थे, भ्रामके भ्रमति लोहम्।
तद्वत् करणसमूहश्चेष्टति चिदधिष्ठिते देहे" ॥१२॥

जैसे भ्रामक अयस्कान्त मणि के निकट रहने पर स्वतः अचेतन निश्चेष्ट भी लोह सचेष्ट होता है, उसी तरह देह के चिदधिष्ठित होने पर 'मैं मनुष्य हूँ' इस प्रकार चित् का देहादि के साथ आध्यासिक संसर्ग होने पर करणसमूह सचेष्ट होता है।

कहा जाता है कर्मों में आत्मा का साक्षात् कर्तृत्व नहीं। परन्तु हेतु कर्तृत्व कारण देहादि कर्तृत्व अर्थात् कारयितृत्व तो सिद्ध ही है। जिसके कारण देहादि में कर्तृत्व आता है उसे कारयिता तो कहा ही जा सकता है। परन्तु इसी का समाधान करते हुए भगवान् शेष कहते हैं—

"यद्वत् सवितर्य्युदिते, करोति कर्माणि जीवलोकोऽयम्।
न तानि करोति रविर्न कारयति तद्वदात्माऽपि" ॥१३॥

जैसे सम्पूर्ण जीवलोक सविता के उदित होने पर अपने अपने अभिमत कर्मों को करने लग जाता है। भगवान् सूर्य न उन कर्मों के कर्ता होते हैं और न कारयिता ही होते हैं। उसी तरह देह में आत्मा के प्रवेश या प्राकट्य होने मात्र से गुणकरणगण कर्म करने लगते हैं। आत्मा न उन कर्मों का कर्ता है और न कारयिता ही है। भगवद्गीता में भी यही कहा गया है—'नवद्वारे

पुरे देही नैव कुर्वन्न कारयन् ।' आत्मा देह में रहता हुआ भी कर्ता कारयिता नहीं होता है । 'न कर्त्तव्यं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः' आत्मा लोक के कर्तृत्व का स्रष्टा नहीं है और न कर्मों का ही स्रष्टा है अर्थात् न वह कारयिता है न कर्ता ही है ।

पञ्चम श्लोक में—'कर्म शुभाशुभफलदमनुभवति गतागतैरिह कः', इसके द्वारा यह प्रश्न उठाया गया है कि 'इन तीनों लोकों में लोक लोकान्तर गमनपूर्वक शुभ एवं अशुभ फलद कर्मों का अनुभव कौन करता है' । इसी के उत्तर में भगवान् शेष ने कहा है—

"मनसोऽहङ्कारविमूर्छितस्य चैतन्य बोधितस्येह ।
पुरुषाभिमान सुखदुःख, भावना भवति मूढस्य" ॥१४॥

इसका भाव यही है कि माया का कार्य मन स्वतः अचेतन होता हुआ भी स्वदातात्म्यापन्न आत्मचैतन्य से प्रकाशित होकर वस्तुतः 'अहं' प्रत्यय का आस्पद न होता हुआ भी 'अहं' प्रत्यय का आस्पद हो जाता है । इसी लिये 'पुरुषोऽहं', 'दुःखी अहं', 'सुखी अहं' आदि अभिमान होता है । फिर परिणाम यही निकलता है—

कर्त्ता भोक्ता द्रष्टास्मि कर्मणामुत्तमादीनाम् ।
इति तत् स्वभाव विमलोऽभिमन्यते सर्वगोऽप्यात्मा" ॥१५॥

अर्थात् यत चैतन्यानुप्रविष्ट मन को 'पुरुषोऽहं' आदि अभिमान होता है अतः स्वभावविमल सर्वगामी भी आत्मा—'मैं प्रमाता हूँ, मैं श्रौत स्मार्त्तलक्षण कर्मों का अनुष्ठाता हूँ, और स्वानुष्ठित कर्मों के फलों का भोक्ता हूँ' आदि अभिमानयुक्त होता है। यद्यपि सर्वव्यापक होने से आत्मा का विषय विशेष प्रमातृत्व, क्रमद्रष्टृत्व, और स्वभावविमल होने से कर्मानुष्ठातृत्व कर्मफलभोक्तृत्व सङ्गत नहीं होता, तथापि पुर्यष्टक (अविद्या, काम, कर्म, मन, ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय, प्राण, भूत) में तादात्म्याध्यास होने से इस ढङ्ग के सभी अध्यारोप आत्मा में सम्भव होते हैं ।

पुर्यष्टक तादात्म्याध्यास के क्रम से क्रमशः स्थूल देहसम्बन्ध द्वारा सुर, नर, आदि योनियाँ भी आत्मा को प्राप्त होती हैं। इसे स्पष्ट करने की दृष्टि से कहा—

"नानाविधवर्णानां वर्णं धत्ते यथाऽमलः स्फटिकः ।
तद्वदुपाधेर्गुणभावितस्य भावं विभुर्धत्ते" ॥१६॥

अर्थात् जैसे लोक में स्वच्छ स्फटिक स्वसंनिहित जपाकुसुम आदि के लौहित्य प्रतिबिम्ब से 'लोहितः स्फटिकः' इस प्रतीति का विषय होता है, वैसे ही आत्मा भी प्रकृति के द्वारा प्रकाशित देहादिलक्षण उपाधि के धर्म देवत्व, मनुष्यत्व आदि से उपेत प्रतीत होता है।

सर्वव्यापक भी आत्मा उपाधिवश से देह से देहान्तर में, लोक से लोकान्तर में जाता है। इसे भगवान् शेष उपपन्न करते हैं—

"गच्छति गच्छति सलिले, दिनकरबिम्बं स्थिते स्थितिं याति।
अन्तःकरणे गच्छति, गच्छत्यात्मापि तद्वदिह" ॥१७॥

जैसे इस लोक में जल प्रतिबिम्बित सूर्यबिम्ब चलनविशिष्ट जलक्रिया में चलता हुआ सा और स्थितिविशिष्ट जल में स्थित सा प्रतीत होता है, वैसे ही अन्तःकरण प्रतिबिम्बित आत्मा भी अन्तःकरण के चलन या स्थिति में चलता हुआ सा या स्थित सा प्रतीत होता है।

ऐसे ही आत्मा में दृश्यत्व, अदृश्यत्व भी उपाधि सम्बन्ध से ही हैं। इसे उपपन्न करते हुए कहा है—

"राहुरदृश्योऽपि यथा, शशिबिम्बस्थः प्रकाशते जगति।
सर्वगतोऽपि तथात्मा, बुद्धिस्थो दृश्यतामेति" ॥१८॥

जैसे तमःस्वभाव राहु स्वयं अदृश्य होता हुआ भी चन्द्रबिम्ब में प्रतिबिम्बित होने पर दृश्य हो जाता है, वैसे ही सर्वव्यापक अदृश्य आत्मा बुद्धि में प्रतिबिम्बित होकर दृश्य अर्थात् अहं प्रत्यय का विषय हो जाता है। भगवत्पाद श्री शङ्कराचार्य जी ने भी कहा है—'न तावदयमेकान्तेनाविषयः, अस्मत् प्रत्ययविषयत्वात्।'

अब यह प्रश्न उठ सकता है कि यदि आत्मा में प्रमातृत्व, कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि औपाधिक ही हैं तो उसका निजी वास्तव रूप क्या है? इसके उत्तर में भगवान् शेष ने कहा है—

"सर्वगतं निरुपममद्वैतं तच्चेतसा गम्यम्।
यद् बुद्धिगतं ब्रह्मोपलभ्यते शिष्य बोध्यं तत् ॥१९॥

अर्थात् हे शिष्य! यतः आत्मस्वरूप ब्रह्म बुद्धिगत होकर ही चित्त के द्वारा अस्मत् प्रत्यय विषयत्वेन उपलब्ध होता है, अतः यह देश, काल, वस्तु-

परिच्छेदशून्य, परमानन्द स्वरूप, एवं सजातीय, विजातीय, स्वगतभेदशून्य चिदेकरस है, यही समझना चाहिये।

अब उपर्युक्त कारिका में उपात्त बुद्धि शब्द से अन्तःकरणमात्र नहीं अपितु सूक्ष्म शरीर विवक्षित है, इसे इस कारिका से स्पष्ट करते हैं—

"बुद्धि मनोऽहङ्कारास् तन्मात्रेन्द्रियगणाश्च भूतगणः।
संसारसर्गपरिरक्षणक्षमाः प्राकृता हेयाः" ॥२०॥

अर्थात्, बुद्धि = महत्तत्व, मन = अन्तःकरण, अहङ्कार = अहंकार, तन्मात्रा = शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, इन्द्रियगण = पञ्च ज्ञानेन्द्रिय (श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, जिह्वा, घ्राण), पञ्चकर्मेन्द्रिय (वाक्, पाणि, पाद, पायु, उपस्थ), भूतगण = आकाश, वायु, तेज, जल, पृथ्वी आदि सभी प्राकृत तत्त्व संसार के सर्जन, उत्पादन एवं परिरक्षण के लिये मायाकल्पित हैं, अतः सर्वथा हेय हैं और पारमार्थिक वस्तु केवल ब्रह्म ही ज्ञेय है।

'धर्माधर्मौ सुखदुःख कल्पना स्वर्गनरकवासश्च।
उत्पत्तिनिधनवर्णाश्रमा न सन्तीह परमार्थे" ॥२१॥

जैसे स्फटिक में लौहित्य औपाधिक है वास्तविक नहीं, वैसे ही परमार्थतः आत्मतत्त्वविचार करने पर आत्मा में शुभ कर्म संस्काररूप धर्म, अशुभ कर्म संस्काररूप अधर्म, उनके फलभूत सुख, दुःख आदि की अनुभूति, सुख-दुःखानुभव के लिये स्वर्ग, नरकवास और धर्म एवं अधर्म के उद्भव स्थान इस लोक में उत्पत्ति, निधन, वर्ण, आश्रम आदि सभी कुछ वस्तुगत्या नहीं हैं।

इस पर यह प्रश्न स्वाभाविक है कि वस्तुगत्या असत् धर्म, अधर्म आदि का भान आत्मा में कैसे होता है। इस पर भगवान् शेष कहते हैं—

"मृगतृष्णायामुदकं, शुक्तौ रजतं, भुजङ्गमो रज्ज्वाम्।
तैमिरिकचन्द्रयुगवद् भ्रान्तं निखिलं जगद्रूपम्" ॥२२॥

जैसे मृगतृष्णा अर्थात् मरुभूमि में स्थित मध्याह्नकालीन सूर्य के रश्मि-मण्डल में जल की प्रतीति, शुक्ति में रजत की प्रतीति, रज्जु में सर्प की प्रतीति और चक्षुगत तिमिरदोष के कारण आकाश में चन्द्रयुगल की प्रतीति वास्तविक नहीं भ्रममात्र सिद्ध है, अतएव मिथ्या है। क्योंकि उसे सत्य मानने पर बाध की अनुपपत्ति, असत्य मानने पर प्रत्यक्ष भान की अनुपपत्ति, सत् असत् उभयरूप

मानने पर परस्पर व्याघात की आपत्ति होने से सत्य असत्य दोनों रूप से निर्वचन करने के अयोग्य ही मानना होगा, वैसे ही; नाम, रूप, क्रियात्मक समस्त जगत् भी भ्रममात्र सिद्ध है और अविद्यावशात् आत्मा में अध्यस्त है। मृगतृष्णा, शुक्ति में रजत आदि कई उदाहरणों का प्रदर्शन इसी लिये किया गया है कि उपर्युक्त रूप में जगत् की मिथ्यात्वप्रतीति कहीं अप्रसिद्ध न ठहर जाय। अपने यहाँ ब्रह्म से अतिरिक्त समस्त जगत् दृश्य होने से ही मृगतृष्णा आदि की तरह मिथ्या माना जाता है। 'अधिष्ठानभूत ब्रह्मतत्त्वज्ञान बाध्यता' ही मिथ्यात्व है।

अब यहाँ एक प्रश्न उठता है कि दृश्यत्व हेतु से समस्त जगत् में मिथ्यात्व सिद्ध किया जाता है। उसके अनुसार 'विवादास्पदं मिथ्या, दृश्यत्वात् मृगतृष्णिकोदकादिवत्' यही मिथ्यात्व के अनुमान का आकार है। यह अनुमान भी ब्रह्मातिरिक्त समस्त जगत् के अन्तर्गत होने से स्वयं भी मिथ्या है, ऐसी स्थिति में स्वव्याघात हुआ। इसके उत्तर में यही कहना है कि स्वव्याघातकता इष्ट ही है। जैसे ब्रह्म में समस्त द्वैत का प्रतिषेध करनेवाले 'नेह नानाऽस्ति किञ्चन' आदि आगम द्वैतप्रपञ्च में अन्तर्भूत स्वयं का भी निषेध करते हैं, वैसे ही अनुमान भी समस्त जगत् का मिथ्यात्व सिद्ध करता हुआ स्वयं भी मिथ्या सिद्ध होता है। इस ढङ्ग की स्वव्याघातकता लोक में भी स्पष्ट है। जल का नाशक अग्नि स्वयं का भी नाशक होता है। मिथ्या वस्तु तात्त्विक वस्तु का प्रत्यायक कैसे हो सकता है? यह प्रश्न तो उठ ही नहीं सकता क्योंकि अद्वैतवादियों की दृष्टि में तात्त्विक वस्तु एक आत्मा ही है और वह स्वयंप्रकाश होने से प्रमाणान्तर से स्वप्रत्यायन की अपेक्षा ही नहीं करता। आगम आदि प्रमाण तो मिथ्याभूत अविद्या का अपनयनमात्र करते हैं न कि तात्त्विक आत्मा का प्रत्यायन। मिथ्याभूत अविद्या का अपनयन तो मिथ्याभूत आगमादि प्रमाण से संभव ही है, क्योंकि लोक में स्वप्नदृष्ट मिथ्याभूत सिंह के द्वारा स्वाप्निक प्रपञ्च का समूल अपनयन स्पष्ट है।

इसके अतिरिक्त मिथ्याभूत वस्तु के द्वारा तत्त्वप्रत्यायन भी सम्भव है। लोक में स्पष्ट देखा जाता है कि दर्पणगत मुख प्रतिबिम्ब स्वयं मिथ्या होता हुआ भी तात्त्विक मुख के अवयव विशेषों का प्रत्यायक होता है, स्वाप्निक कामिनी-दर्शन से सम्पत्ति प्राप्ति का बोध होता है। जैसा कि इस वचन से स्पष्ट है—

'यदा कर्मसु काम्येषु स्त्रियं स्वप्नेषु पश्यति।
समृद्धिं तत्र जानीयात्.................॥'

अर्थात् काम्यकर्मानुष्ठान के समय स्वप्न में स्त्रीदर्शन अभीष्ट सिद्धि का बोधक समझना चाहिये। ऐसे ही प्रतिमा आदि में विष्णु आदि देवदृष्टि मिथ्या होती हुई भी तत्वज्ञान का कारण है इसे सभी मानते हैं। अतः प्रपञ्चमिथ्यात्वानुमान सर्वथा निर्दुष्ट है अन्यथा प्रपञ्च को तात्त्विक मानने पर मोक्ष का अत्यन्ताभाव ही प्रसक्त होगा जो कथमपि इष्ट नहीं है।

'अहं' प्रत्यय का विषय होने से आत्मा भी दृश्य है अतएव मिथ्या है। ऐसा नहीं कहा जा सकता क्योंकि आत्मा की 'अहं' प्रत्यय विषयता बुद्धि सम्बन्ध से औपाधिक है, वस्तु दृष्ट्या तो केवल आत्मा कभी भी 'अहं' प्रत्यय का विषय होता ही नहीं।

लोक में प्रति व्यक्ति सुखानुभव एवं दुःखानुभव में वैलक्षण्य प्रत्यक्ष उपलब्ध है। ऐसी स्थिति में सुख दुःख के अनुभविता आत्मा को प्रतिव्यक्ति विलक्षण नाना क्यों न माना जाय। इसका निराकरण करने की दृष्टि से प्रतिव्यक्ति परस्पर विलक्षण नाना आत्मा की प्रतीति को भ्रम सिद्ध करने के लिये भगवान् शेष ने कहा—

"यद्वद् दिनकर एको, विभाति सलिलाशयेषु सर्वेषु।
तद्वत् सकलोपाधिष्ववस्थितो भाति परमात्मा" ॥२३॥

जैसे एक ही सूर्य विभिन्न जलाशयों में अवस्थित होकर अनेकधा प्रतीत होते हैं वैसे ही कार्यकारण सङ्घातरूप विभिन्न उपाधियों में अवस्थित एक ही परमात्मा अनेकधा प्रतीत होते हैं। भगवती श्रुति भी कहती है—

'एको देवः सर्वभूतेषु गूढः, सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा'।
(श्वे० ६।११)

स्मृति भी—'एक एव तु भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थितः।
एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत्' ॥

इस तरह जब परमात्मा ही जीवात्मा रूप में प्रतिशरीर विद्यमान है तब 'मनुष्योऽहम्' यह बुद्धि सर्वथा भ्रान्तिपूर्ण ही है। इसे सिद्ध करते हुए भगवान् शेष ने कहा—

"खमिव घटादिष्वन्तर् बहिः स्थितं ब्रह्म सर्वपिण्डेषु।
देहेऽहमित्यनात्मनि, बुद्धिः संसारबन्धाय" ॥२४॥

जैसे घट आदि के भीतर बाहर आकाश वर्तमान है वैसे ही सभी देह के भीतर बाहर ब्रह्म विद्यमान है, अतः देह की अनात्मता स्वयं सिद्ध है। ऐसी स्थिति में अनात्मभूत देह में 'अहं मनुष्यः' 'अहं गौरः' आदि प्रतीति भ्रम है, और संसार का कारण है।

आत्मा का वस्तुतः स्वरूप है क्या ? इस पर भगवान् शेष की उक्ति है—

"सर्वविकल्पनहीनः, शुद्धो बुद्धोऽजरामरः शान्तः।
अमलः सकृद्विभातश्चेतन आत्मा खवद्व्यापी" ॥२५॥

सभी संशयों का साक्षी होने से आत्मा सभी विकल्पों (संशयों) से रहित है। त्वक्, मांस पिण्डादि से असंसक्त होने के कारण आत्मा शुद्ध है। जड़ होने से प्राणादि आत्मा नहीं है। आत्मा विशुद्ध बोधस्वरूप है। सुषुप्ति में मन नहीं रहता अतः वह विनश्वर है इसलिये वह आत्मा नहीं है। आत्मा अजर अमर है। अविच्छिन्न प्रवाह होने से बुद्धि सन्तान को भी आत्मा नहीं कहा जा सकता क्योंकि वह भी जन्मादि विकारवान् है और आत्मा सभी विकारों का द्रष्टा होने से निर्विकार है। संवृतिलक्षण मल से आवृत होने के कारण शून्य भी आत्मा नहीं हो सकता कारण आत्मा सभी आवरणों का साक्षी है। और वह नित्य ज्ञान रूप है। दृश्य घटादि से व्यतिरिक्त चेतन आत्मा परमात्मा ही है तथा सर्वदेश काल और वस्तुओं में अनुगत है।

"रस फाणित शर्करिका, गुड खण्डा विकृतयो यथैवेक्षोः।
तद्वदवस्था भेदाः, परमात्मन्येव बहुरूपाः ॥२६॥
विज्ञानान्तर्यामि, प्राण विराड् देह जाति पिण्डान्ताः।
व्यवहारा स्तस्यात्म न्येतेऽवस्था विशेषाः स्युः" ॥२७॥

जैसे गन्ने की रस, राब, शक्कर, गुड़, चीनी आदि अनेक विकृतियाँ होती हैं, वैसे ही एक ही परमात्मा में परस्परविलक्षण विज्ञान (चित् अचित् भेद को अप्राप्त ज्ञान), अन्तर्यामी (सर्वनियमनकर्ता), प्राण (माया में प्रतिबिम्बित जीव), विराट् देह (समष्टि शरीर), जाति पिण्ड (देवत्व-मनुष्यत्व-पशुत्व-पक्षित्वादि जातिभेदयुक्त व्यष्टि शरीर) आदि अवस्थाविशेष रूप व्यवहार होते हैं।

यदि सारा संसार भ्रान्तिमूलक है तो उसमें अर्थ क्रियाकारित्व कैसे होता है ? मृगतृष्णा में स्नान से किसी को सन्तोष नहीं हो सकता, इस आशंका पर कहते हैं कि—

"रज्ज्वां नास्ति भुजङ्गः, सर्पं भयं भवति हेतुना केन।
तद्वद् द्वैत विकल्प भ्रान्तिरविद्या न सत्यमिदम्" ॥२८॥

सर्पभ्रान्ति का अधिष्ठान रज्जु में सर्प नहीं है, क्योंकि (यह सर्प नहीं है, रस्सी है) इस उत्तर ज्ञान से सर्प का बाध होता है। फिर भी मिथ्यासर्प ज्ञान से भय, कम्पादि होता है अतः मिथ्या वस्तु में भी अर्थ क्रियाकारित्व होता है। मृगतृष्णा में उदक भ्रान्ति से भी पहले मन में आह्लाद होता है। इसी तरह द्वैत विकल्प भ्रान्ति अविद्या ही है तथापि उसमें अर्थ क्रियाकारित्व है; फिर भी वह सत्य नहीं है।

यह अविद्या क्या है? तथा उसका अधिष्ठान क्या है? इसपर कहते हैं—

"एतत्तदन्धकारं, यदनात्मन्यात्मता भ्रान्त्या।
न विदन्ति वासुदेवं, सर्वात्मानं नरा मूढाः" ॥२६॥

भ्रान्ति से अनात्मा देहादि में जो आत्मता ज्ञान है वही अविद्या है। उसी से आत्मतत्त्व जिज्ञासा शून्य पुरुष समस्त चराचर जगत् के अन्तरात्मा भगवान् वासुदेव को नहीं जानते।

फिर क्या अज्ञानमोहित पुरुष वासुदेव से अन्य हैं? इस पर कहते हैं—

"प्राणाद्यनन्त भेदै रात्मानं संवितत्य जालमिव।
संहरति वासुदेवः स्वविभूत्या क्रीडमान इव" ॥३०॥

भगवान् वासुदेव चिदेकरस ब्रह्म हैं, वे विहार की इच्छा से अन्तर्यामी ब्रह्मादि स्थावरान्त समष्टि व्यष्टि भेदों से, अपनी लीला शक्ति से अपने आप को जाल के समान फैलाकर पुनः अविद्या का विधूनन करके सबका संहार करते हैं।

"त्रिभिरेव विश्वतैजस, प्राज्ञैस्तैरादिमध्य निधनाख्यैः।
जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तै भ्रंमभूतैरछादितं तुर्यम्" ॥३१॥

जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्त इन तीन अवस्थाओं का सहारा लेकर विश्व, तैजस, प्राज्ञ इन तीन नामों द्वारा सृष्टि, स्थिति, संहार का उद्भावन कर भगवान् संहार करते हैं और भ्रमरूप इन सबके द्वारा तुर्य (चतुर्थ) भगवान् का स्वरूप आच्छादित है।

"मोहयतीवात्मानं, स्वमायया द्वैतरूपया देवः।
उपलभते स्वयमेवं, गुहागतं पुरुषमात्मानम्" ॥३२॥

के ध्यान करने पर आत्मा ध्यान करता हुआ सा, बुद्धि के विलास करने पर आत्मा विलास करता हुआ सा प्रतीत होता है, वस्तुतः आत्मा अकर्ता एवं अभोक्ता ही है।

कहा जाता है कि यदि देहसम्बन्ध कर्मनिमित्तक है तो अन्योन्याश्रय दोष होगा; क्योंकि देह के होने पर ही कर्म हो सकता है और कर्म होने पर ही देह हो सकता है, परन्तु यह ठीक नहीं क्योंकि—

"अन्य शरीरेण कृतं, कर्म भवेद्येन देह उत्पन्नः।
तदवश्यं भोक्तव्यं, भोगादेवक्षयोऽस्य निर्दिष्टः" ॥३८॥

जिस कर्म से देह उत्पन्न होता है वह कर्म अपने से प्राचीन अन्य शरीर से उत्पन्न होता है। उस देह का आरम्भक कर्म उससे प्राचीन देह द्वारा उत्पन्न होता है। अतः अन्योन्याश्रय दोष नहीं है। जैसे पूर्व पूर्व बीज से उत्तरोत्तर अंकुरों की उत्पत्ति होती है वैसे ही पूर्व पूर्व देहों से उत्तरोत्तर कर्मों की उत्पत्ति होती है। संसार बीजाङ्कुर प्रवाह के तुल्य अनादि ही है अतः अनवस्था दोष भी नहीं है। कर्मों का भोग से ही क्षय होता है इत्यादि शास्त्रों के आधार पर यही विदित होता है कि प्राचीन देहकृत कर्मों का फल उत्तरोत्तर देहों से भोगा जाता है। जिस कर्म से जो देह उत्पन्न होता है उस देह द्वारा उस कर्म का फल अवश्य ही भोगना पड़ता है ऐसा शास्त्रों का निर्देश है।

'नाभुक्तंक्षीयते कर्म कल्प कोटिशतैरपि'।

'अवश्यमेवभोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्'।

कहा जा सकता है कि फिर तो तत्त्वज्ञों को भी कर्मफल भोग अनिवार्य होगा? परन्तु ऐसा नहीं है, क्योंकि—

'प्राग्ज्ञानोत्पत्ति चितं, यत्कर्मज्ञान शिखिशिखालीढम्।
बीजमिवदहनदग्धं, जन्म समर्थं न तद्भवति" ॥३९॥

अर्थात् ज्ञानोत्पत्ति के पूर्व सञ्चित कर्म ज्ञानरूपी अग्नि की शिखा से जल जाता है। ज्ञान के द्वारा मूलाज्ञान का नाश होने से तन्मूलक कर्म निर्वीर्य होकर दग्ध बीज के तुल्य पुनर्जन्म रूप अंकुर पैदा नहीं कर सकता अतएव। भगवान् कहते हैं कि—'ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणिभस्मसात्कुरुतेऽर्जुन।' अर्थात् ज्ञानरूप अग्नि प्रारब्धभिन्न सभी सञ्चित् कर्मों को भस्म कर देता है।

फिर भी कहा जा सकता है कि ज्ञानोत्तर देहपातपर्यन्त क्रियमाण कर्मों से तत्त्वज्ञ का जन्मान्तर हो सकता है; परन्तु यह भी ठीक नहीं क्योंकि—

"ज्ञानोत्पत्तेरूर्ध्वं क्रियमाणं कर्म यत्तदपि नाम।
न श्लिष्यति कर्तारं, पुष्करपत्रं यथा वारि" ॥४०॥

अर्थात् ज्ञानोत्पत्ति से ऊर्ध्व क्रियमाण कर्म विद्वान् कर्ता को वैसे ही नहीं स्पर्श करता जैसे पुष्करपत्र को जल स्पर्श नहीं करता। श्रुति की भी यही सम्मति है कि जैसे कमलपत्र में जल का श्लेष नहीं होता वैसे ही विद्वान् में शुभाशुभ कर्मों का लेप नहीं होता।

ऐसा क्यों होता है, इसी का स्पष्टीकरण करते हुए भगवान् शेष कहते हैं कि—

"वाग्देहमानसैरिह, कर्मचयः क्रियत इति बुधाः प्राहुः।
एकोऽपि नाहमेषां, कर्ता तत्कर्मणामस्मि" ॥४१॥
"कर्मफलबीज नाशाज्जन्म विनाशो न चात्र सन्देहः।
बुद्धूवैवमपगततमाः, सवितेवाभाति भारूपः" ॥४२॥

व्यवहार में वाणी, देह एवं मन से ही कर्मों का सञ्चय किया जाता है ऐसा विद्वान् कहते हैं। विद्वान् समझता है कि मैं वाणी, देह, मन इनमें से एक भी नहीं हूँ। अतः कर्मों का कर्ता भी नहीं हूँ। कर्मफल का बीज कर्तृत्व ही है। जब विद्वान् में कर्तृत्व ही नहीं है तब फिर कर्मफलभूत जन्म कैसे हो सकता है? असङ्ग, अनन्त, निर्विकार, कूटस्थ ज्ञानरूप आत्मा में अज्ञान एवं तज्जनित भ्रान्ति से ही कर्तृत्व बन सकता है। ज्ञान होने पर कर्तृत्व एवं तत्फल जन्म का अभाव होना स्वाभाविक ही है। अतएव ऐसा समझकर मोहरहित होकर सविता के तुल्य नित्योदित अनस्तमित प्रकाशस्वरूप होकर सर्वोपरि विराजमान होता है।

ज्ञानोदय समकाल में कर्मों का नाश होता है या कालान्तर में; इस शङ्का का समाधान करते हुए भगवान् शेष कहते हैं कि—

"यद्वदिषीका तूलं, पवनोद्धूतं हि दशदिशो याति।
ब्रह्मणि तत्त्वज्ञानात्, तथैव कर्माणि तत्त्वविदः" ॥४३॥

जैसे काशपुष्प या मुंजपुष्प पवन से उद्धूत होकर दशों दिशाओं में इतस्ततः प्रलीन हो जाते हैं वैसे ही विद्वान् के कर्म भी तत्त्वज्ञान से ही नष्ट हो जाते हैं।

इस प्रकार स्वप्रकाश भगवान् द्वैतरूप अपनी माया से स्वयं अपने आपको मोहित सा करते हैं और स्वयं ही गुहागत (माया में छिपे हुए) परमात्म स्वरूप पुरुष को प्राप्त करते हैं।

भगवान् वासुदेव अपनी माया से विश्व की रचना करते हैं। परन्तु कहाँ, किस आधार पर सृष्टि करते और देखते हैं यह प्रश्न रह जाता है। इसी का उत्तर देते हुए भगवान् शेष कहते हैं—

"ज्वलनाद्धूमोद्गतिभि, र्विविधाकृतिरम्बरे यथाभाति।
तद्वद्विष्णौ सृष्टिः, स्वमायया द्वैतविस्तराभाति" ॥३३॥

जैसे अग्नि से धूमोद्गमों के द्वारा आकाश में सफेद, काली, पीली विविध प्रकार की आकृतियां प्रतीत होती हैं उसी प्रकार व्यापनशील विष्णुरूप परब्रह्म में ही द्वैतविस्तार रूप सृष्टि प्रतीत होती है। जैसे धूमनिर्मित आकृतियों का आश्रय होनेपर भी आकाश उनसे असंस्पृष्ट रहता है वैसे ही विष्णु विश्वप्रपञ्च का आश्रय होनेपर भी उससे असंस्पृष्ट ही रहता है। अन्य लोगों की दृष्टि में आकाश में जलरेखा एवं शिला में अंकुर के तुल्य केवल प्रतीति ही होती है विश्वकी उत्पत्ति नहीं होती।

कहा जाता है कि जाग्रदादि प्रपञ्च का द्रष्टा आत्मा परमेश्वर है यह कहना सङ्गत नहीं है क्योंकि जाग्रदादि प्रपञ्च का द्रष्टा आत्मा सात्त्विक, राजस, तामस आदि भेद से भिन्न होगा परन्तु परमेश्वर मायातीत होने से सत्त्वादि भेदशून्य नहीं होगा। इसी प्रश्न का समाधान करते हुए भगवान् शेष कहते हैं—

"शान्त इव मनसि शान्ते, हृष्टे हृष्ट इव मूढ इव मूढे।
व्यवहारस्थो न पुनः, परमार्थत ईश्वरो भवति" ॥३४॥

व्यवहार में स्थित जीवभाव को प्राप्त हुआ ईश्वर मन के शान्त (सात्त्विक) होनेपर शान्त सा, हृष्ट (राजस) होनेपर हृष्ट सा एवं मूढ़ (तामस) होने पर मूढ़ सा प्रतीत होता है। परमार्थतः गुण सभी दृश्य हैं, दृक्स्वरूप आत्मा से उनका सम्बन्ध नहीं हो सकता।

फिर भी कहा जाता है कि आत्मा सुख, दुःख, मोहों का अनुभव करता है अतः गुणों का सम्बन्ध होना अनिवार्य है। परन्तु यह ठीक नहीं क्योंकि—

"जलधर धूमोद्गतिभिर्मलिनीक्रियते यथा न गगनतलम्।
तद्वत्प्रकृतिविकारैरपरामृष्टः परः पुरुषः" ॥३५॥

जैसे बादलों एवं धूमों के उद्भूत होनेपर भी गगनतल उनसे मलिन नहीं होता क्योंकि आकाश असङ्ग स्वभाव का होता है, उसी तरह सुख, दुःख, मोह-रूप प्रकृति विकारों के प्रतीयमान होनेपर भी पुरुष जीव उनसे अपरामृष्ट असंसृष्ट ही रहता है क्योंकि वह वस्तुतः निरञ्जन सर्वोपाधि सम्बन्धशून्य परमात्म स्वरूप ही है।

कुछ लोग यह भी शङ्का करते हैं कि यदि सभी क्षेत्रों में एक ही क्षेत्रज्ञ है तो एक के अज्ञ होनेपर सबको अज्ञ एवं एक के दुःखी होने पर सबको दुखी होना चाहिये। यदि सभी क्षेत्रों में एक ही क्षेत्रज्ञ है तो एक के अज्ञ होनेपर सभी अज्ञ और एक के दुःखी होनेपर सभी दुःखी होने चाहिये, इस आशङ्का पर कहते हैं—

"एकस्मिन्नपि च घटे, धूमादि मलावृते शेषाः।
न भवन्ति मलोपेता, यद्वज्जीवोऽपि तद्वदिह" ॥३६॥

जैसे एक घटाकाश के धूमादि मलों से आवृत होनेपर भी शेष घटाकाश मलादि से आवृत नहीं होते वैसे ही एक जीव के अज्ञानादि से आवृत होनेपर भी शेष जीव अज्ञानादि से आवृत नहीं होते।

इस तरह जीवगत धर्माधर्म व्यावहारिक ही हैं, पारमार्थिक नहीं। परमार्थतः परमात्मस्वरूप ही जीव है यह कहा गया। गुण पुरुष विभाग जाननेवाले तत्त्व-विद् में धर्माधर्म किस प्रकार बन्धक नहीं होते हैं, इस प्रश्न का समाधान अगली दश आर्याओं द्वारा किया जाता है।

"देहेन्द्रियेषु नियताः कर्मगुणाः कुर्वते स्वभोगार्थम्।
नाहं कर्ता न ममेति, जानतः कर्म नैव बध्नाति" ॥३७॥

देह एवं इन्द्रियों में व्याप्त गुण (कार्यकरण सङ्घातरूप में परिणता त्रिगुणात्मिका प्रकृति) स्वभोगार्थ कर्म करते हैं। उन गुणों से विलक्षण असङ्ग कूटस्थ स्वभाव होने से मैं कर्ता नहीं हूँ और न कर्मफल मेरा भोग्य है, इस प्रकार जो आत्मा को जानता है उसे कर्म नहीं बाँधते। जो आत्मा की कार्यकरण सङ्घात रूपा जड़ प्रकृति है वही आत्मा के अनुप्रवेश या आत्म-चैतन्य छायापत्ति से स्वतन्त्र सी बनकर ऐहिक, आमुष्मिक विविध फलों की कामना से शुभाशुभ कर्म करती और वही इहलोक, परलोक में फल भी भोगती है। आत्मा में उसी प्रकृति के साथ तादात्म्याध्यास होने से कर्तृत्व, भोक्तृत्व की प्रतीति होती है। अतएव 'ध्यायतीव लेलायतीव' यह श्रुति कहती है कि बुद्धि

के ध्यान करने पर आत्मा ध्यान करता हुआ सा, बुद्धि के विलास करने पर आत्मा विलास करता हुआ सा प्रतीत होता है, वस्तुतः आत्मा अकर्ता एवं अभोक्ता ही है।

कहा जाता है कि यदि देहसम्बन्ध कर्मनिमित्तक है तो अन्योन्याश्रय दोष होगा; क्योंकि देह के होने पर ही कर्म हो सकता है और कर्म होने पर ही देह हो सकता है, परन्तु यह ठीक नहीं क्योंकि—

"अन्य शरीरेण कृतं, कर्म भवेद्येन देह उत्पन्नः।
तदवश्यं भोक्तव्यं, भोगादेवक्षयोऽस्य निर्दिष्टः" ॥३८॥

जिस कर्म से देह उत्पन्न होता है वह कर्म अपने से प्राचीन अन्य शरीर से उत्पन्न होता है। उस देह का आरम्भक कर्म उससे प्राचीन देह द्वारा उत्पन्न होता है। अतः अन्योन्याश्रय दोष नहीं है। जैसे पूर्व पूर्व बीज से उत्तरोत्तर अंकुरों की उत्पत्ति होती है वैसे ही पूर्व पूर्व देहों से उत्तरोत्तर कर्मों की उत्पत्ति होती है। संसार बीजाङ्कुर प्रवाह के तुल्य अनादि ही है अतः अनवस्था दोष भी नहीं है। कर्मों का भोग से ही क्षय होता है इत्यादि शास्त्रों के आधार पर यही विदित होता है कि प्राचीन देहकृत कर्मों का फल उत्तरोत्तर देहों से भोगा जाता है। जिस कर्म से जो देह उत्पन्न होता है उस देह द्वारा उस कर्म का फल अवश्य ही भोगना पड़ता है ऐसा शास्त्रों का निर्देश है।

'नाभुक्तंक्षीयते कर्म कल्प कोटिशतैरपि'।

'अवश्यमेवभोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्'।

कहा जा सकता है कि फिर तो तत्त्वज्ञों को भी कर्मफल भोग अनिवार्य होगा? परन्तु ऐसा नहीं है, क्योंकि—

'प्राग्ज्ञानोत्पत्ति चितं, यत्कर्मज्ञान शिखिशिखालीढम्।
बीजमिवदहनदग्धं, जन्म समर्थं न तद्भवति" ॥३९॥

अर्थात् ज्ञानोत्पत्ति के पूर्व सञ्चित कर्म ज्ञानरूपी अग्नि की शिखा से जल जाता है। ज्ञान के द्वारा मूलाज्ञान का नाश होने से तन्मूलक कर्म निर्वीर्य होकर दग्ध बीज के तुल्य पुनर्जन्म रूप अंकुर पैदा नहीं कर सकता अतएव। भगवान् कहते हैं कि—'ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणिभस्मसात्कुरुतेऽर्जुन।' अर्थात्, ज्ञानरूप अग्नि प्रारब्धभिन्न सभी सञ्चित कर्मों को भस्म कर देता है।

फिर भी कहा जा सकता है कि ज्ञानोत्तर देहपातपर्यन्त क्रियमाण कर्मों से तत्त्वज्ञ का जन्मान्तर हो सकता है; परन्तु यह भी ठीक नहीं क्योंकि—

"ज्ञानोत्पत्तेरूर्ध्वं क्रियमाणं कर्म यत्तदपि नाम।
न श्लिष्यति कर्तारं, पुष्करपत्रं यथा वारि" ॥४०॥

अर्थात् ज्ञानोत्पत्ति से ऊर्ध्व क्रियमाण कर्म विद्वान् कर्ता को वैसे ही नहीं स्पर्श करता जैसे पुष्करपत्र को जल स्पर्श नहीं करता। श्रुति की भी यही सम्मति है कि जैसे कमलपत्र में जल का श्लेप नहीं होता वैसे ही विद्वान् में शुभाशुभ कर्मों का लेप नहीं होता।

ऐसा क्यों होता है, इसी का स्पष्टीकरण करते हुए भगवान् शेष कहते हैं कि—

"वाग्देहमानसैरिह, कर्मचयः क्रियत इति बुधाः प्राहुः।
एकोऽपि नाहमेषां, कर्ता तत्कर्मणामस्मि" ॥४१॥
"कर्मफलबीज नाशाज्जन्म विनाशो न चात्र सन्देहः।
बुद्धवैवमपगततमाः, सवितेवाभाति भारूपः" ॥४२॥

व्यवहार में वाणी, देह एवं मन से ही कर्मों का सञ्चय किया जाता है ऐसा विद्वान् कहते हैं। विद्वान् समझता है कि मैं वाणी, देह, मन इनमें से एक भी नहीं हूँ। अतः कर्मों का कर्ता भी नहीं हूँ। कर्मफल का बीज कर्तृत्व ही है। जब विद्वान् में कर्तृत्व ही नहीं है तब फिर कर्मफलभूत जन्म कैसे हो सकता है? असङ्ग, अनन्त, निर्विकार, कूटस्थ ज्ञानरूप आत्मा में अज्ञान एवं तज्जनित भ्रान्ति से ही कर्तृत्व बन सकता है। ज्ञान होने पर कर्तृत्व एवं तत्फल जन्म का अभाव होना स्वाभाविक ही है। अतएव ऐसा समझकर मोहरहित होकर सविता के तुल्य नित्योदित अनस्तमित प्रकाशस्वरूप होकर सर्वोपरि विराजमान होता है।

ज्ञानोदय समकाल में कर्मों का नाश होता है या कालान्तर में; इस शङ्का का समाधान करते हुए भगवान् शेष कहते हैं कि—

"यद्वदिषीका तूलं, पवनोद्धूतं हि दशदिशो याति।
ब्रह्मणि तत्त्वज्ञानात्, तथैव कर्माणि तत्त्वविदः" ॥४३॥

जैसे काशपुष्प या मुंजपुष्प पवन से उद्धूत होकर दशों दिशाओं में इतस्ततः प्रलीन हो जाते हैं वैसे ही विद्वान् के कर्म भी तत्त्वज्ञान से ही नष्ट हो जाते हैं।

यहाँ सन्देह होता है कि क्या तत्त्वज्ञान होते ही विद्वान् का शरीर तत्काल नष्ट हो जाता है या कालान्तर में ? यदि तत्त्वज्ञान होते ही तत्त्वज्ञ का देहपात हो जाय तो उपदेश के लिये कोई तत्त्वज्ञ गुरु ही नहीं रहेगा; फिर उपदेश कौन करेगा और ब्रह्मविद्या का सम्प्रदाय कैसे चलेगा ? अतः पहला पक्ष ठीक नहीं। दूसरा पक्ष भी इसलिये ठीक नहीं कि विद्वान् के देह रहने से उसमें देहाभिमान भी होगा, फिर उसमें अनर्थप्राप्ति भी सम्भव है। परन्तु यह ठीक नहीं क्योंकि प्रारब्धवशात् तत्त्वज्ञान के पश्चात् भी कुछ काल तक देह रहता है। प्रारब्धातिरिक्त सञ्चित कर्मों का ही तत्त्वज्ञान से भस्मीभाव होता है, देहारम्भ के प्रारब्ध का नहीं कारण, वह तत्त्वज्ञान का उपजीव्य (कारण) होता है। जैसे पिता से उत्पन्न पुत्र पिता का हनन नहीं करता वैसे ही प्रारब्धकर्म जनित देहादि की सहायता से ही सम्पन्न श्रवण मननादिपूर्वक तत्त्वज्ञान अपने कारण प्रारब्धकर्म का विनाशक नहीं हो सकता। जैसे चापमुक्त बाण या बन्दूक से निकली गोली वेगशान्ति से ही शान्त होते हैं वैसे ही प्रारब्धकर्मों का फलभोग से ही क्षय होता है, फिर भी ब्रह्मात्मबोध होने के कारण देह रहने पर भी तत्त्वज्ञ को पहले के समान भ्रान्ति नहीं होती।

"क्षीरादुद्धृतमाज्यं, क्षिप्तं यद्वन्न पूर्ववत्तस्मिन्।
प्रकृति गुणेभ्यस्तद्वत् पृथक्कृतश्चेतनोनात्मा" ॥४४॥

जैसे दुग्ध से निकला हुआ घृत पुनः क्षीर में डालने पर भी पूर्ववत् नहीं होता, वैसे ही प्रकृति एवं उसके गुणों देहादिकों से पृथक् आत्मा का श्रुति, युक्ति द्वारा विवेचन हो जाने पर जीवात्मा परमात्मा ही हो जाता है। फिर कर्मशेषवशात् प्रकृति गुणों में रहता हुआ भी वह पूर्ववत् भ्रान्ति को नहीं प्राप्त होता।

परमात्म भाव को प्राप्त होकर चेतन आत्मा कैसे रहता है इसका निरूपण करते हैं।

"गुणमयमायागहनं, निर्धूय यथा तमः सहस्रांशुः।
बाह्याभ्यन्तरचारी, सैन्धव घनवद्भवेत्पुरुषः" ॥४५॥

जैसे सहस्रांशु सूर्य अन्धकार का विनाशकर बाह्याभ्यन्तरचारी स्वप्रकाश रूप से विराजता है, वैसे ही विद्वान् पुरुष गुणमय कार्यकरण सङ्घातरूप मायासंज्ञक अन्धकार को तत्त्वज्ञान के प्रभाव से नष्टकर बाह्याभ्यन्तर सञ्चारी सैन्धव घन के तुल्य चिदेकरस होकर रहता है। देहादि के भीतर रहता हुआ भी

देहादि से अनवच्छिन्न होकर बाह्याभ्यन्तर एक अखण्ड चैतन्य रूप में ही रहता है। जैसे सैन्धव (लवण) घन में भीतर बाहर लवण ही लवण रहता है वैसे ही भीतर बाहर एक अखण्ड चिद्रूप आत्मा ही रहता है।

कहा जाता है कि यदि आत्मा माया और तत्कार्यों से भिन्न है तो माया आदि आत्मा से भिन्न हैं ही, फिर आत्मा की अद्वितीयता कहाँ रही? परन्तु यह ठीक नहीं क्योंकि—

"यद्वद्देहोऽवयवा, मृदेव तस्या विकारजातानि।
तद्वत् स्थावरजङ्गममद्वैतं द्वैतवद्भाति" ॥४६॥

जैसे शिर, हाथ, पाँव आदि अवयव देह ही हैं, देह से पृथक् नहीं हैं तथापि देह उनसे अन्य है, तभी वह अवयवी कहा जाता है। जैसे मृत्तिका के विकार घटादि मृत्तिका ही हैं, उससे पृथक् नहीं हैं; फिर भी मृत्तिका उनसे पृथक् है तभी वह कारण है। उसी तरह स्थावर जङ्गम सम्पूर्ण जगत् में अद्वैत सदानन्द चिदेकरस ब्रह्म ही है; अद्वैत ब्रह्म ही द्वैतवत् प्रतीत होता है। ब्रह्म से भिन्न होकर द्वैत कुछ भी नहीं है। फिर ब्रह्म जगत् से अन्य ही है तभी वह सबका मूल कारण है। इस अद्वितीयता में कोई बाधा नहीं पड़ती।

पहले कहा है कि जैसे एक सूर्य विभिन्न जलाशयों में भासमान होता है वैसे ही एक परमात्मा नाना उपाधियों में अवस्थित प्रतीत होता है। उसी अंश का अनुवाद करते हुए अत्र जीव ब्रह्म का ऐक्यरूप वाक्यार्थ कहा जाता है।

"एकस्मात् क्षेत्रज्ञात् बहवः क्षेत्रज्ञजातयो जाताः।
लोहगतादिव दहनात्, समन्ततो विस्फुलिङ्गगणाः" ॥४७॥

जैसे लोह के साथ तादात्म्यापन्न अग्नि से चारो ओर अनेक चिनगारियाँ निकलती हैं, वैसे ही एक क्षेत्रज्ञ से सुर, नर, पशु, पक्षि, मत्स्य, कूर्म, सर्प, वृक्ष आदि भेद से बहुत क्षेत्रज्ञ जातियाँ उत्पन्न होती हैं। श्रुति ने भी कहा है कि जैसे अग्नि से विस्फुलिङ्ग निकलते हैं वैसे ही ब्रह्मात्मा से असंख्य आत्मा निकलते हैं—'यथाग्नेर्विस्फुलिङ्गा व्युच्चरन्ति एवमेव तस्मादात्मनः सर्व आत्मानो व्युच्चरन्ति।'—(बृ० २)

देव, मनुष्य, जलचर, खग, मृग, सरीसृप, वृक्ष; ये सात प्रकार की क्षेत्रज्ञ जातियाँ होती हैं। ६ लाख जलचर, २० लाख स्थावर, ११ लाख कृमि, १० लाख पक्षी, ३० लाख पशु और ४ लाख मनुष्य होते हैं।

"जलजा नवलक्षाणि स्थावरा लक्षविंशतिः।
कृमयो रुद्रलक्षाणि पक्षिणो दशलक्षकाः।
त्रिंशल्लक्षाणि पशवश्चतुर्लक्षाणि मानवाः॥"

सभी क्षेत्रों में स्थित क्षेत्रज्ञ मुख्य क्षेत्रज्ञ परमात्म स्वरूप ही हैं यही तत्त्वमस्यादि महावाक्यों का अर्थ है।

कहा जा सकता है कि फिर तो परमात्म स्वरूप क्षेत्रज्ञों का बन्ध और बन्ध-निवृत्तिरूप मोक्ष कैसे बन सकेगा ? परन्तु यह ठीक नहीं क्योंकि—

"ते गुणसङ्क्रमदोषात्, बद्धा इव धान्यजातयः स्वतुषैः।
जन्म लभन्ते तावद्, यावन्न ज्ञानवह्निना दग्धाः" ॥४८॥

अर्थात् क्षेत्रज्ञ (जीव) स्वतः मुक्त होते हुए भी गुण एवं तत्परिणामभूत क्षेत्रों के सङ्ग से वैसे ही बद्ध प्रतीत होते हैं जैसे जपाकुसुमादि उपाधि से स्फटिक में लौहित्य प्रतीत होता है। दोनों ही पारमार्थिक हैं। श्रुति भी कहती है कि विमुक्त आत्मा ही विमुक्त होता है—'विमुक्तश्च विमुच्यते।'

जैसे कोद्रव जाति का धान्य अपने से ही उद्भूत तुषों द्वारा बद्ध होता है वैसे ही क्षेत्रज्ञ भी स्वोद्भूत क्षेत्र के द्वारा बद्ध (स्वतः असंसृष्ट होनेपर भी बद्ध) होता है। तत्त्वविचार से ज्ञानाग्नि द्वारा जब तक अविद्या एवं तत्कार्य क्षेत्र का दाह नहीं होता तब तक जन्म प्राप्त होता रहता है। जैसे अग्नि द्वारा तुषदाह होनेपर धान्य अंकुरित नहीं होता वैसे ही ज्ञान से क्षेत्रबाध होने पर क्षेत्रज्ञ का भी पुनर्जन्म नहीं होता।

कहा जाता है कि ज्ञान अज्ञान का ही निवर्तक होता है, फिर बन्ध की निवृत्ति ज्ञान से कैसे होगी ! परन्तु यह ठीक नहीं क्योंकि बन्ध अज्ञानमय ही है।

"त्रिगुणा चैतन्यात्मनि, सर्वगतेऽवस्थिते खिलाधारे।
कुरुते सृष्टिमविद्या, सर्वत्र स्पृश्यते तया नात्मा" ॥४९॥

सत्त्व, रज, तम इन तीन गुणोंवाली प्रकृतिरूपा अविद्या सर्वगत, सर्वाधार, कूटस्थ बोधरूप आत्मा में प्रपञ्चसृष्टि करती है। अविद्या तमःशक्ति से आत्मस्वरूप का आच्छादन करती है और सत्त्वशक्ति से उसका प्रकाशन करती है—'सत्त्वं ज्ञानं रजः कर्म तमोऽज्ञानमिहोच्यते॥'

सृष्टि का आधार देहादि अवच्छिन्न आत्मा नहीं किन्तु अनवच्छिन्न सर्वगत ज्ञानरूप आत्मा है। इसी तरह क्षणिक विज्ञान सन्तान सृष्टि का आधार नहीं किन्तु कूटस्थ नित्य ज्ञानरूप आत्मा सृष्टि का आधार है। इसी दृष्टि से 'सर्वगते', 'अवस्थिते' इत्यादि विशेषण हैं। अखिलाधार सर्वद्रष्टा ही सर्वक्षेत्र प्रपञ्च सृष्टि का आधार एवं भासक है।

"यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः।
क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति..." ॥-(गी०)

जैसे सूर्य समस्त लोक का प्रकाशन करता है वैसे ही क्षेत्रज्ञ समस्त क्षेत्र का प्रकाशन करता है।

कहा जाता है कि प्रकाशस्वरूप आत्मा में अप्रकाशरूपा अविद्या कैसे रह सकती है?

"रज्ज्वां भुजङ्गहेतुः, प्रभवविनाशो यथा न स्तः।
जगदुत्पत्ति विनाशो, न च कारणमस्ति तद्वदिह" ॥५०॥

जैसे रज्जु में न तो सर्प का हेतु होता है और न तो सर्प का उत्पाद विनाश ही होता है, इसी तरह आत्मा में न जगत् का उत्पाद विनाश होता है न उसका हेतु ही होता है। जैसे रज्जु से भिन्न रज्जु में सर्प एवं सर्प का कारण न होने पर भी सर्प की प्रतीति भ्रान्ति से होती है, उसी तरह आत्मव्यतिरेकेण जगत् एवं जगत् का कारण आत्मा में न होने पर भी भ्रान्ति से आत्मा में जगत् की प्रतीति होती है। फलितार्थ यह है कि—

"जन्मविनाशनगमनागमन मलसम्बन्धवर्जितो नित्यम्।
आकाश इव घटादिषु, सर्वात्मा सर्वदोपेतः" ॥५१॥

सभी का आत्मा नित्य, जन्म विनाश, गमन-आगमन आदि मलसम्बन्ध-शून्य है, फिर भी घटादिकों में आकाश के तुल्य वह सब में सर्वदा व्यापक है।

कहा जाता है कि फिर तो बन्धमोक्ष के लिए प्रयास व्यर्थ ही होगा, परन्तु यह ठीक नहीं क्योंकि—

"कर्म शुभाशुभफल सुख, दुःखैर्योगो भवत्युपाधीनाम्।
तत्संसर्गाद्‌ बन्धस्तस्कर सङ्गादतस्करवत्" ॥५२॥

देह, वाणी, मन आदि उपाधियों का कर्म एवं शुभाशुभ फलरूप सुखदुःखादि से सम्बन्ध है। परन्तु यह ठीक नहीं, क्योंकि अविद्या कोई पारमार्थिक वस्तु नहीं

है। वह अविचारितरमणीय अपारमार्थिक वस्तु है। अतएव उससे आत्मा का स्पर्श नहीं होता। जैसे सूर्य में प्रकाशमान भी राहु सूर्य का स्पर्श नहीं करता उसी तरह अविद्या आत्मा में भासमान होने पर भी आत्मा का स्पर्श नहीं करती। इसी लिये वार्तिककार ने कहा है कि—

"अविद्यास्तीत्यविद्यायामेवासित्वा प्रकल्प्यते।
ब्रह्मद्वारास्त्वविद्येयं न कथञ्चन युज्यते॥"

अर्थात् अविद्या में बैठकर ही अविद्या के अस्तित्व की कल्पना की जा सकती है, ब्रह्म की दृष्टि में वह कथमपि उपपन्न नहीं होती। उलूकानुभवसिद्ध अन्धकार का आश्रय जैसे सूर्य होता है वैसे ही अज्ञानानुभवसिद्ध अविद्या ब्रह्म में रहती है अथवा अध्यासरूप अविद्या का आश्रय ब्रह्म होता है। अध्यास-कारण संस्कार रूप अविद्या का भी आश्रय वही हो सकता है।

कहा जाता है कि यदि अविद्या से आत्मा का स्पर्श नहीं होता तो अविद्या एवं तत्कार्यभूत प्रपञ्च की प्रतीति कैसे होगी? इसका समाधान करते हुए भगवान् शेष कहते हैं—उन उपाधियों का आत्मा के साथ तादात्माध्यासरूप सम्बन्ध होता है। उसी से आत्मा में बन्ध वैसे ही होता है जैसे तस्कर (चोर) के संसर्ग से अतस्कर (भले पुरुष) को भी बन्धभागी होना पड़ता है।

"देह गुण करण गोचर सङ्गात्पुरुषस्य यावदविभावः।
तावन्मायापाशैः संसारे बद्ध इव भाति"॥५३॥

देह (देहरूप में परिणत अव्यक्त, महान्, अहङ्कार एवं भूत), गुण (बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, प्रयत्न आदि), करण (इन्द्रियाँ), गोचर (शब्दादि विषय) इन उपाधियों के संग से जब तक पुरुष को उनमें आत्मत्वा-भिमान है तब तक मायापाशों से संसार में गर्भवासादि दुःखों से वह बद्ध होता है। यही सब क्षेत्र है—

"महाभूतान्यहङ्कारो बुद्धिरव्यक्तमेव च।
इन्द्रियाणि दशैकञ्च पञ्चेन्द्रियगोचराः॥
इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं संघातश्चेतना धृतिः।
एतत्क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम्॥"

महाभूत, अहङ्कार, बुद्धि (महत्तत्त्व), पञ्च ज्ञानेन्द्रिय, पञ्च कर्मेन्द्रिय, मन

एवं पञ्च शब्दादि विषय, इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, संघात, चेतना, धृति यही क्षेत्र हैं। इन्हीं के संग से बन्ध होता है।

"मातृ पितृ पुत्र बान्धव, धन भोग विभाग सम्मूढ़ः।
जन्म जरा मरणमये, चक्र इव भ्राम्यते जन्तुः" ॥५४॥

माता, पिता, पुत्र, बान्धव, धन एवं चन्दन वनितादि भोगों के विभागों में 'यह मेरी माता है, यह पिता है, यह पुत्र है, ये मेरे बान्धव हैं, यह मेरा धन है, ये मेरे भोग हैं', इस तरह मूढ़ होकर, भ्रान्त होकर जन्तु जन्ममरणमय संसार-चक्र में वैसे ही भ्रमण करता है जैसे कुलालचक्र में स्थित पिपीलादि भ्रमण करते हैं।

क्यों भ्रमण करते हैं? इसका उत्तर निम्नोक्त है—

"लोक व्यवहारकृतां, य इहाविद्यामुपासते मूढ़ाः।
ते जनन मरण धर्माणोऽन्धं तम एत्य खिद्यन्ते" ॥ ५५ ॥

'लोक्यत इति लोकः' इस व्युत्पत्ति के अनुसार लोक शब्द का अर्थ है कार्यकरण संघात। उसमें आत्मत्वाभिमान ही व्यवहार है। इस तरह कार्य-करण संघात में होनेवाले आत्मत्वाभिमान से जनित अविद्या की जो उपासना करते हैं, वे लोग पुनः अन्धंतम अविद्यामय देहान्तर को प्राप्तकर जनन मरण धर्मों के आश्रय होकर खिन्न होते हैं।

यह अप्रकाशात्मिका माया प्रकाशस्वरूप भगवान् में कैसे हो सकती है, इसका उत्तर यही है कि यह माया भगवान् का स्वभाव ही है।

"हिमफेन बुद्बुदा इव, जलस्य धूमो यथा वह्नेः।
तद्वत्स्वभावभूता, मायेयं कीर्तिता विष्णोः" ॥ ५६ ॥

यह संसार की हेतुभूत माया सर्वात्मस्वरूप विष्णु का स्वभावभूत है, अतः निसर्गसिद्ध है—'देवस्यैव स्वभावोऽयमात्मकामस्य का स्पृहा।'

जैसे हिम (बर्फ) फेन बुद्बुद जल का एवं धूम वह्नि का स्वभाव होता है वैसे ही प्रकृत में भी समझना चाहिये। जैसे निर्मल द्रवात्मक जल से कठिन श्वेतवर्ण हिमादि और प्रकाशात्मक वह्नि से अप्रकाशरूप धूम उत्पन्न होता है उसी तरह प्रकाशस्वरूप परमेश्वर से अप्रकाशरूपिणी माया उदित होती है। निबल्ये तम के बिना प्रकाश की प्रकाशता भी सिद्ध नहीं होती।

अथवा स्वमाया शक्ति का अवलम्बनकर परमेश्वर महदादि क्रम से ब्रह्माण्ड की सृष्टि करता है। उसके भीतर चतुर्दश भुवन की सृष्टि करता है। उनमें चराचर शरीरों का निर्माण करता है। परमेश्वर ही उन सबमें अन्तर्यामिरूप और जीवरूप से प्रविष्ट होकर विश्व का नियमन करता है और अपने नियम का अनतिक्रमण करते हुए सुखदुःख का अनुभव किस उद्देश्य से करता है, इस पर भगवान् शेष कहते हैं कि जैसे स्वभाव से ही जल का हिमफेनादि रूप से परिणाम होता है, जैसे वह्नि से धूम का प्रादुर्भाव होता है वैसे ही परमेश्वर से कार्यकारणात्मिका माया स्वभाव से ही प्रादुर्भूत होती है; वहाँ कोई प्रयोजन (उद्देश्य) नहीं है क्योंकि परमेश्वर आप्तकाम है। यहाँ माया शब्द से मायामयी विश्वसृष्टिरूप परमेश्वर की प्रवृत्ति कही गयी है। जैसे अग्नि में दाहिका शक्ति अग्नि से विलक्षण होती है, बीज में अंकुरोत्पादिनी शक्ति बीज से विलक्षण होती है उसी तरह ब्रह्म में होनेवाली अनन्तकोटि ब्रह्माण्डोत्पादिनी शक्ति ही माया है। यही अचिन्त्यशक्ति अविद्या अज्ञान आदि शब्दों से भी कही जाती है। वह सद्विलक्षण होने से ही मिथ्या कही जाती है। भ्रान्ति या अध्यास को मिथ्याज्ञान एवं अविद्या कहा जाता है।

उस शक्ति को ही मूल प्रकृति भी कह लिया जाता है। यह माया ईश्वर का स्वभाव होने पर भी अग्नि की उष्णता के तुल्य वस्तु स्वभाव नहीं है। किंतु सद्विलक्षण होने से बाध्य एवं अनिर्वचनीय है। अतएव अधिष्ठान ज्ञान से बाधित हो जाना भी उसका स्वभाव है। बुद्बुदादि जल के स्वभाव होने पर भी जैसे बाधित होते हैं, जल ही उनकी अपेक्षा अबाधित एवं सत्य होता है; उसी तरह सभी प्रपञ्च ब्रह्म का स्वभाव होने पर भी बाध्य होता है। सब की अपेक्षा ब्रह्म ही अत्यन्ताबाध्यरूप परम सत्य है।

इस प्रकार बन्ध आविद्यक होने से विद्या के द्वारा बाधित होता है। विद्या प्राप्ति का उपाय, विद्या का स्वरूप, तत्फलभूत जीवन्मुक्ति का स्वरूप, निम्नोक्त आर्याओं से कहा जाता है—

> "एवं द्वैतविकल्पां, भ्रमस्वरूपां विमोहिनीं मायाम्।
> उत्सृज्य सकलं निष्कलमद्वैतं भावयेद् ब्रह्म" ॥ ५७ ॥

इस प्रकार द्वैत की विकल्पना करनेवाली सर्वविमोहिनी भ्रमरूपा देहादि में आत्मबुद्धि को त्यागकर सकल ब्रह्म को निष्कल ब्रह्मरूप से ध्यान करना चाहिये। सकलरूप होने पर भी अर्थात् नामरूपात्मक प्रपञ्चरूप से भास-

मान होने पर भी वस्तुतः सच्चिदानन्द रूप से ही अवस्थित होने के कारण निष्कल ही है। जैसे अविद्या के द्वारा रज्जु सर्प, धारा, माला आदि रूप में भान होने पर भी वस्तुतः रज्जु ही रहती है, वैसे ही प्रकृत में भी समझना चाहिये। भ्रमरूप माया के द्वारा ही अद्वैत में द्वैत की कल्पना होती है और उसी में संसारभयरूप मोह उत्पन्न होता है। देहादि अनात्मा में होनेवाली आत्मबुद्धिरूप माया का त्याग करके सप्रपञ्च रूप से प्रतीत होनेवाले ब्रह्म में भी निष्प्रपञ्च अद्वैत ब्रह्म की ही भावना करनी चाहिये। उसका फल निम्नोक्त है—

"यद्वत् सलिले सलिलं, क्षीरे क्षीरं समीरणे वायुः।
तद्वद् ब्रह्मणि विमले, भावनया तन्मयत्वमुपयाति" ॥ ५८ ॥

जैसे महान् सरोवर जल में निःक्षिप्त कलशादि जल जल हो जल हो जाता है; प्रभूत क्षीर में निःक्षिप्त अल्प क्षीर जैसे तन्मय हो जाता है; जैसे बाह्य वायु में निक्षिप्त व्यजनादि संभूत वायु तन्मय हो जाता है; तद्वत् निष्प्रपञ्च ब्रह्म में आत्मबुद्धि से उपासना करने पर पुमान् ब्रह्ममय हो जाता है।

"इत्थं द्वैत समूहे, भावनया ब्रह्मभूयमुपयाते।
को मोहः कः शोकः, सर्वं ब्रह्मावलोकयतः" ॥ ५९ ॥

इस तरह ब्रह्मभावना के द्वारा द्वैत प्रपञ्च अद्वैत ब्रह्ममय हो जाता है अर्थात् द्वैतभ्रमप्रवाह नष्ट हो जाता है। सब कुछ ब्रह्म ही है, ब्रह्म से अन्य कुछ नहीं है, ऐसे ज्ञानवाले ब्रह्मज्ञानी के लिये कैसा मोह कैसा शोक? अर्थात् शोकमोहोपलक्षित संसार की ही निवृत्ति हो जाती है। श्रुति भी ब्रह्मात्मैकत्वदर्शी के लिये शोकमोहात्मक संसार की निवृत्ति कहती है।

कहा जाता है आत्मा की अभिव्यक्ति के मूल बुद्धि आदि उपाधियों का विलयन हो जाने पर फिर आत्मा का भी प्रकाश कैसे होगा? परन्तु यह ठीक नहीं क्योंकि—

"विगतोपाधिः स्फटिकः, स्वप्रभया भाति निर्मलो यद्वत्।
चिद्दीपः स्वप्रभया तथा विभातीह निरुपाधिः" ॥ ६० ॥

जैसे जवाकुसुमादि उपाधियों से रहित होकर निर्मल स्फटिक सित भास्वर-रूप अपनी प्रभा से ही भासमान होता है, उसी तरह निरुपाधिक चिन्मय दीप

स्वरूपभूत संविद् से ही प्रकाशमान होता है। जैसे उपाधि के बिना भी स्फटिक मणि भासमान होती है, वैसे ही बुद्धि आदि उपाधि के बिना भी स्वप्रकाश होने से आत्मा भासमान होता है। आत्मा सर्वविज्ञाता सर्वभासक है। सूर्यादि ज्योतियों का भी प्रकाश उसके ही अनुग्रह से होता है। यह श्रुति कहती है। यह भी उपाधिवशात् आत्मा का भान मानकर कहा गया है। वस्तुतस्तु कभी भी आत्मा का अन्य से भान नहीं होता है। अपितु उसका सदा ही स्वतः भान होता है। आत्मा निरञ्जन एवं असङ्ग है अतः उसका किसी से सम्बन्ध नहीं होता है। आत्मा व्यापक एवं असङ्ग है अतः वह एकत्र अवस्थित नहीं होने से चिदेकरस है।

"गुणगण करण शरीरप्राणैस्तन्मात्र जाति सुखदुःखैः।
अपरामृष्टो व्यापी चिद्रूपोऽयं सदा विमलः"॥ ६१॥

यह आत्मा सदा सत्वादि गुणों, इन्द्रियादि करणों, शरीर तथा प्राणापानादि प्राणों तथा तन्मात्राओं (शब्दादि विषयों), मनुष्यत्वादि जातियों एवं शुभाशुभ कर्म फलरूप सुख दुःखों से अपरामृष्ट (असंस्पृष्ट) एवं व्यापी ही रहता है। अतएव यह सदा ही विमल चिद्रूप ही रहता है। आकाश मनोगम्य होने से चिद्रूप नहीं है।

देह सम्बन्ध न होने से आत्मा में दर्शनादि क्रिया का कर्तृत्व नहीं बन सकता है।

"द्रष्टा श्रोता घ्राता स्पर्शयिता रसयिता ग्रहीता च।
देही देहेन्द्रियादिभी विवर्जितः स्यान्न कर्तासौ"॥ ६२॥

यह आत्मा देह सम्बन्ध को प्राप्त होकर श्रवण, घ्राण, रसना आदि इन्द्रियों तथा मन आदि उपाधिके संसर्ग से द्रष्टा, श्रोता, घ्राता, स्पर्शयिता आदि होता है। अतः देहेन्द्रियादि सम्बन्धरहित होकर कर्ता नहीं होता। अतः दर्शनादि क्रिया का कर्तारूप द्रष्टा भी नहीं होता। अतः श्रुति कहती है वह पाणिपादविहीन होने पर भी वेगवान् एवं ग्रहीता है। चक्षु एवं श्रोत्र से रहित होने पर भी द्रष्टा एवं श्रोता होता है। यह दर्शनादि अखण्ड संविद् रूप ही है। कर्तृत्वसाध्य क्रियारूप नहीं है। माया को त्यागकर ब्रह्म की भावना किस तरह करनी चाहिये यह कहा जा रहा है—

"एको नैकत्रावस्थितोऽहमैश्वर्य योगतो व्याप्तः।
आकाशवदखिलमिदं, न कश्चिदप्यत्र सन्देहः"॥६३॥

"आत्मैवेदं सर्वं, निष्कल सकलं यदैव भावयति।
मोह गहनाद्वियुक्तस् तदैव परमेश्वरीभूतः" ॥६४॥

यह सब कुछ आत्मा ही है। आत्मा की सत्ता एवं स्फूर्ति से भिन्न दृश्य की सत्ता स्फूर्ति नहीं है। जो कुछ भी दृश्य है वह दर्शनमात्र हो है। दर्शन द्रष्टा से भिन्न नहीं है। इसलिये बोधरूप द्रष्टा ही सब कुछ है—

"यदिदं दृश्यते किञ्चिद्दर्शनात्तन्न भिद्यते।
दर्शनं द्रष्टृतो नान्यद्, द्रष्टैव हि ततो जगत्" ॥

अतः सर्वात्मत्वरूप ऐश्वर्य के योग से मैं एक अद्वितीय, परम स्वतन्त्र आत्मा किसी एक देश, काल में अवस्थित नहीं हूँ, किन्तु अखिल द्वैतप्रपञ्च को व्याप्त होकर आकाशवत् सर्वदेश काल में अवस्थित हूँ।

यद्यपि आकाश वायुरूप नहीं होता अतः उसमें परिच्छेद होता है। तथापि व्यवहार दशा में कालपरिच्छेद एवं देशपरिच्छेद आकाश में नहीं होता है। इतने ही अंश में आकाश का दृष्टान्त ग्राह्य है। उपमान उपमेय का सर्वथा सादृश्य संभव नहीं होता। निष्प्रपञ्च होने पर भी ब्रह्म ही सप्रपञ्च रूप में प्रतीत होता है। जिस समय साधक उस ब्रह्म की स्वात्मरूप से उपासना करता है उसी समय मोहगहन अविद्यावन्ध से विमुक्त होकर परमेश्वर स्वरूप हो जाता है। ब्रह्म को जाननेवाला ब्रह्म ही होता है इसमें कोई सन्देह नहीं है। ब्रह्मोपासन साक्षात्बोध का जनक होता है फिर जन्मान्तर की अपेक्षा नहीं होती है।

कुछ लोग कहते हैं सब कुछ आत्मा ही है। यह कहना असंगत है। कारण इस सम्बन्ध में वादियों की बहुधा विप्रतिपत्तियाँ हैं। कुछ लोग पृथिव्यादि भूतचतुष्टय के कार्य चैतन्याश्रित शरीर को ही आत्मा मानते हैं। अतः आत्मा भी कार्य ही है। कार्य दूसरे कार्यों में एवं कारण में अनुगत नहीं है फिर उसे सर्वात्मा नहीं कहा जा सकता। कुछ लोग प्राण को ही आत्मा कहते हैं। इसी तरह इन्द्रियाँ भी आत्मा हैं। इन पक्षों में भी अननुगति के कारण सर्वात्मता संभव नहीं है। कोई अणु परिमाण आत्मा मानते हैं, कोई मध्यम परिमाण मानते हैं, कोई क्षणिक विज्ञान को ही आत्मा कहते हैं। विज्ञान भी परस्पर अव्याप्त होने से उसमें भी सर्वात्मता संभव नहीं है। कुछ लोग शून्य ही आत्मा है यह कहते हैं। इस पक्ष में व्यापक आत्मा, व्याप्य विश्व, व्यापन क्रिया आदि कुछ भी नहीं होता है। कुछ लोगों के अनुसार पृथिव्यादि के तुल्य

ज्ञानगुणक आत्मा नित्य एवं व्यापक है। वह प्रति शरीर भिन्न है एवं परमेश्वर से भी भिन्न है। वह अहम्प्रत्ययगम्य जड द्रव्य विशेष है। इस पक्ष में भी आत्माओं में परस्पर व्याप्ति न होने से सर्वात्मता संभव नहीं है। इसी तरह परमेश्वरप्रेरिता प्रकृति या परमाणु जगत् के कारण हैं, इस मत में निमित्तभूत कुविन्द कुलालादि की परस्पर में अव्याप्ति स्पष्ट ही है।

कुछ लोग विश्व को परमेश्वर का परिणाम कहते हैं। इस मत में ब्रह्म की सर्वात्मता संभव भी है, तो भी, जीव ब्रह्म का अंश है और भिन्न है अतः सर्वात्मता संभव नहीं है। जो औपनिषद् भी विश्व को ब्रह्माधिष्ठित माया का विवर्त मानते हैं उनके मत में भी प्रकृति की सर्वात्मता बन सकती है। पुरुष में वह नहीं संभव है क्योंकि कारण ही कार्य में अनुगत होता है। वस्तुतस्तु प्रकृति भी सर्वात्मा नहीं हो सकती है क्योंकि पुरुष तत्स्वरूप नहीं है, तस्मात् आत्मा ही सब कुछ है यह कहना संगत नहीं। परन्तु यह कथन भी ठीक नहीं क्योंकि स्व मायाशक्ति में अनुप्रविष्ट ब्रह्मात्मा ही भोक्ता, भोग्य एवं भोगमय प्रपञ्च रूप से विवर्तित होता है। यह 'रस फाणित शर्करिका', इत्यादि पद्य से कहा गया है। 'जन्माद्यस्य यत' ब्रह्मसूत्र से भी जगत्कारण होना ब्रह्म का लक्षण कहा गया है। 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' इत्यादि श्रुति से भी ब्रह्म को ही जगत् कारण कहा गया है। 'अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते' गीता में भी यही कहा गया है।

जैसे क्षणिक याग में स्वर्गसाधनता श्रुत है परन्तु कालान्तर में देहान्तरोपभोग्य फलसाधनता उसमें उपपन्न नहीं होती। अतः मध्य में अपूर्व की कल्पना की जाती है; वैसे ही चिदेकरसरूप कूटस्थ ब्रह्म का अनन्त चेत्यचेतनात्मक प्रपञ्चरूप में अवस्थान स्वतः नहीं बन सकता। अतः मध्य में माया को निमित्त माना जाता है। उपादानत्व अधिष्ठानभूत ब्रह्म में ही रहता है। जैसे अपूर्व द्वारा याग स्वर्गादि का जनक होता है वैसे ही माया द्वारा ब्रह्म जगत् का उपादान होता है। विमत प्रपञ्च का चेतन ही उपादान है क्योंकि वह कार्य है। स्वप्न प्रपञ्च इसमें दृष्टान्त है। यद्यपि घट, पटादि में कार्यत्व होने पर भी उसका चेतन उपादान नहीं है अतः हेतु व्यभिचारी कहा जा सकता है। परन्तु यह कथन निःसार है, क्योंकि घट, पटादि तो पक्षान्तर्गत ही है। इसके विपरीत यह कहा जा सकता है कि यदि प्रपञ्च चेतन का कार्य न हो तब तो उसमें कार्यत्व का निर्वाह ही नहीं हो सकता है। अचेतनप्रधान परमाणु आदि स्वयं अपने आप को भी नहीं जान सकते हैं। फिर उनके द्वारा

जगदुत्पादन कैसे हो सकता है ? अतः आत्मा ही जगत् का कारण है और वही सर्वात्मा है।

"यद्यत्सिद्धान्तागमतर्केषु प्रभुवन्ति रागान्धाः।
अनुमोदामस्तत्तेषां सर्वात्मवाद धिया" ॥६४॥

नाना सिद्धान्तों एवं तत्प्रतिपादक आगमों और तर्कों में रागान्ध लोग जो भी कहते हैं, सर्वात्मवाद की बुद्धि से हम सबका ही अनुमोदन करते हैं। शैव, वैष्णव, शाक्त, सौर, गाणपत्य आदि लोग अपने अपने सिद्धान्तों, आगमों, तर्कों में दृढ़ रागवान् हैं, अतः रागान्ध होने के कारण स्वपक्ष दोष एवं अन्य पक्ष के गुण प्रतीत ही नहीं होते, परन्तु सर्वात्मतावादी अद्वैती सबका अनुमोदन ही करता है क्योंकि सर्वात्मा भगवान् ही शिव, विष्णु, शक्ति, सूर्य, गणपति के रूप में उपास्य होते हैं। इतना ही क्यों कर्म, ईश्वर, पुरुष, प्रधान, परमाणु, शून्य, विज्ञान-सन्तान, सर्वानैकान्तस्वभावादि रूप में भी ब्रह्म ही परिलक्षित होता है। यही बात गौडपादाचार्य ने कही है।

"ख्याप्यमानामजातिं तैरनुमोदामहे वयम्।
विवदामो न तैः सार्धमविवादं निबोधत ॥"–(मा० का०)

परस्पर मदभेद के कारण एक दूसरे का खण्डनकर सभी वादी अजातवाद का ही रूपान्तर से समर्थन करते हैं। अजातवादी का अभीष्ट अजातवाद बिना विवाद अपने आप ही सिद्ध हो जाता है। श्री शङ्कराचार्य भी यही कहते हैं—

"वेदान्तैश्चाध्यात्मिक शास्त्रैश्च पुराणैः,
शास्त्रैश्चान्यैः सात्वततन्त्रैश्च यमीशम्।
दृष्टवन्तश्चेतसि बुद्ध्वा विविशुर्यम्,
तं संसारध्वान्तविनाशं हरिमीडे ॥"

उपनिषदों, आध्यात्मिक शास्त्रों, पुराणों तथा अन्य सात्वततन्त्रों से जिस तत्त्व को जानकर ध्यानकर जिसमें प्रवेश करते हैं उस संसारध्वान्त विनाशक हरि का मैं स्तवन करता हूँ।

कहा जा सकता है कि मीमांसकादि, शैवादि ब्रह्मबुद्धि से तत्त्व को नहीं जानते, वे तो कर्म आदि रूप से जानते हैं फिर उन्हें तत्तत्फल कैसे मिलेगा ? किन्तु इसका समाधान निम्नोक्त है—

"सर्वाकारो भगवानुपास्यते येन येन भावेन।
तं तं भावं भूत्वा, चिन्तामणिवत्समभ्येति" ॥६६॥

भगवान् सर्वात्मा होने से सर्वाकार हैं अतः जिस जिस आकार से वे उपासित होते हैं, चिन्तामणि के तुल्य वे उसी उसी आकार को प्राप्त होकर तत्तत्फल प्रदान करते हैं, स्वतः निराकार ही रहते हैं।

"तं यथायथोपासते तदेव भवति" ॥ श्रु० ॥
"ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्" ॥गी०॥

जो जिस रूप से भगवान् को प्रपन्न होते हैं भगवान् उसी रूप से उसको भजते हैं।

"नारायणमात्मानं, ज्ञात्वा सर्गस्थिति प्रलय हेतुम्।
सर्वज्ञः सर्वगतः, सर्वः सर्वेश्वरो भवति" ॥६७॥

नारायण ब्रह्मात्मा ही विश्व की सृष्टि, स्थिति, संहार का मुख्य कारण है। जो गुरु, देवता भक्तिमान् प्राणी अत्यन्त आदर सत्कारपूर्वक निरन्तर उपासना कर उसका साक्षात्कार कर लेता है वह नारायणरूप हो जाता है, अतः वह सर्वज्ञ, सर्वगत, सर्वेश्वर हो जाता है।

ब्रह्म के साक्षात्कार से क्या होता है इस पर भगवान् शेष कहते हैं—

"आत्मज्ञस्तरति शुचं यस्माद्विद्वान् बिभेति न कुतश्चित्।
मृत्योरपि मरणभयं, न भवत्यन्यत्कुतस्तस्य" ॥६८॥

आत्मज्ञ पुरुष सब शोक दुःख को पार कर जाता है। विद्वान् भगवान् को आत्मरूप से जानकर किसी से भी नहीं डरता। मृत्यु से मरने का भी डर उसे नहीं होता फिर अन्य भय किससे हो सकता है? वह ज्ञानी मृत्यु का भी मृत्यु हो जाता है। काल से सबको मरणभय होता है किन्तु ज्ञानी परकालरूप भगवान् ही हो जाता है, इसलिये उसे मरणभय नहीं होता, अन्य भय तो दूर ही है।

प्रकृति पुरुष का स्वरूप इससे स्पष्ट हो जाता है।

"क्षय वृद्धि, वध्य घातक, बन्धन मोक्षैर्विवर्जितं नित्यम्।
परमार्थतत्त्वमेतत्, यदतोऽन्यत् तदनृतं सर्वम्" ॥६९॥

वस्तुतः परमार्थतत्त्व क्षय, वृद्धि, वध्य, घातक, बन्ध, मोक्ष से विवर्जित है। इससे भिन्न सब अनृत ही है।

प्रकृति पुरुष का विवेक ज्ञानफल कहा जाता है—

"एवं प्रकृतिं पुरुषं, विज्ञाय निरस्त कल्पनाजालः।
आत्मारामः प्रशमं, समास्थितः केवलीभवति" ॥७०॥

इस प्रकार पुरुष को जानकर द्वैत भ्रान्तिमय प्रपञ्च का परित्यागकर, आत्मा में ही रमण करता हुआ स्वात्मा का ही अनुभव करता हुआ, प्रशम को प्राप्त होकर कैवल्य को प्राप्त हो जाता है।

प्रश्न होता है कि इस तरह पुरुष के मुक्त होने पर उसके देह, इन्द्रिय, प्राण, बुद्धि आदि उसी समय नष्ट हो जाते हैं या कुछ काल की प्रतीक्षा करते हैं। इसका समाधान करते हुए आचार्य कहते हैं—

"नल कदलि वेणु बाणा, नश्यन्ति यथा स्वपुष्पमासाद्य।
तद्वत्स्वभावभूताः स्वभावतां प्राप्य नश्यन्ति" ॥ ७१ ॥

नल (नरकुल), कदली (केला), वेणु (बांस) और बाण ये सब अपने (पुष्प) कार्यसंपादन करके नष्ट हो जाते हैं। ठीक उसी तरह स्वभाव (प्रकृति) से उद्भूत देहादि स्वभावता अपने भावता को प्राप्त होकर अर्थात् अपना अपना कार्य जनन करके नष्ट हो जाते हैं। 'स्वेषां सम्बन्धिनो भावा विकारा फलानि तेषां भावः स्वभावता तां प्राप्य स्वकार्यं कृत्वा विनश्यन्ति'। देहादि स्वसम्बन्धी फल भाव को प्राप्त करके नष्ट होते हैं फिर भी तत्काल न नष्ट होकर प्रारब्ध कर्मों की प्रतीक्षाकर प्रारब्धक्षय के अनन्तर नष्ट होते हैं। जैसे बाणवेग लक्ष्य भेदकर ही प्रशान्त होता है वैसे ही देहादि सम्बन्धी सुख दुःखादि फल देकर ही नष्ट होते हैं। यही श्रुति कहती है—'तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ सम्पत्स्ये'—(छा०)। ज्ञानी पुरुष की ब्रह्म सम्पत्ति में उतना ही विलम्ब है जब तक प्रारब्ध कर्म से छुटकारा नहीं मिलता। प्रारब्ध कर्म क्षय के अनन्तर ज्ञानी ब्रह्मभाव को प्राप्त हो जाता है।

प्रश्न होता है कि देहादिरूप प्रकृति को अनात्मरूप से त्यागकर कैवल्य को प्राप्त हुआ पुमान् किं रूप होता है। इसी का उत्तर देते हुए परमाचार्य कहते हैं—

"भिन्नेऽज्ञानग्रन्थौ, छिन्ने संशयगणे शुभे क्षीणे।
दग्धे च जन्म बीजे, परमात्ममानं हरिं याति" ॥७२॥

आत्मा के अज्ञान से बनी हुई अज्ञानग्रन्थि रूप देहादि अभिमान के प्रकृति पुरुष विभागज्ञान द्वारा नष्ट होने पर एवं देहादि व्यतिरिक्त आत्मा है

या नहीं, आत्मा ईश्वर रूप ही है या उससे भिन्न है, एक है या अनेक है, ईश्वर सर्वदेहियों में ही रहता है या कैलाश, वैकुण्ठ, क्षीर-सिन्धु, प्राची-प्रतीची, ऊर्ध्व अधः आदि दिशाओं में रहता है, इत्यादि संशयगण नष्ट हो जाते हैं। श्रुति ने कहा है—

'आत्मस्थमात्मनमजं न दृष्ट्वा,
भ्रमन्ति मूढा गिरि गह्वरेषु।
पश्चादुदग् दक्षिणतः पुरस्ता—
दधः स्विदासीदुपरिस्विदासीत्' ॥

अपने में ही स्थित अज आत्मा को न जानकर मूढ आत्मा को ढूँढ़ने के लिये गिरि गह्वरों में भटकते हैं। पश्चिम, दक्षिण, पूर्व एवं ऊपर-नीचे उसे ढूँढ़ते हैं और आत्मतत्व के साक्षात् अपरोक्ष अनुभव हो जाने पर शुभाशुभ कर्म क्षीण हो जाते हैं। यहाँ शुभ से शुभाशुभ सभी कर्म विवक्षित हैं।

अज्ञानरूपी कारण तत्वज्ञान से नष्ट होता है तब तत्कार्य शुभाशुभ कर्मों का विलयन हो ही जाता है। अतएव पुनर्जन्म के बीज कर्म क्लेश आदि के दग्ध होने पर देही अपने परम आत्मस्वरूप हरि को ही प्राप्त हो जाता है। श्रुति कहती है—एक आत्मा ही यह सब कुछ था, उससे भिन्न स्वतंत्र सत्तावाली कुछ भी वस्तु नहीं थी। यह भी श्रुति ही कहती है—परावर ब्रह्म का दर्शन हो जाने पर हृदयग्रंथि भिन्न हो जाती है, सब संशय क्षीण हो जाते हैं और इस ज्ञानी के पूर्वकृत सभी कर्म क्षीण हो जाते हैं; यही कैवल्य पद प्राप्ति है।

सन्देह होता है कि क्या मनुष्यदेह से पृथक् किसी अन्य देह को प्राप्त करके ज्ञानी मुक्त होता है या इसी देह से, और यहाँ ही मुक्त होता है या किसी देशान्तर को प्राप्त होकर मुक्त होता है। इसीका समाधान करते हुए भगवान् शेष कहते हैं—

"मोक्षस्य नैव किञ्चिद्धामास्ति न चापि गमनमन्यत्र।
अज्ञानमय ग्रन्थे, भेदो यस्तं विदुर्मोक्षम्" ॥७३॥

मोक्ष की उत्पत्ति का इस देह से अन्य कोई धाम (खास शरीर) नहीं, और न मोक्ष के लिये कहीं जाना पड़ता है। श्रुति कहती है—'तद्यो यो देवानां प्रत्यबुद्धयत् स एव तदभवत् तथर्षीणां तथा मनुष्याणाम्'।

देवों, मनुष्यों तथा ऋषियों में जो जो उस ब्रह्म को स्वात्मरूप से जान लेता है वह ब्रह्म ही हो जाता है। किन्तु बन्ध हेतुभूत अज्ञानमय ग्रन्थि का जो भेद (विनाश) है उसी को तत्वज्ञ लोग मोक्ष कहते हैं। उस मोक्ष की सिद्धि में तत्वज्ञान से भिन्न देहान्तर या देशान्तर कुछ भी अपेक्षित नहीं है।

चार्वाक आदि मरण को ही मोक्ष मानते हैं। परन्तु स्वनाशरूप मरण पुरुषार्थ नहीं हो सकता है। जैन सतत् ऊर्ध्व गमन को ही मोक्ष मानते हैं। सतत् अधोगमन के तुल्य वह भी प्रयासात्मक ही होने से पुरुषार्थ नहीं हो सकता। इसी तरह विशुद्ध विज्ञान सन्तान का उदय मोक्ष है। यह भी पक्ष ठीक नहीं क्योंकि मोक्ष साधनानुष्ठान करनेवाला विषयोपरक्त विज्ञान सन्तान है वह तो नष्ट ही हो जायगा। फिर मोक्षफल किसको होगा। इस तरह अकृताभ्यागम-कृत विप्रणाश दोष भी इस पक्ष में होगा। इसके अतिरिक्त विषयोपराग न रहने से भेदकाभावात् संतानरूपता भी नहीं सिद्ध होगी। प्रत्येक विज्ञान क्षण-भंगुर ही है फिर संतानोदय क्या होगा? इसी तरह सर्वशून्यता लाभ भी मोक्ष नहीं हो सकता है। यदि शून्य स्वप्रकाश है तब तो वह सद्रूप होने से शून्य नहीं रहा, यदि स्वप्रकाश नहीं है तो उसका साधक प्रमाण न होने से वह अनुपपन्न है।

नैयायिक कहते हैं बुद्धि आदि नव गुणों को त्यागकर जो आत्मा की स्थिति है वही मोक्ष है। परन्तु इस मत में पाषाणादि तुल्य जड़ताप्राप्तिरूप मोक्ष पुरुषार्थ नहीं हो सकता। जैसे परमेश्वर में इच्छा, ज्ञान, क्रियावत्ता होती है वैसे ही जीव में भी वह क्यों न होगी? निरीश्वर सांख्य के अनुसार प्रकृति-पुरुष विवेक ही मोक्ष है। परन्तु यह भी ठीक नहीं क्योंकि मोक्ष में प्रकृति का दर्शन होता ही नहीं, फिर विवेक क्या होगा? यदि उसका दर्शन हो तब तो पुनः बन्धप्राप्ति प्रसंग होगा। सेश्वरवादि सांख्य के अनुसार क्षेत्रज्ञ का ईश्वरसायुज्य ही मोक्ष है। परन्तु यह भी ठीक नहीं, जो प्रथम अनीश्वर था उसका ईश्वर होना यदि मोक्ष है तब तो कादाचित्क होने से नित्यता एवं पुरुषार्थता उसमें उपपन्न नहीं होती। अकृताभ्यागमादि दोष भी इस पक्ष में होंगे। आत्मा की स्वरूप से अवस्थिति मोक्ष है यह कर्म मीमांसकों का मत है। इस पक्ष में भी प्रथम स्वरूप से अनवस्थिति, मोक्ष में अवस्थिति होने से मोक्ष आगन्तुक ठहरेगा। यदि पहले भी स्वरूपस्थिति मान्य हो तब तो संसार दशा में कर्तव्यता का अभाव उपस्थित होगा। पाशुपत परमशिव साम्य ही

को मोक्ष कहते हैं। यहाँ विचारणीय है कि साम्य क्या है। यदि सर्वज्ञान क्रिया-शक्तिता ईश्वर जैसे जीव में आनी समता है, तो यह भी ठीक नहीं कारण सर्वात्मता हुए बिना सर्वज्ञान क्रिया शक्तिमत्ता सिद्ध नहीं होती। यदि सर्वात्मता भी जीवों में आ जाती हो तब तो परमशिवता ही जीवों में आ गयी, फिर समता कैसी। यदि कहा जाय कि आणव, मायिक, कार्मिक, मलशून्य होना ही समत्व है, तो यह भी ठीक नहीं क्योंकि ज्ञातृत्वस्वभावता, भेदशून्यता, बन्धशून्यता बिना मलत्रयराहित्य संभव ही नहीं। यदि उक्त लक्षण जीव में मान्य है तब तो फिर वह भी परमेश्वर ही होगा, फिर समता असंगत ही होगी।

इसी तरह सात्वत लोग मानते हैं कि वासुदेवादि चतुर्व्यूह भगवान् का सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य, सायुज्य प्राप्ति ही मोक्ष है। इस पक्ष में भी यही कहना है कि यदि सालोक्यादि प्रथम नहीं था तो अब उसका सत्व कैसे होगा। यदि पहले भी था तो उसकी सिद्धि के लिये प्रयास व्यर्थ है। भले व्यवहार दशा में उक्त पक्ष उपपन्न हो परन्तु परमार्थ दशा में तो ब्रह्मात्मैक्य साक्षात्कार से अज्ञान की उपशान्ति ही मोक्ष है। यही गीता कहती है—ज्ञान स्वरूप आत्मा अज्ञान से आवृत है। ज्ञान से जिसका अज्ञान नष्ट हो गया हो उन तत्पर साधकों के लिये आदित्य के तुल्य स्वप्रकाश ज्ञानस्वरूप आत्मा व्यक्त हो जाता है।

"अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः" ।।–(गीता)

"ज्ञानेन तु तदज्ञानं, येषां नाशितमात्मनः।
तेषामादित्यवज्ज्ञानं, प्रकाशयति तत्परम्" ॥–(गीता)

"तद्बुद्धयस्तदात्मानस् तन्निष्ठास्तत्परायणाः।
गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूत कल्मषाः" ॥–(गीता)

इत्यादि वचनों के आधार पर अविद्यानिवृत्ति ही मोक्ष कहा गया है। विमत प्रपञ्च आत्मज्ञान से ही निवर्त्य है क्योंकि वह स्वाप्न गज के तुल्य अज्ञान का विलास ही है। फिर भी कहा जाता है कि अविद्यानिवृत्ति यदि सती है तब तो वह भी आत्मा के समान ही नित्य होगी, फिर वह साध्य कैसे होगी? यदि असती है तब तो वह ज्ञान का फल नहीं हो सकती। सद् असद् दोनों रूप है यह भी कहना संभव नहीं है क्योंकि सत् असत् का परस्पर विरोध होने से एकत्र अवस्थिति नहीं हो सकती। सदसद्विलक्षणा अविद्यानिवृत्ति है यह

कथन भी संगत नहीं है, क्योंकि वैसी तो अविद्या ही होती है और वह निवर्त्य होती है। इस तरह तो अविद्यानिवृत्ति रूप मोक्ष भी निवर्त्य ही ठहरेगा।

सदसदादि चतुष्कोटि विनिर्मुक्त अविद्यानिवृत्ति है यह कहा जाय तो वह शून्यरूप ही ठहरेगा। परन्तु यह ठीक नहीं क्योंकि वस्तुतः सत्प्रतियोगी असत् ही शून्य पदार्थ होता है। सदसद्विलक्षण अविद्याप्रतियोगिक जो अविद्यानिवृत्ति है वह तो पञ्चम ही प्रकार की है। सत्, असत्, सदसत्, सदसद्विलक्षण इन चारों से विलक्षण ही अविद्यानिवृत्ति है। यथार्थरूप से वीक्ष्यमाण अधिष्ठान से भिन्न मिथ्यावस्तु की निवृत्ति नहीं होती क्योंकि मिथ्यावस्तु के निषेध होने पर अधिष्ठान ही अवशिष्ट रहता है। अतः विद्यारूपा वृत्ति पर प्रतिबिम्बित होकर ब्रह्म ही स्वाध्यस्त सकार्या अविद्या का निवर्त्तक होता है। तत्स्वरूप ही अविद्या-निवृत्ति है। इसी लिये ज्ञातत्वोपलक्षित ब्रह्मात्मा ही अविद्यानिवृत्ति है—'निवृत्तिरात्मा मोहस्य ज्ञातत्वेनोपलक्षितः'।

फिर भी कहा जाता है जब प्रकृति से पुरुष अत्यन्त विलक्षण है तब तो सकार्या अविद्या पुरुष से पृथक् ही सिद्ध होती है। परन्तु यह ठीक नहीं है—

"बुद्ध्वैवमसत्यमिदं, विष्णोर्मायात्मकं जगद्रूपम्।
विगत द्वन्द्वोपाधिक, भोगासङ्गो भवेच्छान्तः" ॥७४॥

मायामय यह जगत् अधिष्ठानभूत परब्रह्म विष्णु का ही असत्य काल्पनिक रूप है। ऐसा जानकर सकारण देह दैहिक समस्त प्रपञ्च का अन्वय व्यतिरेकादि युक्तियों से बाध करके, आत्मा में ही सब कुछ अध्यस्त है ऐसा जानकर, देहादि निमित्त से होनेवाले भोगों के आसङ्ग (आसक्ति) को मिटाकर, आत्मा से भिन्न विश्व है ही नहीं अतः देहादि तन्निमित्त भोगासक्ति छोड़कर, आत्मा में ही सक्त (अनुरक्त) होकर शान्त हो जाता है—'विगतः बाधितो द्वन्द्वोपाधिको भोगासङ्गो यस्य सः'।

"नासद्रूपा न सद्रूपा माया नैवोभयात्मिका।
अनिर्वाच्या ततो ज्ञेया मिथ्याभूता सनातनी" ॥

इस बृहन्नारदीय वचन के आधार पर वेदान्ती माया को सदसद्विलक्षण अनिर्वचनीया कहते हैं। कुछ वेदान्ती इसे अध्यास संस्कार रूप ही मानते हैं। उक्त वचन की संगति अपने पक्ष में वे भी लगाते हैं। व्यवहारकाल में माया सत्त्वेन प्रतीत होती है अतः केवल असद्रूप नहीं है। प्रतिक्षण परिणामरूप

से होनेवाली उसकी प्रतीति का बाध होता है और विशेष दर्शन से वह बाधित होती है। अतः वास्तव सद्रूप भी नहीं है। अतएव परस्पर विरुद्धत्वात् उभयरूप भी नहीं है। इसी लिये सत् ही है या असत् ही है ऐसे निर्धारित रूप से उसका निर्वचन नहीं हो सकता इसलिये अनिर्वचनीय है। प्रातिभासमात्र का विषय है अतः मिथ्या है। भ्रमपरम्परा की जननी है अतः सनातनी है। आरोपित सत्व एवं परमार्थतः असत्ववाले पदार्थ को ही अनिर्वचनीया माया कहा जाता है। अतएव कहा गया है—यत्तत्कारणमव्यक्तं नित्यं सदसदात्मकम्', प्रवाहरूप से नित्य है, यावत्संसार उसका सत्व मान्य ही है।

कहा जाता है कि न्याय दर्शन में 'बुद्धि सिद्धन्तु तदसत्' इस सूत्र से भी यही कहा गया है कि चित्त से द्रव्यरूप वृत्ति नाम का जो परिणाम होता है वही इन्द्रिय प्रणाली से निकल विषय से संयुक्त होकर सूक्ष्मावस्थारूप विषय वासनावशात् तत्तद्विषयाकार से परिणत होता है। यह बात नहीं है कि उस वृत्ति में संयुक्त बाह्यविषय का प्रतिबिम्ब पड़ता है क्योंकि स्वप्नादि में बाह्यविषयों का संयोग नहीं होता। अतः प्रतिबिम्ब संभव नहीं होता। अतएव स्मृति कहती है-—

"विप्र! पृथिव्यादिचित्तस्थं न बहिस्थं कदाचन।
स्वप्नभ्रम मदाद्येपु सर्वै रेवानुभूयते"॥

हे विप्र! पृथिवी आदि सभी वस्तु चित्त में ही है बाहर नहीं क्योंकि स्वप्नादि में बाह्यविषय के बिना ही चित्त के भीतर ही सब वस्तु भासित होती है।

कहा जाता है सांख्य ने भी—'नासतः ख्याति नृश्रृङ्गवत्, नानिर्वचनीय ख्यातिस्तदभावात्, नान्यथा ख्यातिः स्ववचो व्याघातात्', इन सूत्रों से कहा है कि असत् की ख्याति नहीं हो सकती है क्योंकि असत् नरश्रृङ्गादि की प्रतीति नहीं होती; अनिर्वचनीय की भी ख्याति नहीं होती क्योंकि अनिर्वचनीय कोई वस्तु होती ही नहीं; अन्यथा ख्याति भी नहीं होती क्योंकि अन्य की अन्य रूप में प्रतीति व्याहत है। कहा जाता है कि व्यास भगवान् भी माया पद से सदसत् ख्याति ही मानते हैं। सांख्यदूषित अनिर्वचनीय ख्याति व्यास सूत्रों से सिद्ध नहीं होती। यद्यपि श्रीहर्ष ने अनिर्वचनीयता का प्रतिपादन किया है। उन्होंने कहा है—'परकीयरीत्येदमुक्तम् अनिर्वचनीयत्वम् विश्वस्य पर्य-वस्यति वस्तुवस्तु वयं सर्वप्रपञ्च सत्वासत्व व्यवस्थापन विनिवृत्ताः स्वतः

सिद्धे चिदात्मनि ब्रह्मतत्वे केवले भरमवलम्ब्य चरितार्थाः सुखमास्महे
ये तु स्व परिकल्पित साधन दूषण व्यवस्थया विचारमवतार्य तत्वं
निर्णेतुमिच्छन्ति तान्प्रति ब्रूमः न साध्वीयं भवतां विचार व्यवस्था
भवत्कल्पित व्यवस्थयैव व्याहतत्वात् ।' खण्डन खण्डखाद्य की इस पंक्ति से
यही सिद्ध होता है कि शुद्ध ब्रह्म में ही उनका तात्पर्य है। अनिर्वचनीयता
सिद्धि उनका लक्ष्य नहीं है। जो लोग स्वकल्पित साधक बाधक तर्कों से
पदार्थों का निर्वचन करना चाहते हैं उनकी स्वीकृत व्यवस्था से ही उनका
पक्ष दूषित हो जाता है।

"ऋतेऽर्थं यत्प्रतीयेत न प्रतीयेत चात्मनि।
तद्विद्यादात्मनो मायां यथा भासो यथा तमः" ॥

बिना पदार्थ भी आत्मा में जो प्रतीत होता है और रहता हुआ भी अपने
रूप में न प्रतीत हो, यही प्रतीति एवं अप्रतीति ही आत्मा की माया है। जैसे
द्विचन्द्र रज्जु सर्पादि न होता हुआ प्रतीत होता है। जैसे राहु ग्रहमण्डल में
रहता हुआ नहीं प्रतीत होता। इसी तरह अन्यान्य वचनों के भी अर्थ सदसत्
ख्याति के अनुसार लगाये जाते हैं। अनिर्वचनीय ख्याति माननेवाले भ्रमो-
पादान रूप से एक सदसद्विलक्षण अनिर्वचनीय भावरूप अधिष्ठान ज्ञान से
बाधित होनेवाले पदार्थ को ही माया, तम, अविद्या, अज्ञान आदि नाम से
व्यवहृत करते हैं। त्रिकालाबाध्य ब्रह्म सत् है; 'क्वचिदप्युपाधौ सत्त्वेन प्रतीय-
मानत्वानधिकरणत्वमसत्त्वम्' के अनुसार कहीं भी सद्रूप से न प्रतीयमान होने-
वाला खपुष्प नरशृङ्गादि असत् है। माया एवं माया कार्य असत् त्रिकाला-
बाध्य नहीं है तथा खपुष्पवत् अप्रतीयमान नहीं है। अतः सदसद्विलक्षण
अनिर्वचनीय है। इस तरह तत्त्वान्यत्वाभ्यां निर्वक्तुमनर्हत्व (तत्त्व एवं अतत्त्व
रूप से निर्वचन के अयोग्यत्व) रूप अनिर्वचनीयत्व से भिन्न सदसद्विलक्षणत्व
रूप अनिर्वचनीयत्व भी वेदान्तशास्त्र को मान्य है। 'मृगतृष्णा जलादि न
सत् नासत् नापि सदसत् विरोधादनिर्वाच्यमेव मरीचिषु तोयमास्थे-
यम्'। इन वाक्यों से वाचस्पति मिश्र ने सदसद्विलक्षणत्व रूप अनिर्वचनीयत्व
माना है। अतएव श्रीनागेश ने मञ्जूषा में वाचस्पति मिश्र के मत का खण्डन
करते हुए शाङ्कर भाष्य की पंक्तियों को ही अपने अनुकूल लगाया है। सांख्य
न्याय सिद्धान्त के अनुसार वेदान्त की अनिर्वचनीयता का खण्डन वेदान्त की
दृष्टि से अकिञ्चित्कर ही है। प्रत्युत, व्यासतात्पर्य निर्णय की दृष्टि से यही
सिद्धान्त सिद्ध होता है कि सांख्य एवं न्याय के आचार्यों ने वेदान्त के जिस

सिद्धान्त का अनुवाद करके खण्डन किया है वही वेदान्त सिद्धान्त है। अनेक वेदान्तानुयायियों में किसकी व्याख्या व्यास तात्पर्यानुसारी है, इसका यही समाधान है कि व्यास के समकक्ष सांख्य आदि शास्त्रों के सर्वज्ञकल्प आचार्यों ने ठीक ठीक व्यास के मत का अनुवाद करके ही खण्डन किया है। अतः उनके द्वारा अनूदित मत ही व्यास मत समझा जाना चाहिये।

मुक्त पुरुष का देह अविद्या संस्कारवशात् कुछ काल तक जीवित रहता है, फिर भी उसे अनर्थप्राप्ति नहीं होती है।

"बुद्ध्वा विभक्तां प्रकृतिं पुरुषः संसारमध्यगो भवति।
निर्मुक्तः सर्वकर्मभिरम्बुजपत्रं यथा सलिलैः" ॥७५॥

देहादि रूप में परिणत अनृत जड़ दुःख संवृतरूप प्रकृति को सच्चिदानन्द स्वरूप आत्मा से विभक्त अत्यन्त विलक्षण जानकर भी, अनात्म रूप से उसका त्याग करके परमात्म भाव को प्राप्त हुआ पुरुष, संसार में रहता हुआ देही जैसा प्रतीत होता हुआ भी, सर्व कर्मों से वैसे ही मुक्त होता है जैसे कमलपत्र पानी में रहता हुआ भी पानी से लिप्त नहीं होता है।

इस प्रकार जीवन्मुक्ति का निरूपण करके मुक्त पुरुष के यावज्जीवन रहने के ढङ्ग का निरूपण आचार्य करते हैं—

"इनन् यद्वा तद्वा संवीतो येन केनचिच्छान्तः।
यत्र क्वचन च शायी विमुच्यते सर्वभूतात्मा" ॥७६॥

मुक्त ज्ञानी पुरुष भगवदात्मभूत होकर सर्वभूतों का आत्मा हो जाता है। शान्त, संयमी रहकर श्रेष्ठ या अश्रेष्ठ यथोपलब्ध अन्न का भक्षण करता हुआ, जैसे तैसे कषायादि मलिन वस्त्र या दिव्याम्बर धारण किये हुए, जहाँ कहीं प्रासाद या कुटीर में शय्या या भूमि में शयन करता हुआ जीवन्मुक्त सुख का अनुभव करता है।

"येन केनचिदाच्छन्नः येन केनचिदाशितः।
यत्र क्वचनशायी स्यादेतद्ब्राह्मण लक्षणम्" ॥

किसी प्रकार का शुभ या अशुभ कर्म करता हुआ भी वह जीवन्मुक्त लिप्त नहीं होता है।

"हयमेध सहस्राण्यप्यथ कुरुते ब्रह्मघात लक्षाणि।
परमार्थविन्न पुण्यैर्न च पापैः स्पृश्यते विमलः" ॥७७॥

परमार्थ ब्रह्म तत्त्व को जाननेवाला ज्ञानी अविद्या मलों से शून्य होता है। अतः चाहे सहस्रों अश्वमेधादि पुण्य करे, चाहे ब्रह्महत्यादि पाप करे, किसी पुण्य या पाप से वह स्पृष्ट नहीं होता है। अतएव—

"मद कोप हर्ष मत्सर विषाद भय परुष वर्ज्य वाग्बुद्धिः।
निःस्तोत्र वषट्कारो जडवद्विचरेदगाध मतिः" ॥७८॥

जिसके तल का स्पर्श नहीं होता उस अगाध अनन्तानन्द रूप ब्रह्म में आत्म बुद्धि होने के कारण ज्ञानी पुरुष जड़वत्, उन्मत्तवत्, पिशाचवत् विचरता है।

"बुद्धतत्त्वस्य लोकोऽयं जडोन्मत्तपिशाचवत्।
बुद्धतत्त्वश्च लोकानां जडोन्मत्तपिशाचवत् ॥"-(वृ० वा०)

तत्त्वज्ञ की दृष्टि में लोक (संसार) जड़ोन्मत्त पिशाचवत् होता है। वैसा ही लोक की दृष्टि में तत्त्ववित् भी होता है। उस ज्ञानी में विद्वत्ता आदि का मद नहीं होता, उसके मन में शत्रु आदि के प्रति क्रोध नहीं होता। ईर्ष्याभाव के कारण मानसोल्लास रूप हर्ष से भी वह वर्जित होता है। परोत्कर्षासहिष्णुता भी उसमें नहीं होती। अभीष्टसिद्धि न होने से होनेवाला विषाद तथा अनिष्टप्राप्ति से दैन्य, भय, निष्ठुरता आदि से वह रहित होता है। 'मद कोप हर्ष मत्सर विषाद विषाद भय परुषाणि वर्जयितुं शीलमस्येति मद कोप हर्ष मत्सर विषाद भय परुषवर्जी।' अर्थात् वह मदादि दोषों से शून्य होता है। 'अवाच्य मनोवचनातीते प्रणवे तदर्थे ब्रह्मात्मनि बुद्धिर्यस्य स अवाग्बुद्धिः'। अर्थात् मनवचन से अतीत प्रणव एवं तदर्थ परब्रह्म में ही उसकी बुद्धि प्रतिष्ठित होती है। वह न किसी की स्तुति करता है न किसी का वषट्कार भजन पूजनादि) ही करता है।

"उत्पत्ति नाश वर्जितमेवं परमार्थमुपलभ्य।
कृतकृत्य सफलजन्मा सर्वगतस्तिष्ठति यथेष्टम्" ॥७९॥

इस तरह प्रकृति से पृथक् उत्पत्ति, नाशरहित परमार्थ आत्म स्वरूप का साक्षात्कार करके कृतकृत्य एवं सफलजन्मा होकर सर्वगत होकर यथेच्छ जीवन बिताता है। देह छूटने पर उसकी स्थिति कैसी होती है, किस प्रकार उसका देहपात होता है, यह बताते हुए विदेह मुक्ति का वर्णन करते हैं—

"व्यापिनमभिन्नमित्थं सर्वात्मानं विधूत नानात्वम्।
निरुपम परमानन्दं यो वेद स तन्मयो भवति" ॥८०॥

इस प्रकार अद्वितीय निरुपम परमानन्दरूप व्यापी परम महान् आत्मा को अभिन्न रूप से जानकर ज्ञानी देहपात होने पर तद्रूप ही हो जाता है।

"अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययम्
तथारसंनित्यमगन्धवच्च यत्।
अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवं
निचाय्य तन्मृत्युमुखात्प्रमुच्यते॥"

यह श्रुति कहती है कि शब्द, स्पर्श रहित, अरस, अगंध, अव्यय, अनादि, अनन्त तथा महादादि प्रकृति से पर ध्रुव आत्मा को स्वात्मस्वरूप से जानकर प्राणी मृत्युमुख से छूटकर ब्रह्मरूप ही हो जाता है। ब्रह्म नानात्वरहित है, यह भी 'एकमेवाद्वितीयम्' इत्यादि श्रुति कहती है। ब्रह्मस्वरूप आनन्द उपमा-रहित एवं निरतिशय है। यह भी श्रुति कहती है—'एषोऽस्य परम आनन्दः एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति।' आत्मा ही परम आनन्द है। अन्य प्राणी इसी के अंश से आनन्दित होते हैं। व्यापी सर्वात्मा वासुदेव को अभिन्न रूप से ही जानना चाहिये। यह भी श्रुति कहती है—'अथ योन्यां देवतामुपास्ते अन्योऽसावहमन्योऽहमस्मीति न स वेद यथा पशुरेवं स देवानाम्॥'–(बृ०)

जो भिन्न रूप से देवता की उपासना करता है वह तत्त्वज्ञ न होकर देवताओं का पशु होता है। 'एष ते आत्मा अमृतः' यह श्रुति अन्तर्यामी अभिन्न आत्म-स्वरूप से उपदेश करती है।

शङ्का होती है कि निर्विशेष परब्रह्म स्वरूप सर्वात्मा वासुदेव में श्रुतियों की प्रवृत्ति कैसे हो सकती है। सबके बुद्धि, इन्द्रियादि के द्रष्टा एवं प्रेरक तथा अध्यक्ष को ही सर्वात्मा कहा जाता है। बुद्धि का द्रष्टा बुद्धि आदि का दृश्य नहीं हो सकता। जो अदृश्य अग्राह्य होता है वह वाणी का वाच्य भी नहीं होता है। प्रदीप से प्रकाशित घट प्रदीप का प्रकाशक नहीं हो सकता है। इसी तरह आत्मा के द्वारा प्रबोधित मन, वाणी, आत्मा का प्रकाशन नहीं कर सकते हैं। 'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह' यह श्रुति भी यही बात कहती है।

मुख्य गौण भेद से शब्द की अर्थ में दो प्रकार से प्रवृत्ति होती है—रूढ़ि वृत्ति एवं योग वृत्ति मुख्या वृत्ति कही जाती है। वृद्ध व्यवहार

निमित्त संकेत से जो शब्द जिस अर्थ का बोधक होता है, उस शब्द की उस अर्थ में रूढ़ि वृत्ति कही जाती है, जैसे गो आदि शब्दों की गोत्वादि में प्रवृत्ति होती है। प्रकृति प्रत्यय आदि शब्द के अवयवों के व्युत्पादन के द्वारा जो शब्द स्वार्थ में प्रवृत्त होता है, उस शब्द की उस अर्थ में योग वृत्ति समझी जाती है, जैसे पंकजादि शब्दों की कमल आदि में यौगिक प्रवृत्ति है। पङ्क से उत्पन्न होने के कारण कमल को पङ्कज कहा जाता है। औपाधिकी प्रवृत्ति दो तरह की होती है। एक गौणी, दूसरी लक्षणा। वाच्यार्थ गुणों के योग से अर्थान्तर में प्रवृत्ति गौणी वृत्ति है। जैसे, सिंह शब्दार्थ मुख्य सिंह के क्रौर्य शौर्य आदि गुणों के योग से देवदत्त आदि मनुष्य में भी सिंह शब्द की प्रवृत्ति होती है। 'सिंहो देवदत्तः' यह गौणी वृत्ति का उदाहरण है। जहाँ शब्द के वाच्यार्थ के सम्बन्ध से अर्थान्तर में प्रवृत्ति होती है वहाँ लक्षणा वृत्ति समझनी चाहिये। दोनों ही वृत्तियों में वाच्यार्थ का बाध होता है और प्रयोजन-विशेष के कारण ही वाच्यार्थबाध करके लक्षणा का आश्रयण किया जाता है। बिना सामान्यतया वाच्यार्थ संभव होने पर अर्थान्तर कल्पना अनुचित ही है। बिना प्रयोजन के वाच्यार्थ को बाधकर अर्थान्तर का आश्रयण बिना विशेष प्रयोजन के नहीं होता।

लक्षणा जहती, अजहती, जहदजहती तीन प्रकार की होती है। सर्वथा स्वार्थ को त्यागकर जहाँ शब्द अर्थान्तर का ही बोधन करता है वह जहती लक्षणा है, जैसे 'गङ्गायां घोषः'। यहाँ गङ्गा शब्द स्वसंबन्धी तीर का बोधक होता है। क्योंकि गङ्गा पद वाच्य भगीरथरथखातावच्छिन्न प्रवाह में घोष (आभीरपल्ली) नहीं रह सकता। जहाँ स्वार्थ का बिना त्याग किये ही तत्सम्बन्धी अर्थान्तर का बोधक शब्द होता है वहाँ अजहती लक्षणा होती है, जैसे 'शोणो धावति, कुन्ताः प्रविशन्ति'। उक्त स्थलों में शोण का केवल लाल रंग अर्थ न लेकर लाल रंगवाला घोड़ा अर्थ लिया जाता है। कुन्त का केवल भाला, बर्छी आदि ही अर्थ न लेकर भाला, बर्छीवाले यह अर्थ लिया जाता है। जहाँ स्वार्थ के कुछ अंश को छोड़कर किसी अंश का बोध कराया जाता है वहाँ जहदजहती या भागत्याग लक्षणा कही जाती है। जैसे 'सोऽयं देवदत्तः' यहाँ तद् इदं इन दोनों शब्दों के परोक्ष-अपरोक्ष, देश-काल रूप अर्थ को छोड़कर व्यक्तिमात्र का अभेद बोधित होता है। सभी स्थलों में अन्यथा-नुपपत्ति एवं तात्पर्यानुपपत्ति लक्षणा के बीज होते हैं। घोष गंगा में नहीं हो सकता, लाल रंग दौड़ नहीं सकता, परोक्ष-अपरोक्ष, देशादि विशिष्ट व्यक्ति का

जिज्ञासा होती है। उसी जिज्ञासा का उत्तर है—'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इसलिये सत्यं ज्ञानमनन्तं आदि पद ब्रह्मस्वरूपमात्र के बोधन में पर्यवसित होते हैं। यही न्याय, वेदान्त के अवान्तर वाक्यों में भी जिनके द्वारा तत् एवं त्वं पद के अर्थों का संशोधन होता है, लागू होता है। तत्त्वमसि आदि महावाक्यों में एवं सोऽयं देवदत्तः इत्यादि लौकिक वाक्यों में भी यही भागत्याग लक्षणा प्रवृत्त होती है। जैसे सोऽयम् इस वाक्य में तत् शब्द का अर्थ परोक्ष देशकालविशिष्ट देवदत्त वाच्य अर्थ है। अपरोक्ष देशकालविशिष्ट इदं शब्द का वाच्य अर्थ है। परन्तु इन विशिष्ट अर्थों को ग्रहण करने पर एकत्वबोधन नहीं हो सकता। क्योंकि विरुद्ध देशकाल विशिष्ट की एकता नहीं होती। अतः दोनों ही पदों के परोक्ष-अपरोक्ष, देशकाल वैशिष्ट्य का त्याग देवदत्तमात्र का बोध कराया जाता है, तभी दोनों पदार्थों का ऐक्य हो सकता है।

इसी तरह तत्त्वमसि वाक्य में तत् पद का सर्वज्ञत्वविशिष्ट ईश्वर चैतन्य अर्थ है। त्वं पद का अल्पज्ञत्वविशिष्ट जीव चैतन्य अर्थ है। यहाँ भी सर्वज्ञत्वविशिष्ट एवं अल्पज्ञत्वविशिष्ट चैतन्य की एकता नहीं हो सकती। अतः सर्वज्ञत्व, अल्पज्ञत्व आदि विरोधी विशेषणों को छोड़कर चैतन्य चैतन्य की एकता लक्षणा से बोधित होती है। इस तरह वेदान्तों की ब्रह्म में प्रवृत्ति होने से कोई बाधा नहीं है।

कहा जाता है कि जो वस्तु प्रमाणान्तर से अवगत होती है एवं तीरादि किसी शब्द का वाच्य होता है वही लक्ष्य भी होता है। ब्रह्म तो प्रमाणान्तरों से अवगत भी नहीं है तथा किसी शब्द का वाच्य भी नहीं है। फिर वह किसी शब्द का लक्ष्य कैसे होगा। परन्तु यह ठीक नहीं, क्योंकि सिद्धत्वमात्र लक्ष्यत्व का प्रयोजक होता है। वह सिद्धत्व चाहे स्वतः हो चाहे परतः, अतः ब्रह्म प्रमाणान्तर से अवगत न होने पर स्वप्रकाश होने से स्वतःसिद्ध है। सिद्धत्व होनेपर भी प्रमाणसिद्धत्व न होने के अपराध से लक्षणाभाव कहीं दृष्ट नहीं है। चिदेकरस ब्रह्म की सिद्धि में प्रमाण की अपेक्षा नहीं।

इसी तरह शब्दान्तरों का अवाच्य होने से भी लक्ष्यत्वाभाव नहीं कहा जा सकता है क्योंकि अवाच्य भी लक्ष्य होता ही है। इक्षुर्मधुरः, गुडो मधुरः, क्षीरं मधुरम् इत्यादि स्थलों में इक्षु आदि शब्द अवाच्य मधुर रस विशेष का ही बोधक होता है।

"इक्षुक्षीर गुडादीनां माधुर्यस्यान्तरं महत् ।
तथापि न तदाख्यातुं सरस्वत्यापि शक्यते" ॥—(श्लो॰ वा॰)

कहा जाता है फिर भी सत्य, ज्ञान आदि पदों से क्या लक्ष्य है? परन्तु इसका उत्तर यही है कि जो पूछनेवाला और जो उत्तर देनेवाला और जो अन्य प्राणी उन सबके देहादिकों से अनवच्छिन्न चैतन्य है वही लक्ष्य है। यह चैतन्य इक्षुरसादि के समान स्वानुभवगम्य ही है। इदमित्थं रूप से उसका निरूपण नहीं हो सकता। इसलिये शब्द के द्वारा उसका निरूपण न होना कोई दूषण नहीं।

तत्ववित् विद्वान् का देहपात कहाँ और कैसे होता है। इस प्रश्न का भी उत्तर यही है कि—

"तीर्थे श्वपचगृहे वा, नष्टस्मृतिरपि परित्यजन् देहम् ।
ज्ञान समकाल मुक्तः कैवल्यं याति हतशोकः" ॥८१॥

तत्ववित् ज्ञानोदय के समय ही मुक्त हो जाता है। शोक मोहातीत ज्ञानी जीवन दशा में भी मुक्त होता है। अतः जीवन्मुक्त कहा जाता है। विचार से ही वह पिण्ड को ब्रह्माण्ड में, ब्रह्माण्ड को पृथिवी में, पृथिवी को जल एवं जल को तेज में, तेज को वायु में, वायु को आकाश में, उसे तामस अहंतत्व में एवं प्राणों एवं एकादश इन्द्रियों को राजस अहंतत्व में, मन एवं इन्द्रियों के अधिष्ठात्री देवताओं को सात्विक अहंतत्व में लय करके त्रिविध अहङ्कार को महत्तत्व में, महत्तत्व को अव्यक्त में, अव्यक्त को अधिष्ठान पुरुष में, उसे परम पुरुष में प्रविलीन करके, चाहे गङ्गादि तीर्थ में, चाहे श्वपचादि गृह में, चाहे नष्टस्मृति (बेहोश) हो, चाहे प्रबुद्ध (सावधान) होकर देह त्याग करे तो भी कैवल्य पद को ही प्राप्त होता है। जहाँ जहाँ ज्ञानी मरता है, चाहे वह किसी मृत्यु से मरे तो भी, सर्वगत ब्रह्म को ही प्राप्त होता है।

"यत्र यत्र मृतो ज्ञानी येन वा केन मृत्युना ।
यथा सर्वगतं ब्रह्म तत्र तत्र लयं गतः" ॥८१॥

कहा जाता है—'सितासिते सरितो यत्र संगते तत्राप्लुतासो दिवमुत्पतन्ति' इस श्रुति के अनुसार यह प्रसिद्ध है कि गङ्गा, यमुना नदी का जहाँ संगम होता है वहाँ स्नान करनेवाले मुक्ति के भागी होते हैं। 'काश्यांमरणान्मुक्तिः' के अनुसार काशी में मरने से मुक्ति होती है। फिर यह कैसे कहा जा सकता है कि श्वपचगृह में देह त्याग करने पर भी ज्ञानी मुक्त ही होता है। इस पर आचार्य कहते हैं—

अभेद नहीं हो सकता। घोष का अर्थ मीन, मकरादि लिया जाय तो अन्वय हो सकता है परन्तु वक्ता का उसमें तात्पर्य नहीं है। ऐसे ही धावति का कुछ और अर्थ लिया जाय तो भी वक्ता के तात्पर्य से विपरीत होगा। सोऽयम् यहाँ पर भिन्न प्रवृत्ति निमित्तवाले समान विभक्ति के एकार्थनिष्ठ अनेक शब्दों का सामानाधिकरण्य होने से अभेद ही अर्थ विवक्षित होता है। इसी अर्थ में वक्ता का तात्पर्य है। उसकी उपपत्ति भागत्याग लक्षणा से ही संभव है।

कुछ लोग लाक्षणिक अर्थ को अमुख्यार्थ कहते हैं। परन्तु यह ठीक नहीं, क्योंकि क्या शक्यार्थ का बाध अमुख्यार्थता है या प्रतीयमान अर्थ का परित्याग करके अर्थान्तर ग्रहण अमुख्यार्थता है। प्रकृत में दोनों बातें संगत नहीं हैं क्योंकि भागत्याग लक्षणा में शक्यार्थ का सर्वथा परित्याग नहीं किया जाता और सामानाधिकरण्य से प्रतीयमान ऐक्य का त्याग नहीं किया जाता। वस्तुतस्तु तात्पर्यार्थ ही मुख्यार्थ है। वाच्यार्थ होते हुए भी तात्पर्यार्थ न होने से अमुख्यार्थ ही समझना चाहिये। डित्थःडवित्थः आदि शब्दों की स्वरूपनिर्देश द्वारा स्वार्थ में प्रवृत्ति होती है। ब्राह्मणः, गौः आदि शब्दों की ब्राह्मण आदि जाति को लेकर प्रवृत्ति होती है। धनी, गोमान आदि शब्द संबन्ध को लेकर प्रवृत्त होते हैं। ब्रह्म प्रत्यक्षगोचर न होने से निर्देश्य नहीं है। ब्रह्म एक होने से जातिरहित है। 'निर्गुणं, निष्क्रियं' श्रुति के अनुसार निर्गुण एवं निष्क्रिय है। 'असंगो नहि सज्जते' श्रुति के अनुसार संबन्धशून्य है। अतः शब्दों की मुख्या वृत्ति ब्रह्म में नहीं हो सकती। असंग होने से लक्ष्यमाण गुण का योग न होने से गौणी वृत्ति भी ब्रह्म में शब्द की नहीं हो सकती। शक्यार्थ संबन्ध से ही लक्षणा भी होती है अतः सर्वसम्बन्ध शून्य असंग ब्रह्म में लक्षणा भी संभव नहीं। अतः ब्रह्म में श्रुतियों की प्रवृत्ति कैसे हो सकती है?

परन्तु इसका समाधान यह है कि परमार्थतः ब्रह्म यद्यपि निर्गुण, निष्क्रिय एवं असंग है तथापि अनादि, अनिवर्चनीय माया के कारण ब्रह्म में आध्यासिक गुण, क्रिया संबन्ध, सब संभव है। इस दृष्टि से ब्रह्म अनन्त कल्याण गुणोंवाला है। जगत् का उत्पादक, पालक, संहारक, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् भी है। ब्रह्म शब्द का शक्यार्थ सविशेष ब्रह्म है। उसका आध्यासिक सम्बन्ध निर्विशेष ब्रह्म से है। अतः लक्षणा से ब्रह्मादि शब्द निर्विशेष ब्रह्म के बोधक हो सकते हैं। इसी तरह लोक में अबाध्य वस्तु सत्य शब्द का वाच्य होती है। आकाशादि में वह अबाध्यता व्यावहारिक है। ब्रह्म में पारमार्थिक है। आकाशादि में

व्यवहारकाल में ही अबाध्यता है किन्तु अत्यन्त अबाध्यता नहीं है। क्योंकि
तत्त्वज्ञान से उसका भी बाध्य होता है परन्तु ब्रह्म का कभी भी बाध नहीं होता।
अतः अत्यन्ताबाध्य ब्रह्म ही है।

इस तरह आकाशादि विशिष्ट चैतन्य सत्य शब्द का वाच्य है। 'सत्यं ज्ञान-
मनन्तं ब्रह्म' इत्यादि श्रुति का सत्य शब्द जहदजहती लक्षणा द्वारा आकाशादि
वाच्य अंशों को छोड़कर अत्यन्ताबाध्य चैतन्यमात्र का बोधक होगा। इसी
तरह शुभ कर्मों से उपस्थापित विषयोपभोगजनित अनुकूल सुखाकार बुद्धिवृत्ति
व्यवहारतः आनन्द शब्दार्थ है। परमार्थतः केवल चैतन्य ही आनन्द है।
लौकिक आनन्दविशिष्ट चैतन्य आनन्द शब्द का वाच्य है। परन्तु 'विज्ञान-
मानंदं ब्रह्म' इस श्रुति में आनन्द शब्द बुद्धिवृत्ति रूप स्वार्थांश को छोड़कर
बुद्धिवृत्ति रूप आनन्द के द्रष्टा चैतन्य को ही बोधन करता है। इसी तरह
अनन्त शब्द का अपरिच्छिन्न वस्तु मुख्य अर्थ है। व्यवहारतः काल में
देशकाल परिच्छेद नहीं होता, क्योंकि काल का काल नहीं होता और
काल से अव्याप्त कोई देश भी नहीं है। ब्रह्म भी अपरिच्छिन्न है
क्योंकि काल, देशादि सभी वस्तु दृश्य होने से तत्त्वतः असत् हैं
अतः ब्रह्म के परिच्छेदक नहीं होते। अतः कालादि अनुगत ब्रह्म
अनन्त शब्द का वाच्य है। कालादि को त्यागकर लक्षणा से अनन्त शब्द
सर्वथा अपरिच्छिन्न ब्रह्म का बोधक होता है।

कहा जाता है कि इस प्रकार की लक्षणा लोक में अप्रसिद्ध है। परन्तु यह
ठीक नहीं क्योंकि 'प्रकृष्ट प्रकाशश्चन्द्रः', 'पृथुबुध्नोदराकारो घटः' इत्यादि स्थलों
में यह लक्षणा प्रसिद्ध है। यहाँ पर विशिष्ट अर्थ का बोध नहीं होता क्योंकि
वहाँ इस ज्योतिर्मण्डल में चन्द्रमा कौन है? मृद्विकारों में घट कौन है? इन प्रश्नों
के ही उक्त वाक्य उत्तर हैं। यहाँ प्रकृष्ट और प्रकाश तथा पृथुबुध्नोदर एवं
आकार शब्दों से स्ववाच्यांश प्रकृष्टत्व, प्रकाशत्व आदि जाति का एवं पृथुत्व,
बुध्नोदराकारत्व धर्म का त्याग करके प्रकृष्टप्रकाशरूप एक चन्द्र व्यक्ति तथा
पृथुबुध्नोदराकारवाली घट व्यक्ति का बोध लक्षणा से ही होता है। उत्तर
वाक्य में पृष्ट अर्थ का ही निरूपण होता है। पूछा जाय आम्र तो उसका उत्तर
आम्र ही हो सकता है कोविदार नहीं, 'आम्रान्पृष्टः कोविदारानाचष्टे' पूछा आम
बताया कोविदार। इसी तरह 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' ब्रह्म का साक्षात्कार करने-
वाला परतत्व को प्राप्त कर लेता है। यह श्रवण करके ब्रह्म क्या है, ऐसी

जिज्ञासा होती है। उसी जिज्ञासा का उत्तर है—'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इसलिये सत्यं ज्ञानमनन्तं आदि पद ब्रह्मस्वरूपमात्र के बोधन में पर्यवसित होते हैं। यही न्याय, वेदान्त के अवान्तर वाक्यों में भी जिनके द्वारा तत् एवं त्वं पद के अर्थों का संशोधन होता है, लागू होता है। तत्त्वमसि आदि महावाक्यों में एवं सोऽयं देवदत्तः इत्यादि लौकिक वाक्यों में भी यही भागत्याग लक्षणा प्रवृत्त होती है। जैसे सोऽयम् इस वाक्य में तत् शब्द का अर्थ परोक्ष देशकालविशिष्ट देवदत्त वाच्य अर्थ है। अपरोक्ष देशकालविशिष्ट इदं शब्द का वाच्य अर्थ है। परन्तु इन विशिष्ट अर्थों को ग्रहण करने पर एकत्वबोधन नहीं हो सकता। क्योंकि विरुद्ध देशकाल विशिष्ट की एकता नहीं होती। अतः दोनों ही पदों के परोक्ष-अपरोक्ष, देशकाल वैशिष्ट्य का त्याग देवदत्तमात्र का बोध कराया जाता है, तभी दोनों पदार्थों का ऐक्य हो सकता है।

इसी तरह तत्त्वमसि वाक्य में तत् पद का सर्वज्ञत्वविशिष्ट ईश्वर चैतन्य अर्थ है। त्वं पद का अल्पज्ञत्वविशिष्ट जीव चैतन्य अर्थ है। यहाँ भी सर्वज्ञत्वविशिष्ट एवं अल्पज्ञत्वविशिष्ट चैतन्य की एकता नहीं हो सकती। अतः सर्वज्ञत्व, अल्पज्ञत्व आदि विरोधी विशेषणों को छोड़कर चैतन्य चैतन्य की एकता लक्षणा से बोधित होती है। इस तरह वेदान्तों की ब्रह्म में प्रवृत्ति होने से कोई बाधा नहीं है।

कहा जाता है कि जो वस्तु प्रमाणान्तर से अवगत होती है एवं तीरादि किसी शब्द का वाच्य होता है वही लक्ष्य भी होता है। ब्रह्म तो प्रमाणान्तरों से अवगत भी नहीं है तथा किसी शब्द का वाच्य भी नहीं है। फिर वह किसी शब्द का लक्ष्य कैसे होगा। परन्तु यह ठीक नहीं, क्योंकि सिद्धत्वमात्र लक्ष्यत्व का प्रयोजक होता है। वह सिद्धत्व चाहे स्वतः हो चाहे परतः, अतः ब्रह्म प्रमाणान्तर से अवगत न होने पर स्वप्रकाश होने से स्वतःसिद्ध है। सिद्धत्व होनेपर भी प्रमाणसिद्धत्व न होने के अपराध से लक्षणाभाव कहीं दृष्ट नहीं है। चिदेकरस ब्रह्म की सिद्धि में प्रमाण की अपेक्षा नहीं।

इसी तरह शब्दान्तरों का अवाच्य होने से भी लक्ष्यत्वाभाव नहीं कहा जा सकता है क्योंकि अवाच्य भी लक्ष्य होता ही है। इक्षुर्मधुरः, गुडो मधुरः, क्षीरं मधुरम् इत्यादि स्थलों में इक्षु आदि शब्द अवाच्य मधुर रस विशेष का ही बोधक होता है।

"इक्षुक्षीर गुडादीनां माधुर्यस्यान्तरं महत् ।
तथापि न तदाख्यातुं सरस्वत्यापि शक्यते" ॥—(श्लो० वा०)

कहा जाता है फिर भी सत्य, ज्ञान आदि पदों से क्या लक्ष्य है? परन्तु इसका उत्तर यही है कि जो पूछनेवाला और जो उत्तर देनेवाला और जो अन्य प्राणी उन सबके देहादिकों से अनवच्छिन्न चैतन्य है वही लक्ष्य है। यह चैतन्य इक्षुरसादि के समान स्वानुभवगम्य ही है। इदमित्थं रूप से उसका निरूपण नहीं हो सकता। इसलिये शब्द के द्वारा उसका निरूपण न होना कोई दूषण नहीं।

तत्त्ववित् विद्वान् का देहपात कहाँ और कैसे होता है। इस प्रश्न का भी उत्तर यही है कि—

"तीर्थे श्वपचगृहे वा, नष्टस्मृतिरपि परित्यजन् देहम् ।
ज्ञान समकाल मुक्तः कैवल्यं याति हतशोकः" ॥८१॥

तत्त्ववित् ज्ञानोदय के समय ही मुक्त हो जाता है। शोक मोहातीत ज्ञानी जीवन दशा में भी मुक्त होता है। अतः जीवन्मुक्त कहा जाता है। विचार से ही वह पिण्ड को ब्रह्माण्ड में, ब्रह्माण्ड को पृथिवी में, पृथिवी को जल एवं जल को तेज में, तेज को वायु में, वायु को आकाश में, उसे तामस अहंतत्व में एवं प्राणों एवं एकादश इन्द्रियों को राजस अहंतत्व में, मन एवं इन्द्रियों के अधिष्ठात्री देवताओं को सात्विक अहंतत्व में लय करके त्रिविध अहङ्कार को महत्तत्त्व में, महत्तत्त्व को अव्यक्त में, अव्यक्त को अधिष्ठान पुरुष में, उसे परम पुरुष में प्रविलीन करके, चाहे गङ्गादि तीर्थ में, चाहे श्वपचादि गृह में, चाहे नष्टस्मृति (बेहोश) हो, चाहे प्रबुद्ध (सावधान) होकर देह त्याग करे तो भी कैवल्य पद को ही प्राप्त होता है। जहाँ जहाँ ज्ञानी मरता है, चाहे वह किसी मृत्यु से मरे तो भी, सर्वगत ब्रह्म को ही प्राप्त होता है।

"यत्र यत्र मृतो ज्ञानी येन वा केन मृत्युना ।
यथा सर्वगतं ब्रह्म तत्र तत्र लयं गतः" ॥८१॥

कहा जाता है—'सितासिते सरितो यत्र संगते तत्राप्लुतासो दिवमुत्पतन्ति' इस श्रुति के अनुसार यह प्रसिद्ध है कि गङ्गा, यमुना नदी का जहाँ संगम होता है वहाँ स्नान करनेवाले मुक्ति के भागी होते हैं। 'काश्यांमरणान्मुक्तिः' के अनुसार काशी में मरने से मुक्ति होती है। फिर यह कैसे कहा जा सकता है कि श्वपचगृह में देह त्याग करने पर भी ज्ञानी मुक्त ही होता है। इस पर आचार्य कहते हैं—

"पुण्याय तीर्थसेवा निरयाय श्वपचसदन निधन गतिः।
पुण्यापुण्य कलङ्क स्पर्शाभावे तु किं तेन" ॥८२॥

तीर्थ स्नान, पानादि एवं वहाँ का मरण पुण्य का कारण होता है। वह सब साक्षात्मोक्ष का कारण नहीं। काशीमरण भी तत्वज्ञान का हेतु होकर ही परम्परा से मोक्ष का कारण होता है। साक्षात्मोक्ष का हेतु ब्रह्म साक्षात्कार ही है। 'ऋते ज्ञानान्नमुक्तिः' इस श्रुति के अनुसार अज्ञानमूलक बन्ध की निवृत्ति का तत्वज्ञान ही मुख्य कारण है। 'तमेव विदित्वातिमृत्युमेति' यह श्रुति भी यही बात कहती है। यदि मोक्ष कर्मसाध्य होगा तो स्वयं ही उसमें अनित्यता होगी। इसी तरह श्वपचादि उपलक्षित निन्द्य स्थान में मरण नरकपातादि का हेतु होता है। परन्तु ज्ञानी में तो पुण्य पापरूप कलङ्क का स्पर्श ही नहीं होता है। फिर उन दोनों से ही उसको हानि लाभ सम्भव नहीं।

"नीरोग उपविष्टो वा रुग्णो वा विलुसन्भुवि।
प्राणान्त्यजतु वा काश्यां श्वपचस्य गृहेऽथवा" ॥

अर्थात् ज्ञानी चाहे निरोग होकर, समाधि में बैठकर, चाहे रुग्ण होकर, भूमि में लोटता हुआ प्राणत्याग करे, चाहे काशी, चाहे श्वपच गृह में प्राणत्याग करे, सर्वथा मुक्त ही होता है।

यद्यपि कहा जा सकता है कि—

"ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन्।
यः प्रयाति त्यजन्देहं स जाति परमां गतिम् ॥"

के अनुसार प्रणवानुसन्धानपूर्वक भगवत्स्मरण से ही मुक्ति मानी गयी है। 'अधो गच्छंति' तामसाः के अनुसार तमो अभिभूत की अधोगति कही गयी है। इसका उत्तर देते हुए भगवान् शेष कहते हैं—

"वृक्षाग्राच्च्युतपादो यद्वदनिच्छन्नरः क्षितौ पतति।
वद्वत् गुण पुरुषज्ञोऽनिच्छन्नपि केवलीभवति ॥८३॥

जैसे वृक्षाग्र पर चढ़ता हुआ कोई प्राणी न इच्छा होने पर भी भूमि में गिरता है, उसी तरह गुण एवं पुरुष का सम्यक् ज्ञानवान् ज्ञानी न चाहता हुआ भी देहपात के समय ब्रह्मलीन हो जाता है। ओमित्येकाक्षरमित्यादि भगवद् वाक्य उपासक एवं योगी के लिये हैं, ज्ञानी के लिये नहीं। इस तरह निष्काम ज्ञानी के ब्रह्मज्ञान का फल तत्काल मुक्ति है।

सकाम उपासना का फल क्रम मुक्ति है। इस दृष्टि से परमार्थ ब्रह्मतत्त्व की उपासना करनी ही चाहिये।

"परमार्थ मार्ग साधनमारभ्याप्राप्य योगमपि नाम।
सुरलोक भोग भोगी मुदितमना मोदते सुचिरम्" ॥८४॥

परमार्थ ब्रह्म की प्राप्ति का उपाय ब्रह्मोपासना है। उसका आरम्भ करने-वाला भी ब्रह्मात्मैक्य साक्षात्कार प्राप्त किये बिना भी मरने पर इन्द्रादि लोकों के भोगों का भागी होकर मुदितमना होकर सुचिर काल तक मोदमान रहता है। तत्तल्लोकाधिपति भी उसके उपकारक ही होते हैं।

"विषयेषु सार्वभौमः सर्वजनैः पूज्यते यथा राजा।
भुवनेषु सर्वदेवै र्योगभ्रष्टस्तथा पूज्यः" ॥८५॥

जैसे सार्वभौम राजा अपने देशों में सभी जनों द्वारा पूज्य होता है, वैसे ही सभी भुवनों में सभी देवों द्वारा योगभ्रष्ट पूज्य होता है।

"महता कालेन महान् मानुष्यं प्राप्य योगमभ्यस्य।
प्राप्नोति दिव्यममृतं यत्तत्परमं पदं विष्णोः" ॥८६॥

महान् काल के अनन्तर दिव्य संस्कारों से सम्पन्न महापुरुष दुर्लभ मनुष्य जन्म प्राप्त करके, द्विपरार्ध पर्यन्त काल तक ब्रह्मलोक पर्यन्त महान् ब्रह्मोपासना का अभ्यास करके, दिव्य सूर्यमण्डल मध्यस्थ स्वप्रकाश चिद्रूप अमृत अति नश्वर विष्णु के परमपद को प्राप्त हो जाता है। श्रुति कहती है 'येन तेजसेद्धः सूर्यस्तपति' जिस तेज से दीप्त होकर सूर्य तपता है।

"यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम्।
यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम्" ॥—(गी०)

आदित्यान्तर्गत जिस तेज से जगत् प्रकाशित होता है वह एवं चन्द्रमा तथा अग्नि में जो तेज है वह भगवान् का तेज है। वह तेज नित्योदित अनस्तमित रूप है। अमृतवत् आस्वाद्य एवं कार्यप्रवाह सहित प्रकृति का अधिष्ठान है, यही सब निषेधों की अवधि है। वही व्यापनशील, सर्वेश्वर, परम पुरुष पद "पद्यते गम्यते ज्ञायते च मुमुक्षुभिरिति पदम्" अर्थात् स्वरूप है। ज्ञानी उसी को अपना स्वरूप समझता है।

योगाभ्यास करनेवाला योगी योगभ्रष्ट होकर छिन्नाभ्र के तुल्य नष्ट तो नहीं हो जाता है? अर्जुन के इस प्रश्न का उत्तर देते हुए भगवान् ने कहा कि हे

पार्थ ! उपासनापरायण का कभी भी विनाश नहीं होता किन्तु वह बहुत काल तक ब्रह्मलोक आदि दिव्य स्थानों में दिव्य फलों का उपभोग करके पवित्र श्रीमानों के यहाँ जन्म लेता है। अथवा ब्रह्मविद्वरिष्ठ वशिष्ठादि जैसे योगियों के यहाँ उसका जन्म होता है। फिर उसी पूर्वाभ्यास के अनुसार वह फिर उसी उपासना में लगकर तत्व साक्षात्कार करके कैवल्य को प्राप्त कर लेता है। 'जिज्ञासुरपि योगस्य शब्द ब्रह्मातिवर्तते ।'

"वेदान्त शास्त्रमखिलं विलोक्य शेषस्तु जगदाधारः।
आर्या पञ्चासीत्या बबन्ध परमार्थसारमिदम्" ॥८७॥

जगत् के आधारभूत भगवान् अनन्त ने अखिल वेदान्तशास्त्र का आलोडन करके पचासी आर्या छन्द के रूप में इस 'परमार्थसार ग्रन्थ' का निर्माण किया है।

आत्मा, परमात्मा एवं जगत् का वास्तविक रूप क्या है? आत्मा, परमात्मा का ऐक्य है या अनैक्य? जगत् का परमेश सत्ता से पृथक् अस्तित्व है या नहीं? आत्मा असङ्ग, अनन्त एवं अकर्ता, अभोक्ता, एकरस है या कर्ता, भोक्ता आदि है? अहमर्थ सोपाधिक आत्मा है या निरुपाधिक शुद्ध आत्मा है, इत्यादि बातें श्रुति, स्मृति, तर्क एवं भगवान् शेष द्वारा बताये हुए परमार्थसार का विचार करने पर अनायास स्पष्ट हो जाती हैं।

———

॥ श्रीहरिः ॥

'आज का महान कर्त्तव्य'

यतिचक्रचूड़ामणि श्री श्री १००८ स्वामी
श्रीपरमानन्दजी सरस्वती

अध्यक्ष—अखिल भारतीय धर्मसंघ

[१३ जनवरी, १९६२ को कलकत्ता में आयोजित वङ्ग प्रान्तीय धर्मसङ्घ के विशेषाधिवेशन का उद्घाटन करते हुए दिया गया भाषण]

सहज स्वाभाविक ही सर्वभूतहित की भावना से ओतप्रोत, कर्त्तव्यनिष्ठ, शास्त्रमर्मज्ञ सत्पुरुषों से वेदादिसच्छास्त्रों के अध्ययन एवं सम्यक् अभ्यास से जिन्होंने अपनी बुद्धि निर्मल की है, तप एवं सदाचारपालन द्वारा अन्तःकरण पवित्र किया है तथा भगवद्भक्ति की प्रवणता से जिनका मोह निवृत हुआ है, वे महाभागपुरुष निर्भ्रान्त रूप से यह सुस्पष्ट अनुभव करते हैं कि व्यक्ति और समाज के सुस्थिर अभ्युदय और कल्याण का एकमात्र निश्चित साधन है—धर्म का आचरण।

२. धर्म के स्वरूप और साधन का यथार्थ बोध कराने वाले निरपेक्ष प्रमाणभूत अनादि-अपौरुषेय, भगवान के निःश्वासभूत मन्त्रब्राह्मणात्मक वेद तथा वेदमूलक ऋषिप्रणीत अन्यान्य शास्त्र हैं। जैसे लोक में रूप, रस, आदि विषयों की बोधोत्पत्ति में प्रमाणभूत निर्दोष चक्षु, रसना इत्यादि से उपलब्ध ज्ञान के आधार पर तद्विषयक, व्यवहार सार्थक होते हैं, वैसे ही धर्म में परमप्रमाणभूत वेदादि शास्त्रों के द्वारा शास्त्रमर्मज्ञजनों से धर्म के स्वरूप का सम्यक्, परिज्ञान कर शास्त्रविधिपूर्वक धर्माचरण करने से पुरुषार्थ की सिद्धि होती है।

है। धर्मसङ्घ, इसी महान सेवाकार्य को लेकर, समाज के सम्मुख उपस्थित हुआ है। इसकी सिद्धि, उद्देश्य की पवित्रता बताने या उसकी घोषणा मात्र करने से नहीं हो सकती। जब तक कि एक सुदृढ़ सङ्गठन तैयार करके शिक्षा और संस्कार सम्पादन करने के आधुनिकतम सफल साधनों को एकत्रित कर, पूर्ण प्रयत्न नहीं किये जाते, तब तक यह मनोराज्य मात्र हो रह जायगा। हम तो यह स्पष्ट कहते हैं कि यह ईश्वरीय कार्य है और भगवान को इससे अधिक प्रिय कुछ नहीं है। यदि ऐसा न होता, तो अपने दिव्य साकेत धाम या गोलोकधाम को छोड़कर भगवान भूलोक में अवतरित न होते। गीता में श्रीभगवान ने सुस्पष्ट शब्दों में घोषणा की है—धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे। वानर और भालुओं ने अपने अधम शरीर से भगवान के इस प्रिय कार्य में सहायक बन कर, उनकी प्रीति सम्पादन और इसी से अपनी सद्गति प्राप्त कर ली। इसलिए, निःसन्देह रूप से जो भी व्यक्ति इस कार्य में अपने तन-मन-धन की शक्ति लगाता है, वह, अनायास ही भगवान की प्रीति का पात्र बनता है।

९. हम इस ओर भी सबका ध्यान आकृष्ट करना आवश्यक समझते हैं कि आज जब सब ओर धार्मिक मर्यादाओं और शिष्टानुमोदित सदाचारों को ध्वस्त करने के लिए नास्तिक और घोर भौतिकवादीजनों के, सब ओर से भीषण प्रहार हो रहे हैं, लोक में अधर्म और उच्छृङ्खलता बढ़ने के कारण समाज विशृङ्खलित होता चला जा रहा है, पापों की वृद्धि से दैवी प्रकोप भी भीषण होते जा रहे हैं, कलह और सङ्घर्ष की मनोभूमिकाएं उग्रतर होती चली जा रही हैं, तब लोककल्याण के लिये धर्मसंस्थापन के इस पवित्र कार्य को, जिसे धर्मसङ्घ ने अपनाया है, सर्वाधिक आवश्यकता है और प्रत्येक व्यक्ति का, जो कुछ भी लोकहित की भावना रखता है, यह परम कर्त्तव्य है कि अपना सब प्रकार का सहयोग प्रदान कर, धर्मसङ्घ के सङ्घटन को सुदृढ़ बनायें और इसके पवित्र उद्देश्य की पूर्ति में अपना योगदान करें।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।

"प्रेस कन्सर्न" ४८, बी० के० पाल एवेन्यु, कलकत्ता-५ फोन : ५५-८६३९